संवाद

क्या पता कामरेड मोहन : कला और वैचारिकी का सहमेल

शमूलियत

राजेन्द्र यादव, कुँवरपाल सिंह, चित्रा मुद्‌गल, कमला प्रसाद, रमेश उपाध्याय, सन्तोष चौबे, सुरेश पंडित, मनोहर वर्मा, श्याम बहादुर नम्र, नमिता सिंह, अजातशत्रु, ज्ञान चतुर्वेदी, विनोद तिवारी, महेश कटारे, रमेश दवे, रोहिणी अग्रवाल, भालचन्द्र जोशी, प्रह्लाद अग्रवाल, मुकेश वर्मा, रघु ठाकुर, बलराम गुमास्ता, महेन्द्र गगन, राजेन्द्र शर्मा, राजकुमार गौतम, साधना अग्रवाल, नीलकंठ, रेखा कस्तवार, शैलेन्द्र शैली, परदेशीराम वर्मा, मूलचन्द गौतम, रवीन्द्रनाथ शुक्ल, संजय मेहता, देवकान्त शुक्ल, कृष्णमोहन, राजेश कुमार, राकेश मिश्र, राहुल सिंह, संजय सिंह, विनय उपाध्याय व अरुणेश शुक्ल

संवाद

क्या पता कामरेड मोहन

कला और वैचारिकी का सहमेल

सम्पादक

अरुणेश शुक्ल

आईसेक्ट पब्लिकेशन

ISBN : 978-93-86752-08-6

संवाद

क्या पता कामरेड मोहन : कला और वैचारिकी का सहमेल

सम्पादन : अरुणेश शुक्ल

मूल्य : 300
प्रथम संस्करण : 2019
© **प्रकाशनाधीन**

आवरण : आईसेक्ट पब्लिकेशन कला प्रभाग

प्रकाशक : आईसेक्ट पब्लिकेशन
25 ए, प्रेस कॉम्प्लेक्स
एम.पी. नगर, जोन-1, भोपाल-462011
फोन : 0755-4923952

मुद्रक : पहले-पहल प्रिंटरी

Samvad : Kya Pata Comred Mohan
Edited by Arunesh Shukla

इस पुस्तक का सर्वाधिकार सुरक्षित है। प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना इसके किसी भी अंश को, फोटोकॉपी एवं रिकार्डिंग सहित इलेक्ट्रॉनिक अथवा मशीनी, किसी भी माध्यम से, अथवा ज्ञान के संग्रहण एवं पुन:प्रयोग की प्रणाली द्वारा, किसी भी रूप में, पुनरुत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता।

क्रम

भूमिका : हिन्दी उपन्यास की नयी परम्परा 07

आलेख

राजेन्द्र यादव : कामरेड मोहन के बहाने व्यक्तिवाद पर कुछ सोच 19
कुँवरपाल सिंह : वामपन्थ की राजनीतिक कार्य-पद्धति पर सार्थक बहस 29
रमेश दवे : आत्म-अर्जित अनुभवों का उपन्यास 35
श्याम बहादुर 'नम्र' : बहुआयामी यथार्थ का दर्शन 41
सुरेश पंडित : जनान्दोलन और वाम राजनीति 47
संतोष चौबे : नयी सदी में उपन्यास 51
अरुणेश शुक्ल : क्या पता कामरेड मोहन– विमर्शों का उपन्यास 59

संवाद

कला और विचारधारा 69
चित्रा मुद्‌गल, महेश कटारे, विनोद तिवारी, मुकेश वर्मा, ज्ञान चतुर्वेदी, रोहिणी अग्रवाल, राहुल सिहं, राकेश मिश्र, विनय उपाध्याय एवं अरुणेश शुक्ल

कला और वैचारिकी के सहमेल का उपन्यास 105
राजेन्द्र यादव, कुँवरपाल सिंह, नमिता सिंह, सुरेश पंडित, मनोहर वर्मा, कमला प्रसाद, प्रह्लाद अग्रवाल, राजेन्द्र शर्मा, संतोष चौबे, साधना अग्रवाल, संजय मेहता एवं अरुणेश शुक्ल

परख

राजेन्द्र शर्मा : सच की तलाश करता उपन्यास 166
प्रह्लाद अग्रवाल : व्यक्ति और समष्टि के तिर्यक सम्बन्ध की विडम्बनाएँ 168
नीलकंठ : वैचारिक आन्दोलनों से उपजा मोहभंग 171
साधना अग्रवाल : कामरेड के मोहभंग की कथा 173
संजय सिंह : उपन्यास की नयी जमीन 175

रपट

महेन्द्र गगन, संजय सिंह राठौर व अन्य 178

खतूत

रमेश उपाध्याय, रघु ठाकुर, कृष्णमोहन, भालचन्द्र जोशी, राजकुमार गौतम, परदेशीराम वर्मा, मूलचन्द गौतम, देवकान्त शुक्ल, रवीन्द्रनाथ शुक्ल व अजातशत्रु

भूमिका

हिन्दी उपन्यास की नयी परम्परा

नब्बे के दशक में सोवियत संघ के विघटन के बाद सबसे अधिक बेचैनी शायद विचारों के क्षेत्र में ही देखी गयी। सोवियत संघ का मॉडल चाहे जिन कारणों से टूटा हो, बुद्धिजीवियों, खासकर भारत के बुद्धिजीवियों में सबसे बड़ा कारण विचारधारा में कमी को माना गया। 'फेल्योर ऑव ग्रेट टेक्स्ट' की अवधारणा हालाँकि पुरानी थी लेकिन सोवियत संघ के पतन के बाद जैसे उसने नयी चमक-दमक के साथ लोगों के मस्तिष्क में जगह बनायी। 'ग्रेट टेक्स्ट' के असफलता के कारणों के पड़ताल का प्रयास हिन्दी साहित्य में भी हुआ। स्वयं प्रकाश का 'बीच में विनय', संजय का 'कॉमरेड का कोट' और संतोष चौबे के 'राग केदार' का प्रकाशन वर्ष लगभग एक ही है। इन तीनों रचनाओं में जो सबसे कॉमन बात है, वह यह कि इसमें मार्क्सवाद किसी स्वप्न अथवा यूटोपिया के बतौर न आकर एक अंतर्विरोधपूर्ण विचारधारा के रूप में सामने आता है। यह अलग बात है कि इन तीनों रचनाओं के अंतर्विरोध के आधार और सूत्र अलग-अलग हैं। 'बीच में विनय' जहाँ मार्क्सवाद की वैचारिकी और ऐक्टिविज्म के द्वंद्व को सामने लाता है वहीं 'कॉमरेड का कोट' संसदीय राजनीति और सशस्त्र क्रांति के द्वंद्व को सामने लाता है। और इन दोनों से अलग संतोष चौबे अपने उपन्यासों में 'ग्रेट टेक्स्ट' की असफलता के कारणों की बहुस्तरीय पड़ताल जिसमें कि सिद्धांत और एक्टीविज्म का द्वंद्व, पार्टी के भीतर की गुटबाजी विचारों के प्रसार की आवश्यकता आदि है, के साथ-साथ विज्ञान की जनपक्षधरता की आवश्यकता को भी चित्रित करते हैं, इन सबकी व्यापक विवेचना करते हैं साथ ही उनके उपन्यासों में एक अच्छे मार्क्सवादी और बुरे मार्क्सवादी का द्वंद्व लगातार चलता है। हम यह भी कह सकते हैं कि इन कारणों के पड़ताल की शुरुआती कोशिश में 'राग केदार' में जहाँ एक हिचक है, वही कोशिश 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में ज़्यादा तार्किक व विचारधारात्मक स्तर पर आती है।

'राग केदार' से शुरू हुई संतोष चौबे की औपन्यासिक रचना यात्रा 'क्या पता कॉमरेड मोहन' तक आते-आते मार्क्सवाद में व्यक्ति व समूह के द्वंद्व से ऊपर उठकर मार्क्सवाद के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में नवीनीकरण की आवश्यकता को सामने लाती है। राजेश जोशी ने 'राग केदार' के बारे में लिखा है कि यह, ''एक मृत्यु के कारणों

की खोज करती दृष्टि है। खोजी पत्रकारिता या सनसनीखेज कथाओं की तरह तात्कालिक कारणों की खोज करती नहीं बल्कि, केदार के व्यक्तित्व के अन्तर्विरोधों और उसके परिवेश की विसंगतियों को उधेड़ने का जोखिम भरा काम करती है। शायद इसीलिए यह उपन्यास हमारे समय के ज्यादा बड़े व अर्थवान प्रश्नों को उठाता है। यह मात्र एक व्यक्ति की हत्या या मृत्यु तक सीमित नहीं, व्यापक समाज में मूल्यों के बिखराव और संघर्ष के तरीकों पर बुनियादी प्रश्न खड़े करता है। व्यक्तिवादी रोमानी जुझारूपन की सार्थकता और सीमा दोनों यहाँ उजागर होती हैं। कह सकते हैं कि यह कथा एक आदर्शवादी लेकिन रोमानी व्यक्तिवादी जुझारू नायक की मृत्यु का शोकगीत भी है और इसके बरक्स न्याय के पक्ष में एक संगठित सामूहिक कार्यवाही का नया सबक भी।'' वस्तुतः यह तो ठीक है कि न्याय के पक्ष में सामूहिक कार्यवाही का नया सबक 'राग केदार' देता है, किन्तु इसके नायक को रोमानी व्यक्तिवादी नायक कहना उचित नहीं होगा। दरअसल केदार शुरुआत से ही संगठित प्रतिरोध पर बल देता है। यह उसके तमाम क्रिया-कलापों से झलकता है। होली दहन के अवसर पर गुण्डों का सामना वह अकेला ही नहीं करता उसके साथ मुहल्ले के लड़के भी होते हैं। इतना ही नहीं जब वह 'तीसरी ताकत' नामक पर्चा निकालना शुरू करता है, तब भी एक समूचे तंत्र के विरुद्ध उसका यह संघर्ष अकेले का नहीं होता। कार्तिक समेत उसके तमाम दोस्त साथ होते हैं। और यह संख्या लगातार बढ़ती जाती है। 'तीसरी ताकत' का पाठक वर्ग भी लगातार बढ़ता जाता है। यह शक्ति कितना प्रभावशाली बनती है, इसका परिणाम हमें श्यामा का बलात्कार करने वाले चार गुण्डे छात्रों के कॉलेज से निष्कासन के रूप में दिखाई देता है। यह निष्कासन छात्रों के लगातार प्रशासन पर बनाये जाने वाले दबाव का ही परिणाम था। दरअसल राजेश जिसको रोमानी जुझारूपन कहते हैं, वह वस्तुतः केदार का नैतिक आत्मबल या नैतिक ताकत है जो कि उसे प्रतिरोध के लिए लगातार प्रेरित करती है। उसका चरित्र ऐसा नहीं है कि वह किसी कल्पित क्रांति की कल्पना में हाथ पर हाथ धरे बैठा रहता। वह जहाँ होता है पहला कदम अन्याय के विरुद्ध वहीं से उठाता है और साथ ही साथ लोगों को लगातार प्रतिरोध के लिए प्रेरित भी करता रहता है। दरअसल राजेश की टिप्पणी संभवतः संतोष के यहाँ 'व्यक्ति' को ठीक से न समझ पाने के चलते है।

यह दिक्कत 'क्या पता कामरेड मोहन' पर लिखते हुए राजेन्द्र यादव के साथ भी पेश आती है। राजेन्द्र यादव संतोष चौबे के उपन्यासों में आये 'व्यक्ति' को उसके समूचे द्वंद्व को 'सेल्फ' के माध्यम से समझना चाहते हैं। राजेश जोशी और राजेन्द्र यादव, दोनों ही संतोष चौबे के उपन्यासों के नायकों को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते। दरअसल संतोष चौबे के उपन्यासों के नायकों को ठीक-ठीक समझने, उनके संघर्षों व द्वंद्वों को ठीक-ठीक व्याख्यायित करने के लिए हमें संतोष चौबे के मार्क्सवाद, उनके यहाँ आये सेल्फ व 'आइडेंटिटी' जैसी चीजों को मुकम्मल स्वरूप में समझना होगा,

तभी हम उनके उपन्यासों में नायक तथा स्वयं संतोष की वैचारिकी को ठीक-ठीक व्याख्यायित व विश्लेषित कर पाएँगे।

संतोष के दोनों उपन्यासों में मार्क्सवाद एक उत्तरआधुनिक सिद्धांत के रूप में प्रयुक्त है। अर्थात् संतोष मार्क्सवाद को उत्तरआधुनिक सामाजिक संदर्भों व परिवेश के अनुकूल बनाने की बात करते हैं, जबकि मार्क्सवाद वस्तुतः एक आधुनिक अर्थात् माडर्न सिद्धांत है। सिर्फ मार्क्सवाद की नहीं, 'सेल्फ व आइडेंटिटी' को भी संतोष उत्तर आधुनिक संदर्भों में ही प्रयुक्त करते हैं। जबकि 'सेल्फ' पूरी तरह से एक मनोवैज्ञानिक टर्म है जो कि आधुनिकता में आता है और आइडेंटिटी भी माडर्न टर्मिनोलॉजी है। आधुनिकता ने 'नेशन एंड स्टेट' पूरब एवं पश्चिम जैसी बड़ी अस्मिताएँ खड़ी की, जिसमें कि तमाम छोटी-छोटी अस्मिताओं को या तो जगह नहीं मिली या एक बड़े उद्देश्य हेतु उन्हें या तो मैनेज किया गया या उन पर ध्यान नहीं दिया गया। आधुनिकता द्वारा निर्मित इन बड़ी अस्मिताओं में तमाम सारे द्वंद्व रहे। इनकी निर्मिति के दौरान (खासकर नेशन की निर्मिति में) कल्पित और यथार्थ अर्थात् 'इमेजिनरी एंड रियल' की बहस खुलकर सामने आयी। इसको हम बतौर एक नेशन भारत के बनने की प्रक्रिया के माध्यम से ठीक से समझ सकते हैं। बेनेडिक्ट एंडरसन ने नेशन को इमेजिनरी कम्युनिटी कहा है। पश्चिमी राष्ट्रों की नेशन सम्बन्धी अवधारणा उनकी अपनी वास्तविक स्थिति अर्थात् सामाजिक, वैज्ञानिक विकास के हिसाब से कल्पित थी। अतः उनकी परिभाषा में अव्यवस्थित, पिछड़ी कम्युनिटीज़ के लिए जगह नहीं थी। वे उन्हें असभ्य कहते थे और उनकी इस स्थिति को राष्ट्र निर्माण में बाधक मानते थे। भारतीय परिप्रेक्ष्य में वे इन्हीं को नट, सपेरे कहते हुए इन्हें गुलाम बनने के लिए अभिशप्त मानते हुए इन्हें सभ्यता का पाठ पढ़ाने का दंभ भरते थे। अर्थात् नेशन रूपी कल्पित धारणा में भारतीय या कि उस समय के समूची तीसरी दुनिया के देशों की वास्तविक अस्मिताओं का कोई स्थान नहीं था। हमारे नवजागरण के मनीषियों को भारत को नेशन के रूप में व्याख्यायित निर्मित करने में अनचाहे ही इन वास्तविक अस्मिताओं को 'नेशन' की पारिभाषिकी के अनुरूप रिलोकेट करना पड़ा अथवा मैनेज करना पड़ा। स्त्री, दलित प्रश्नों को स्वाधीनता आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में प्रायः पीछे रखा गया। अगर ऐसा न किया जाता तो भारत 'नेशन' की पश्चिमी अवधारणा व परिभाषा पर खरा ही नहीं उतरता और जिसको साबित करना उस समय की भारतीय मनीषा के सम्मुख प्रमुख चुनौती थी। इसको व्हाइट मेन बर्डन भी कहा गया।

मार्क्सवाद भी आधुनिकता द्वारा निर्मित बड़ी अस्मिता है। इसमें भी वर्गीय संदर्भों की बात है जो कि पश्चिमी जगत की हकीकत है। इसको भारत में वैसे ही लागू करने की कोशिश की गई। इसकी असफलता का भारत में एक बड़ा कारण यहाँ की (वास्तविकता) हेतु इसमें स्थान का अभाव था। मसलन जाति, स्त्री, आदिवासी आदि के लिए ठीक स्थान का न होना जो कि भारतीय रियलिटी है। उत्तरआधुनिकता

के आने के साथ वे मेटानरेरिव्ज़ या 'ग्रेट टेक्स्ट' टूटे जिनमें कि इन वास्तविकताओं के लिए स्थान नहीं था और इस टूटन से वह वास्तविकताएँ पुनः केन्द्र की तरफ लौटीं। सबाल्टर्न डिस्कोर्स, दलित विमर्श, स्त्री तथा आदिवासी आदि तमाम विमर्श इसके उदाहरण हैं। संतोष चौबे के उपन्यासों में इन तमाम विमर्शों से मार्क्सवाद को जोड़ने व इनसे गुजरकर उसके पुनः 'ग्रेट टेक्स्ट' बनने की ज़रूरत पर बल है। 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में कार्तिक पार्टी को दलितों, स्त्रियों, आदिवासियों से जोड़ने का काम करता है। वस्तुतः संतोष के यहाँ 'सेल्फ' की अवधारणा अस्तित्ववादी टर्मिनोलॉजी में नहीं आयी है जिसके माध्यम से राजेन्द्र यादव इसे समझना चाहते हैं, अपितु इन उपन्यासों का 'सेल्फ' अपनी तलाश 'आईडेंटिटी' के बीच से करता है। दरअसल 'आइडेंटिटी' सामूहिक चेतना है। मसलन 'बिहारी' आइडेंटिटी है तो यह मात्र सेल्फ नहीं, अपितु पूरे सामूहिक चेतना व परिवेश से निर्मित हुई है। जबकि अस्तित्ववादी धारणा जो कि 'अदर इज हेल' मानती है उसमें आइडेंटिटी भी 'सेल्फ' के लिए 'अदर' हो जाती है, अस्तित्ववादी धारणा में 'सेल्फ' परिभाषित नहीं होता। जैसे शेखर का 'सेल्फ', आइडेंटिटी की तलाश में है। चीड़ के पेड़ों के बीच से गुजरता हुआ, घास पर लोटता हुआ, मौसेरी बहन से प्रेम करता हुआ, पिता-माँ को खास अवस्था में देखता हुआ, कुछ-कुछ क्रान्तिकारी काम करता हुआ भी शेखर अन्त तक यह नहीं जान पाता कि 'वह क्या है?' संतोष के यहाँ के सेल्फ का डिस्कोर्स शेखर के सेल्फ का डिस्कोर्स नहीं है। संतोष के यहाँ सेल्फ परिभाषित है। वह मार्क्सवादी है और उसी के भीतर ही वह अपने अस्तित्व की तलाश करता है। शेखर के उलट कार्तिक 'ग्रेट भोपाल टूर' के माध्यम से इतिहास को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समझता है, वर्तमान की निर्मिति में उसके योगदान की पड़ताल करता है, पहचान करता है। संतोष के उपन्यासों की सबसे बड़ी खासियत उनका वैमर्शिक होना है। विमर्श उनके उपन्यासों में कदम-कदम पर आते हैं। मसलन 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में जब कार्तिक राजा भोज के समय की बाँध व्यवस्था व वर्तमान बाँध व्यवस्था को आपस में जोड़कर देखता है, तब वह सिर्फ इतिहास को ही नये नज़रिये से या वर्तमान की निर्मिति में भूत के योगदान को ही नहीं देख रहा होता है, अपितु पश्चिम की उस धारणा का माकूल जवाब भी दे रहा होता है जो कि पारम्परिक भारतीय ज्ञान-विज्ञान को मान्यता ही नहीं देती। कहीं न कहीं से कार्तिक यह भी बता रहा होता है कि वर्तमान विध्वंसक, हिंसक व शोषणपरक विकास के बजारवादी मॉडल के इतर हमारे पास अपना पारम्परिक वैज्ञानिक विकास का मॉडल व ज्ञान की परम्परा है, जो कि प्रकृति सापेक्ष व ज्यादा सहकार की भावना से युक्त है। वह मॉडल व्यक्ति में अजनबीपन व अलगाव पैदा नहीं करता जैसा कि वर्तमान विकास का मॉडल व व्यवस्था करती है, अपितु वह एक-दूसरे को आपस में जोड़ता है। ज़रूरत है उस ज्ञान-विज्ञान को आधुनिक संदर्भों में नवीनीकृत व विकसित करने की, उस तक पहुँचने की अर्थात् सच्चे अर्थों में लोक से जुड़ने की। फादर विलियम द्वारा मरे

हुए जानवरों की खाल निकालने वालों को नये औजार मुहैय्या कराकर उनके बीच उन्हीं के स्वामित्व में एक चमड़े की छोटी फैक्टरी स्थापित करने वाली बात इसे और स्पष्ट करती है। 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में विज्ञान आंदोलन का उद्देश्य भी यही है, ''अब विज्ञान आंदोलन का जो अर्थ हम समझते हैं उसके कुछ मूल सिद्धांत इस प्रकार हैं- एक, किसी भी देश में विज्ञान और वैज्ञानिक प्रगति को वहाँ के समाज और सामाजिक परिस्थितियों से काटकर नहीं देखा जा सकता। दो, हमें विज्ञान के एकांगी स्वरूप को नहीं, उसके समग्र स्वरूप को देखना होगा। हमारा विज्ञान, विज्ञान में संवेदनशीलता की और संवेदनशीलता में वैज्ञानिक दृष्टि की जरूरत पर बल देता है। इसलिए हम स्वास्थ्य को गरीबी से, पर्यावरण को जनसंख्या वृद्धि से और साक्षरता को सामाजिक उपयोगिता से काटकर नहीं देख सकते। तीन, विज्ञान-आंदोलन का यह मानना है कि वर्तमान में उपलब्ध ज्ञान-विज्ञान विश्व की सामूहिक धरोहर है और उसके विकास में इतिहास के अलग-अलग दौर में सभी राष्ट्रों का योगदान रहा है। इसलिए यह कहना गलत होगा कि पूर्व मूलतः आध्यात्मिकतावादी रहस्यवादी है और पश्चिम मूलतः भौतिकतावादी विज्ञानवादी। अंततः विज्ञान-आन्दोलन यह मानता है कि ज्ञान-विज्ञान के विकास में मनुष्य की मुक्ति की संभावनाएँ छुपी हुई हैं और इस अंतर्दृष्टि के साथ आदमी अपने आसपास को समझ सकता है, अपने इतिहास को समझ सकता है और अपने वर्तमान को बदल सकता है।'' वास्तव में प्रत्येक समाज अपनी परिस्थितियों, ज़रूरतों व मूल्यों के हिसाब से ज्ञान-विज्ञान का विकास करता है। विज्ञान को ज़रूरत समग्रता में ही देखने की है। विज्ञान देखने की दृष्टि है, नियम है। वह हमको इतना ही बतायेगा कि धारदार वस्तु किसी चीज को काट देगी। अब हम उससे गला काटें या कुछ और यह बतौर मूल्य, संवेदनशीलता हमें तय करना होगा। उस नियम में हमें संवेदनशील अर्थ भरना होगा, अवधारणा बनानी होगी। गरीबी दूर करने, साक्षरता लाने, जनसंख्या नियंत्रण, पर्यावरण शुद्ध रखने आदि तमाम चीजों में ज्ञान विज्ञान का उपयोग करना होगा। अर्थात् न सिर्फ आम जन तक वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्नता लानी होगी वरन् विज्ञान व तकनीकी को पूँजीवादी, बाजारवादी, शोषण के शिकंजे से मुक्त कराकर उसे समाजोपयोगी व मूल्यानुप्राणित बनाना होगा। ज्ञान-विज्ञान समूचे मानवता की धरोहर है। चाम्सकी के यदि यूनीवर्सल ग्रामर होने की बात को मानें तो हमारे सोचने का तरीका भी एक सा होगा। विकास के ढाँचे में परिस्थितिनुकूल भिन्नता के बावजूद लक्ष्य एक होंगे। अब हमें लक्ष्य के रूप में समानता, बंधुत्व, अहिंसा जैसी चीजों को तय करना होगा। पश्चिम व पूर्व के कल्पित भेद को खत्म कर मानवीय विकास को समग्रता में सहस्थितिपरक ढंग से समझना होगा। इस नवीन दृष्टि के विकास की कोशिश संतोष अपने उपन्यासों में लगातार व केन्द्रीय चिंता के रूप में करते हैं।

संतोष की उपन्यास यात्रा एक प्रतिभाशाली छात्र के ट्रेड यूनियन या कि प्रगतिशील राजनीति से जुड़ने, उस राजनीति के सैद्धांतिकी व ऐक्टिविज्म के द्वंद्व

के बीच अपना कर्तव्य निर्धारण करने, प्रतिरोध के रचनात्मक तरीके अख्तियार करने, संगठन शक्ति का उपयोग करने से लेकर व्यवस्था द्वारा उसकी हत्या करा दिये जाने के रूप में 'राग केदार' से शुरू होती है। 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में कार्तिक जो कि 'राग केदार' में केदार का दोस्त रहता है, नायक बनता है और कहीं न कहीं केदार से प्रभावित, प्रेरित होकर ही वह प्रायः उसी लड़ाई को आगे बढ़ाता है जो कि केदार की हत्या से बाधित हुई थी। कुल मिलाकर संतोष के उपन्यासों में प्रतिरोध का नैरन्तर्य बना रहता है।

'राग केदार' का नायक केदार शुरू से ही कुछ अलग सोचने वाला होता है। उसके मित्र उससे ऊर्जा पाते हैं। उसका हर काम व उसको करने का तरीका एकदम अलग होता है। हालाँकि वह ट्रेड यूनियन आदि से बहुत बाद में जुड़ता है किन्तु छात्र जीवन में उसके द्वारा किये गये प्रतिरोध, उसकी संगठन शक्ति, उसके काम करने का ढंग, प्रतिरोध की रचनात्मकता आदि तमाम बातें इस तरफ इंगित करती हैं मानो वह प्रगतिशील दल की छात्र राजनीति कर रहा हो। पर्चे निकालना, हस्तलिखित भित्ति पत्रिका निकालना आदि चीजें मार्क्सवादी छात्र राजनीति का अंग है, उनके काम करने का तरीका भी। केदार प्रतिरोध हेतु ऐसे ही रचनात्मक तरीके अपनाता है। अम्बेडकर कहते थे कि जो गुलाम हैं, उन्हें गुलामी से मुक्त करने के लिए यह बता दो कि वे गुलाम हैं। केदार भी कुछ इसी तरह की बात करता है- 'क्यों कठिन है इतना। एक चिड़िया को समझाना। कि वह स्वतंत्र है। और उड़ सकती है। कि वह स्वयं जान जायेगी। उड़ने का महत्व पहचान जाएगी। उड़ान का सलीका। अगर वह थोड़ी सी मेहनत करे। हाँ मेहनत करे। आखिर क्यों कठिन है। चिड़िया को यह समझाना कि वह उड़ सकती है। और उड़ना ही उसके जीवन का अर्थ है।' केदार अपने जीवन के अर्थ तय करता है, मजदूरों के हकों की लड़ाई लड़ने के रूप में। पिता की मृत्यु के बाद परिस्थितियों के चलते कमज़ोर हुआ केदार अपनी हताशा, निराशा से बाहर निकलता है, वरन् अच्छी नौकरी भी पाता है। मजदूरों के पक्ष में खड़ा भी होता है। इस काम में उसे साहित्य से अपार ऊर्जा मिलती है। चेखव, शरतचंद्र, मुक्तिबोध सब उसको ताकत प्रदान करते हैं।

'राग केदार' और 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में सिर्फ पात्रों की ही निरन्तरता नहीं है, वरन् कथ्य की भी निरन्तरता है। केदार जहाँ 'राग केदार' में अपने साथी मजदूर की काम के दौरान हुई मौत के मुआवजे के लिए संघर्ष करता है और मारा जाता है। यहाँ भी संघर्ष मैनेजमेंट द्वारा उचित मुआवजा न दिये जाने के चलते है और बाकी उस संघर्ष का विकास। नुक्कड़ नाटक, पर्चे छापने जैसे प्रतिरोध के तरीके यहाँ थे 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में भी मूल लड़ाई 'भोपाल गैस त्रासदी' के पीड़ितों को मुआवजा दिलाने, न्याय चिकित्सा आदि दिलाने के उद्देश्य से ही शुरू होती है। 'राग केदार' में जहाँ एक कर्मचारी मज़दूर की मौत है और जिसकी मौत भी फैक्ट्री की सुरक्षा खामियों गड़बड़ियों के चलते होती है, वहीं 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में

हजारों लोगों की मौत है और यहाँ भी फैक्ट्री में सुरक्षा व्यवस्था व अन्य खामियाँ अधिक मात्रा में वैसी ही हैं। मुआवजा यहाँ भी नहीं मिलता। दोनों ही उपन्यासों में मैनेजमेंट व सरकार जानबूझकर इन चीज़ों से आँख मूँदे रहती है। हम कह सकते हैं कि मजदूरों की जो समस्याएँ 'राग केदार' में बीज रूप में थीं, वही समस्याएँ 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में 'भोपाल गैस त्रासदी' के वीभत्स रूप में हमारे सामने आती हैं। मैनेजमेंट व सरकारों का चरित्र नहीं बदलता, वरन् और शोषणपरक होता जाता है। पूँजी व स्टेट का गठजोड़ मजबूत होता जाता है।

केदार के संघर्ष को ही एक तरीके से कार्तिक आगे बढ़ाता है। वह भी प्रतिरोध व विचारों के जनप्रसार हेतु गोष्ठियों, काव्य गोष्ठियों, पर्चों, नुक्कड़ नाटकों आदि का सहारा लेता है। कार्तिक के संघर्ष के बहाने संतोष चौबे ने 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में मार्क्सवाद के मॉडिफिकेशन की आवश्यकता पर बल दिया है, मार्क्सवाद की आलोचना भी की है। लेकिन यह आलोचना 'आत्मालोचना' के रूप में है। दरअसल कार्तिक के माध्यम से केदार का प्रतिरोध तो आगे बढ़ता है, अपनी प्रतिभा व वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्नता के चलते वह पार्टी के प्रसार हेतु साक्षरता, विज्ञान-साहित्य आदि जैसे नवीन आधारों से जुड़ता है, पार्टी का खूब प्रसार भी करता है, किन्तु पार्टी का सांगठनिक ढाँचा 'राग केदार' में जैसा सोचता था वैसा ही, अपितु उससे भी जड़ तरीके से 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में सोचता है। दूसरे शब्दों में कहें तो भारतीय मार्क्सवाद आज भी वहीं खड़ा है जहाँ वह मार्क्स के समय में था। उसको टैरी इगल्टन, ग्राम्शी, मिलान कुंदेरा आदि को पढ़ने-समझने की जरूरत ही नहीं महसूस हुई। समानता की बात करने वाली पार्टी में सत्ता अथवा शक्ति का केन्द्रीकरण पार्टी के महत्वपूर्ण पदों में हो गया। चापलूसी इन्हें भी पसंद आने लगी। 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में संतोष चौबे इस स्थिति की आलोचना करते हैं। कार्तिक अपने रचनात्मक कार्यक्रमों के माध्यम से समाज में चेतना लाने तथा क्रांति के लिए स्थितियाँ निर्मित करने का प्रयास करता है। उसे इस काम में पर्याप्त सफलता भी मिलती है, पार्टी से लाखों युवा, आदिवासी, दलित स्त्रियाँ जुड़ती हैं। किंतु पार्टी उसके इन कामों को गुटबाजी बढ़ाने का प्रयास मानकर उसे कारण बताओ नोटिस जारी करती है। जबकि कार्तिक जिस चेतना को निर्मित करने का प्रयास कर रहा था, उसी चेतना को मार्क्स क्रांति के लिए अनिवार्य मानता था। उसी को मिलान कुंदेरा 'परिपक्वता' कहते हैं। व्यक्ति को यांत्रिक बना देने, रिश्ते नातों की गर्माहट खत्म कर देने, तीज-त्यौहार जो कि प्राण है भारतीय जीवन के उनका उत्साह नष्ट कर देने की पार्टी की पूरी, प्रक्रिया, धर्म को अफीम मानकर उसकी निंदा करने आदि जैसी बातों की आलोचना को 'क्या पता कॉमरेड मोहन' के माध्यम से संतोष चौबे ने प्रस्तुत किया है। और यह दिखाया है कि विचारधारा संवेदनशील बनकर जीवन के रस-राग से अनुप्राणित होकर ही सफल बन सकती है। विजय देवनारायण साही ने लिखा है, ''...एक दूसरे को समझने का आधार श्रद्धा या आदर नहीं हो सकता। यदि कोई आशा है तो वह

नीरक्षीर विवेक में है। समन्वय में नहीं, उस विवेक में जो नीर और क्षीर को पृथक करता है। इस दशा में बेलाग लपेट दो टूक बात कहना मेरे लिए व्यक्तिगत शौर्य का विलास नहीं है कि इतराऊँ और अपनी पीठ ठोंकूँ, बल्कि यह एक तीखा दर्द-भरा और नैतिक उत्तरदायित्व है कि जो प्रतिमान झूठे और सारहीन हो गये हैं, उन्हें खोलकर उनका थोथापन दिखाऊँ, नये प्रतिमानों का अन्वेषण करूँ, ताकि भविष्य का पथ प्रशस्त हो सके। यदि प्रिय सत्य कहना पिष्टपेषण व एकांगी हो जाय तो अप्रिय सत्य कहना धर्म हो जाता है।'' संतोष चौबे ने अपने उपन्यासों में मार्क्सवाद की आलोचना करते हुए अप्रिय सत्य कहने का साहस दिखलाया है व धर्म निभाया है। यह आलोचना निश्चित रूप से काफी पीड़ादायक होगी पर यह दायित्व भी है जो मुश्किल होता है। वैसे भी उस पीढ़ी पर यह दायित्व भी है, जो एक लम्बे समय से मार्क्सवादी राजनीतिक-साहित्यिक हलकों में काम कर रही है, कि वह एक इनसाइडर क्रिटिक की भूमिका मार्क्सवाद के सम्बन्ध में निबाहे। संतोष इस दायित्व को अपने उपन्यासों के माध्यम से पूर्ण करते हैं।

जैसा कि मैंने पूर्व में कहा है कि संतोष के यहाँ 'सेल्फ' आइडेंटिटी के बीच अपनी तलाश करता है। केदार हो या कार्तिक दोनों ही अपने 'सेल्फ' की पहचान के क्रम में मार्क्सवाद की आलोचना भी करते हैं और असहमति होने पर अपनी स्वतंत्र लाइन चुनते हैं। कार्तिक के त्यागपत्र देने या केदार द्वारा संगठन की राय से अलग कार्यवाही के प्रतिरोध को वस्तुतः विचारधारा से मोहभंग नहीं माना जाना चाहिए। मार्क्सवादी पार्टियाँ इतना स्पेस रखती हैं कि असहमति होने पर आप पार्टी के भीतर ही प्रतिरोध के लिए अलग लाइन चुन सकते हैं। सी.पी.आई.एम.एल. में चौहत्तर पार्टियाँ मानी जाती हैं जो कि इस बात का प्रमाण है कि आपको बहुत दिनों तक घुटने की जरूरत नहीं है। तरीका पसंद न आने पर आप अलग लाइन चुन लें। क्योंकि मार्क्सवादी पार्टियों की ट्रेनिंग ही ऐसी होती है। सृंजय की कहानी 'कॉमरेड का कोट' में कमलाकांत यही करता है। उसको भी अपने 'सेल्फ' की पहचान है। यहाँ तक कि रेणु जैसे समाजवादी लेखक के यहाँ भी 'मैला आँचल' का एक पात्र यही करता है। यहाँ पात्रों में हताशा नहीं होती। संतोष के पात्रों में भी यह नहीं है। उनके पात्रों को मशाल लिए हुए व्यक्ति संघर्ष का रास्ता दिखाता रहता है। वह मुक्तिबोध, सर्वहारा वर्ग या कि खुद का 'आत्म' भी हो सकता है।

संतोष ने अपने उपन्यासों में अच्छे और बुरे मार्क्सवादी होने के द्वंद्व तथा व्यक्ति व समूह या आत्म व अस्मिता के सम्बन्धों को ठीक से साधा है। संतोष के यहाँ 'सेल्फ' मार्क्सवादी आइडेंटिटी की सीमा में है, पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है जैसा कि शेखर का, तो इसलिए क्योंकि 'सेल्फ' यदि आज अच्छा सोच रहा है तो कल को बुरा भी सोच सकता है। इस खतरे का संभवतः पूरा ध्यान संतोष को अपने उपन्यासों में है, इसलिए विचारधारा उनसे नहीं टूटती।

संतोष चौबे के उपन्यासों को यदि टैरी इगल्टन के मानकों से देखने की कोशिश

करें कि, यथार्थ का स्रोत क्या है, उनका उत्पादन कहाँ से हो रहा है, सामाजिक मूल्य कहाँ से आ रहे हैं, सौन्दर्य का उत्पादन कहाँ से है तो हम पाते हैं कि यथार्थ का स्रोत हमारा समाज, पार्टी, विचारधारा, रोजमर्रा के अनुभव जो उन्हें संगठन व प्रशासन के भीतर से प्राप्त हुए वहाँ और मूल्यों का स्रोत दरअसल लोक व समाज है, साहित्य का संस्कार है, वैचारिक पक्षधरता है। इतना ही नहीं संतोष की रचना का सौन्दर्य, भाषा, शिल्प, आदि के इतर आत्मालोचन का सौंदर्य है। संतोष चौबे के उपन्यासों की भाषा काफी काव्यात्मक, प्रवहमान, सरल व वैचारिक है। उसकी निर्मिति यथार्थ के अनुभवों से हुई है। संरचना के स्तर पर अपने उपन्यासों में संतोष ने फ्लैशबैक, डायरी, रिपोर्ताज, कविता, पत्र, संस्मरण, बातचीत आदि तमाम शैलियों का उपयोग किया है। 'राग केदार' व 'क्या पता कामरेड मोहन' के शिल्प को सम्पूर्णता में देखने पर एक नया शिल्पतंत्र उभर कर हमारे सामने आता है जो कि अपनी सरलता के कारण ही उपन्यासों को नया सौन्दर्य देता है, उन्हें संप्रेषणीय बनाता है। संतोष ने अपने उपन्यासों में, 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में, सेक्स के लिए भी 'प्रेम' शब्द का ही प्रयोग किया है। संभवतः सेक्स उनके यहाँ प्रेम की स्वभाविक परिणति है, जो कि है भी। पर हिन्दी उपन्यास के लिए 'सेक्स' के लिए भी 'प्रेम' शब्द का प्रयोग नया है। वैसे एक बार फिर यह कहना ज़रूरी है कि संतोष के नायक व्यक्तिवादी नहीं हैं क्योंकि हमेशा वे मजदूरों या सर्वहारा के लिए लड़े हैं और रोमानी जुझारूपन उनका केदार से होता हुआ कार्तिक तक आते-आते रोमानी काठिन्ययुक्त जुझारूपन में तब्दील होकर एक उदाहरण बनता है।

संतोष को इस बात का श्रेय देना होगा कि उन्होंने हिन्दी उपन्यास को वैज्ञानिक विमर्शों से जोड़ा है। खासकर 'विज्ञान की जनपक्षधरता' व वैज्ञानिक दृष्टि के प्रसार का विमर्श। हिन्दी उपन्यास अब तक वैज्ञानिक प्रगति के पूँजीवादी मॉडल का क्रिटिक ही रचते थे। विज्ञान के कल्याणकारी स्वरूप व उस स्वरूप का समतामूलक समाज की स्थापना में उपयोग, प्रयोग कैसे किया जाये, हमारे दैनिंदन का अंग बन चुकी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ कैसे क्रान्ति में सहयोग कर सकती हैं, वैज्ञानिक दृष्टि का प्रसार कैसे लोगों को चेतना सम्पन्न बना कर क्रान्ति हेतु उपयुक्त स्थितियाँ तैयार कर प्रतिक्रान्ति से निपटने में मददगार हो सकता है, पर्यावरण सापेक्षता आदि जैसे तमाम नये विमर्श संतोष हिन्दी उपन्यासों में संभवतः समग्रता से लाने वाले प्रथम उपन्यासकार हैं। हिन्दी में उनकी चिंताएँ ज्यादा व्यापक व मार्क्सवाद को उत्तरआधुनिक संदर्भों में देखने वाले उपन्यासकार की हैं। एक ऐसे उपन्यासकार की यह चिंताएँ हैं जिसके यहाँ साहित्य का मस्तिष्क अर्थात् आलोचना, आलोचकीय सेंस लगातार सक्रिय रहता है। आज तक जिन चीजों से आलोचकीय लेखन व समाजशास्त्र दो-चार होता रहा है, संतोष उसको हिन्दी उपन्यासों, सर्जनात्मक लेखन में लाते हैं, अपने उपन्यासों के माध्यम से उससे सर टकराते हैं। संतोष के उपन्यासों में नवजागरण का आह्वान है। यह आज के समय का मार्क्सवादी संदर्भों का नवजागरण

है। दरअसल मार्क्सवाद ने तार्किकता पर तो बल दिया किन्तु समाज-सुधार को छोड़ दिया। संतोष इस समाज सुधार के पक्ष को फिर से उससे जोड़ते हैं। दलितों, आदिवासियों, स्त्रियों आदि तमाम प्रश्नों से जोड़कर। इस नवजागरण की सबसे खास बात यह है कि अपने प्रसार हेतु यह नाटक, काव्यगोष्ठियाँ जैसे संप्रेषण के वही तरीके चुनता है जैसा कि पूर्व के भारतीय नवजागरण ने चुना था किन्तु इसकी जड़ें पुनरुत्थानवाद से नहीं जुड़तीं। इसकी जड़ें वैज्ञानिक दृष्टि के प्रसार व विज्ञान के जनपक्षधरता तथा मार्क्सवाद के मॉडीफिकेशन से जुड़ती हैं। यहाँ भारतीय संस्कृति, हिन्दू धर्म को नहीं अपितु मार्क्सवाद को पुनर्व्याख्यायित किये जाने की ज़रूरत पर बल है। ऐसी पुनर्व्याख्या जिसमें कि 'रियल' व 'इमेजिनरी' का द्वंद्व न हो तथा साहित्य, संगीत, कविता, माँ, तीज-त्यौहार, प्रेम व जीवन का रस साथ-साथ प्रवाहित हो, जो व्यक्ति को यंत्र नहीं अपितु संवेदना या कि ज्ञानात्मक संवेदना से ओत-प्रोत करता हो। केदार व कार्तिक को निर्णय लाने की जो ताकत अपने उपन्यासों में संतोष ने प्रदान की है, अगर वही ताकत उन्होंने अपनी एक भी स्त्री चरित्र को दी होती तो उनकी चिंतना व सर्जना की बहुआयामिता में वृद्धि ही होती। बावजूद इसके अपने उपन्यासों के माध्यम से संतोष जिस तरह के विमर्श खड़े कर रहे हैं, जिन प्रश्नों से दो-चार हो रहे हैं, वह उनके लेखन को ऐसी कमियों के बावजूद बहुत बड़ा व विशिष्ट बनाता है। संतोष हिन्दी उपन्यास में एक नयी परम्परा को जन्म देते हैं। वैसे भी शेखर की क्रांतिकारिता जहाँ 'अपने-अपने अजनबी' की आध्यात्मिकता में पहुँचती है वहीं 'केदार' की क्रांतिकारिता 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में कार्तिक के माध्यम से ज़्यादा व्यापक व मजबूत होती है।

आज जिस तरह से राजनैतिक सामाजार्थिक परिस्थितियाँ बदली हैं उसमें क्या पता कॉमरेड मोहन जैसा उपन्यास और प्रासंगिक हो उठा है। क्योंकि जब प्रतिरोध लगातार सिमट रहा हो ऐसे में उसे बरकरार रखने के लिए मार्क्सवाद पर रचना के साथ उसके सम्बन्ध पर नये सिरे से सोचना जरूरी हो गया है। इसीलिए यह पुस्तक आपके लिए क्योंकि यह प्रतिरोध को बरकरार रखने की दिशा में एक सार्थक, रचनात्मक हस्तक्षेप होगा।

अरुणेश शुक्ल

आलेख

'कॉमरेड मोहन' के बहाने व्यक्तिवाद पर कुछ सोच

राजेन्द्र यादव

बहुत दिनों से मैं हिस्ट्री ऑव इंडिविजुऑलिटी जैसी किसी किताब की तलाश कर रहा हूँ। हो सकता है, दर्जनों हों, कैसे किसी समुदाय में कोई व्यक्ति उठता और क्रमशः व्यक्तित्व बनता चला जाता है। शायद बहुत कम ऐसा होता कि घर-परिवार या समाज की स्वीकृति से कोई सबसे अलग बनकर खड़ा हो पाया हो। जो विशेषताएँ व्यक्ति को औरों से अलग करती हैं, वे प्रारंभ में तो कौतूहल और सम्मान अर्जित करती हैं मगर जैसे-जैसे ये उसे और विशिष्ट बनाती जाती हैं, व्यक्ति बिरादरी-बाहर और अजूबा होता चला जाता है। शीघ्र ही खुद उसे लगता है कि वह अगर शेष लोगों के स्तर पर आएगा तो सामान्य और साधारण होकर रह जाएगा। जबकि वह सबसे ऊपर और महान होने के सपनों से लैस विशिष्ट प्रतिभा लेकर पैदा हुआ है। जब भी उसने कुछ ऐसा किया है जो पहले से स्वीकृत विश्वासों से अलग है, वह हास्य और उपहास का पात्र बना है, उसे पगलैट, सिरफिरा और स्वप्नजीवी होने के आरोप सुनने पड़े हैं। गैलिलियो, कोपरनिकस जैसों को तो पादरी लोगों के आक्रोश झेलने पड़े हैं- उन्हें सजा-ए-मौत तक सुनाई गईं, खुद अपने यहाँ आर्यभट्ट के साथ भी यही हुआ था।

सामान्य और विशिष्ट का यह द्वंद्व हमें रोज तरह-तरह के रूपों में दिखाई देता है। अपने 'रिबैल' नाम के प्रबंध में कामू ने अनेक क्षेत्रों के इन विद्रोही विशिष्ट व्यक्तियों का विस्तार से विवेचन किया है। वे समाज और व्यवस्था से लड़ते और हारते हुए ही महान हुए- उनके पास अपना एक विज़न होता है जिसे प्राप्त करने के लिए अनेक स्तरों पर, यहाँ तक कि स्वयं अपने से भी जूझना पड़ता है। कभी यह विज़न स्पष्ट होता है तो कभी शब्दहीन संवेदना की बेचैन आकांक्षा के रूप में इसे अपने भीतर पहचानने की कोशिश की जाती है। एक आग है जिसे न भीतर सँभाले बनता है न बाहर दिखाए- मगर वह है कि आसपास और अपने आपको निरंतर जलाए रखती है- कबीर सारी रात जागता और रोता है। वह उसे सही वाणी भी तो नहीं दे पाता। 'जीनियस एंड द ट्रैडीशन' में इलियट ने इसी विशिष्ट प्रतिभा को खोजा था तो रामचंद्र शुक्ल ने व्यक्ति वैचित्र्य कहकर इसे अस्वीकार कर दिया। कॉलिन

विलसन ने अपने 'आउट साइडर' में इस 'अजनबी' की सारी जन्म-पत्रियाँ खँगाल डालीं।

हर आदमी अपने आपमें विशिष्ट है, मगर असुविधाएं तब होती हैं जब वह एक विशिष्टता को वाणी या कर्म में व्यक्त करता है और प्रायः इतनी दूर निकल जाता है कि वापस लौटना मुश्किल हो। कहते हैं कि सामंती-समाज से लड़ते हुए ही व्यक्ति ने अपनी विशिष्टताएँ स्थापित की हैं- बे-पहचान और बे-चेहरा समूह के बीच अकेले खड़े होने का साहस दिखाया है, हाँ, पूरी कीमत चुकाकर। कभी वह समाज से भागा है तो कभी वहीं रहकर यातनाएँ सही हैं। जो स्थापित मूल्यों को आत्मसात करते हुए विशिष्ट बनें, उन्होंने अपने आप को पूज्य और महान् के रूप में प्रतिष्ठित किया। मगर जो उन मूल्यों को तोड़कर विचित्र बनें, उन्होंने ही समाज को बदला। वे भविष्यवादी थे और स्थापित जड़ता को तोड़कर स्थिति को गतिमान बनाते थे। मुहावरा है, 'गुड इज़ द एनिमी ऑफ ग्रेट'। राम 'गुड' होने के उदाहरण हैं तो कृष्ण ग्रेट होने के; क्योंकि कृष्ण हर स्थापित नैतिकता और मर्यादा को तोड़ते हैं। वे 'गत्वर' (डायनैमिक) स्वप्नद्रष्टा व्यक्तित्व हैं। राम स्थिर, गतिहीन अतीतवादी 'महापुरुष'।

कहा जाता है कि रैनेसाँ उन्हीं व्यक्तियों से बना है जो समाज को नया सोच और नया जीवन दे रहे थे- उनके मन में भविष्य को लेकर कुछ सपने थे और वे उन्हें पाना चाहते थे, भारतीय समाज में भी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं के पूर्वार्ध में उन्हीं डायनैमिक लोगों की पूरी 'गैलेक्सी' है। यह वही समय है जब हमारी जड़ सामंती सभ्यता आधुनिक आक्रामक सभ्यता के संपर्क में आई। हो सकता है स्वीकृति से पहले ये लोग अनफिट, अजनबी या जटिल मनोविज्ञान के चलते अपमानित-प्रताड़ित हुए हों। अपनी हताशा में उन्होंने 'यदि तेरी पुकार सुनकर कोई नहीं आ रहा तो अकेला ही चल' जैसे गीतों में अपनी व्यथा को बहलाया हो। मगर बौद्धिक जगत में उन्होंने ऐसी व्यापक बहसों की शुरुआत जरूर की, जो समाज को बदल रही थीं।

भारत में इन द्वंद्वों का अद्वितीय उपन्यास 'गोरा' और व्यक्ति विवेकानंद हैं। गोरा भारत के दर्शनों और आध्यात्मिक विमर्शों की ऊर्जा को अपने सुदर्शन आर्य-व्यक्तित्व और औपनिषिदिक ज्ञान के साकार प्रतीक की तरह सभी को चकित-चमत्कृत करता है। वह देश की दारुण वास्तविकताओं से ऊपर है, मगर इन्हीं वास्तविकताओं का सीधा साक्षात्कार उसकी सारी 'महानता' को चकनाचूर कर देता है। वह सुपीरियर रेस के ध्वंस का उपन्यास है। इसी विमर्श का सबसे बड़ा रूपक चंद्रकांता श्रृंखला के उपन्यास हैं जो सामंती भव्यता और महलों की जालसाज़ियों से शुरू होकर औद्योगिक युग तक की यात्रा करते हैं। वहाँ 'भूतनाथ' दोनों सभ्यताओं के बीच की कड़ी है। बाद में तो प्रेमचंद, जैनेन्द्र सीधे ही विमर्शवादी उपन्यासों से जूझते हैं। सामंती समाज के मूल्यों संस्कारों और नए समाज से मुठभेड़ में जो कुछ लिखा, सोचा गया वह उन्हें 'समस्यामूलक' उपन्यास का नाम देता है। 'चित्रलेखा'

स्थापित नैतिकताओं की अस्वीकृति का उपन्यास है, जिसकी अगली कड़ी 'दिव्या' है। मगर इन सबसे अलग है 'शेखर' - व्यक्ति और समाज, इतिहास और व्यक्ति के द्वंद्वों को शेखर जितने तलस्पर्शी और तत्त्वबेधी धरातल पर उठाता है, उतना शायद ही कोई दूसरा उपन्यास करता हो। वह आत्मिक और तात्विक सवालों से जूझता है। यह वह समय है जब इस व्यक्तित्व के साथ 'हीरो', 'जीनियस' या 'सुपरमैन' जैसे विशेषण जुड़ गए हैं- यह व्यक्ति अपने को ईश्वर से काटकर अपनी नियति और स्वतंत्रता को स्वयं अपने लिए तय करता है। नियति और स्वतंत्रता के इस द्वंद्व को पूरी दार्शनिकता के साथ उठाते हैं अस्तित्ववादी विचारक, जो संसार की अतार्किकताओं से गुज़रते हुए 'शून्य' तक पहुंचते हैं। 'एब्सर्ड' से चलकर 'नथिंग-नेस' तक की यह यात्रा 'चॉयस ऑफ फ्रीडम' की अवधारणा को 'फ्रीडम ऑफ चॉयस' तक ले जाती है। इसे ही कामू अंततः मैटाफिजिकल स्युइसाइड कहकर संन्यास और आत्महत्या के चुनाव तक पहुँचाता है, और परम शौर्य के रूप में गौरवान्वित करता है। आदमी न अपने जन्म को चुन सकता है, न परिवार और परिवेश को; मगर वह अपनी मृत्यु तो चुन ही सकता है- हताशा और व्यर्थता की यंत्रणा से नहीं, पूरे होशोहवास में सोच-समझकर, क्योंकि अपनी बनावट में वह इस दुनिया का व्यक्ति है ही नहीं-वह बाहरी, अजनबी और अजूबा है। वह संसार और समाज के सारे गुरुत्वाकर्षणों से मुक्त हो चुका है। इस श्रेणी में अगर अपनी शर्तों पर जीने वाले 'नदी के द्वीप' का भुवन है तो अपनी अद्वितीयता को लेकर संवेदनशील निर्मल वर्मा के नायक, जो अपने निजी एकान्त में अतीत और अंतर्जगत को कुछ गिने-चुने संबंधों के माध्यम से अपने लिए आविष्कृत करने और पहचानने की कोशिश करते हैं। जाहिर है स्त्री इस व्यक्ति के आत्मदर्शन में केटेलिटिक एजेंट या कसौटी की तरह उपस्थित और अनुपस्थित होती है। क्योंकि सबसे निकट और अनिवार्य संबंध उसी के साथ हैं। स्वतंत्रता को लेकर नायक का ऑब्सैशन उसे इतिहास, नियति, ईश्वर और स्त्री, सबको खंगालने और सबसे मुक्त होने की बेचैनी तक ले जाता है। यहाँ तक कि आत्मज्ञान की यह यंत्रणा बर्दाश्त न कर सकने के कारण अपने आप से मुक्ति के निर्णय और नियति तक के बिन्दु तक भी ला-छोड़ता है- ''मौत से पहले आदमी इससे निजात पाए क्यूँ?''

प्रियंवद के कथा-लेखन पर सोचते हुए मुझे यही सवाल परेशान करते रहे हैं। पहले इलाचन्द्र जोशी, फिर निर्मल वर्मा, फिर प्रियंवद और किसी स्तर पर मनोज रूपड़ा ऐसे लेखक हैं जो अपने भीतरी नरक का अनुसंधान, पहचान करने के साथ वहीं बने रहने के लिए अभिशप्त हैं। वे अपने आपमें ही इतने संपूर्ण हैं कि 'दूसरे' उनके लिए हैं ही नहीं। वे नरक हैं। उनके शरण्य अपने एकांत हैं, अपना अकेलापन है- जहाँ सिमेट्रियाँ हैं, पहाड़ी निर्विघ्नताएँ हैं और खँडहरों के भूत हैं, पुराने मकानों के सन्नाटे हैं। इनमें प्रियंवद की दुनिया तो मुझे मार्किस द साद के उपन्यासों की नीम-अंधेरी हवेलियों और वहां के भयोत्पादक तहखानों की चीखों की याद दिलाती

है। कम से कम विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास इतने भुतहे और घुटन-भरे तो नहीं हैं, वहाँ एकाध खिड़की भी रहती है।

मगर सच यह भी है कि साधना इसी अकेले और अनासक्त व्यक्ति ने ही की है- ज्ञान की साधना, बोध की साधना, कला और संस्कृति की साधना... हाँ, कला-साहित्य की साधना में स्त्री भी उसके साथ है, सहयोगिनी की तरह नहीं। ऑब्जेक्ट या विषय-वस्तु बनकर साथ है, हठ-योग की वामाचारी साधनाओं में शायद वह बराबर की सहयोगिनी भी है।

व्यक्तिवाद का एक सामाजिक पक्ष भी है और इसे संतोष चौबे के दो उपन्यासों 'राग-केदार' और 'क्या पता, कामरेड मोहन' में देखा जा सकता है। वस्तुतः कामरेड मोहन राग केदार का ही विस्तार है। कार्तिक मेधावी विद्यार्थी है। योग्यता के हिसाब से इंजीनियर है, आई.ए.एस. के लिए चुन लिया गया है। इसी परीक्षा की तैयारी में उसने साहित्य और इतिहास का गहन अध्ययन किया है। कैरियर के उच्चतम रास्ते उसके लिए खुले हैं, मगर वह सारे प्रलोभनों को छोड़कर सामान्य-जन के उत्थान को चुनता है और कम्युनिस्ट पार्टी के साक्षरता मिशन और 'जन-विज्ञान' कार्यक्रमों में शामिल हो जाता है। यहाँ एक ही विचारधारा के भीतर व्यक्ति और संगठन के द्वंद्व की शुरुआत होती है। वह योग्य, निष्ठावान है और अपने मिशन के लिए समर्पित है- उसका दृढ़ विश्वास है कि साक्षरता के साथ-साथ वैज्ञानिक चेतना से अगर जनता का परिचय उसी की भाषा में कराया जाए तो लोग अपने समाज की कुरीतियों और निजी रूढ़ संस्कारों के खिलाफ ज्यादा सक्षम होकर लड़ सकेंगे। यह सामूहिक चेतना उन्हें शोषण, दमन के खिलाफ भी एकजुट करेगी। कार्तिक न दिन देखता है न रात- जन-विज्ञान की इकाइयाँ गठन करने और उनके बीच समन्वय स्थापित करने में लगा रहता है। पार्टी को उस पर बहुत विश्वास है और वहाँ उसे एक कुशल और कर्मठ कार्यकर्ता की तरह सम्मान दिया जाता है।

जाहिर है, वहां उसके प्रतिस्पर्द्धी भी हैं- एक अनकहा द्वंद्व उसके और कामरेड मोहन के बीच है जो पार्टी अनुशासन के नाम पर बार-बार उसे विचलित करता है। कामरेड मोहन किसी सुपर बॉस, या ऑरवेल के बिग-ब्रदर की तरह अक्सर कहीं बैठे पार्टी का संचालन करते हैं- हर कोई उनसे मिल भी नहीं सकता, परिणामतः वे कानों से ही देखते हैं- सरफराज, लक्ष्मण सिंह जो सूचनाएँ उन तक पहुँचाते हैं वही उनके निर्णयों का आधार बनती हैं। वे अपने किताबी मार्क्सवाद के अनुसार ही फैसले लेते हैं, मगर कार्तिक पाता है कि वे उसके बढ़ते हुए कामों में अनावश्यक अवरोध पैदा करते हैं। (वस्तुतः लेखक ने न मोहन को स्पेस दिया है, न सहानुभूति)।

उपन्यास का प्रारंभ होता है कि एक तनावपूर्ण मीटिंग के बाद कार्तिक को पार्टी से निकाल दिया गया है। कहानी कार्तिक के आत्म-विश्लेषण के रूप में है कि उससे कहाँ, क्या गलती हुई। सारी व्यक्तिगत आत्मीयताओं के बावजूद हर कोई पार्टी अनुशासन से इस तरह बँधा है कि संबंध वहीं से तय होते हैं- नताशा, उमा जो कल

व्यक्तिवाद का एक सामाजिक पक्ष भी है और इसे संतोष चौबे के दो उपन्यासों 'राग-केदार' और 'क्या पता, कामरेड मोहन' में देखा जा सकता है। वस्तुतः कामरेड मोहन राग केदार का ही विस्तार है। कार्तिक मेधावी विद्यार्थी है। कैरियर के उच्चतम रास्ते उसके लिए खुले हैं, मगर वह सारे प्रलोभनों को छोड़कर सामान्य-जन के उत्थान को चुनता है। यहाँ एक ही विचारधारा के भीतर व्यक्ति और संगठन के द्वंद्व की शुरुआत होती है।

तक कार्तिक से भावनात्मक रूप से जुड़ी थीं, अचानक ही अपरिचित हो उठती हैं। कार्तिक निकाल दिया जाता है, नताशा और उमा निजी जिंदगी में लौट जाती हैं और कामरेड मोहन आत्महत्या कर लेते हैं। सारा संगठन लगभग बिखर जाता है।

उपन्यास का प्रारंभ भोपाल गैस-ट्रैजेडी से होता है- लोग किस तरह गैस के प्रभाव से मरते, घुटते और भागने की कोशिश करते हैं- किस तरह उनके अंग जल गए हैं, वे लकवाग्रस्त जैसे असहाय सिर्फ मरने के लिए अभिशप्त हैं। लगभग वही दृश्य है जो वियतनाम में नेपाम बम के समय हुआ था। कार्तिक गैस-रिसाव के तकनीकी और वैज्ञानिक कारणों को अच्छी तरह समझता है और जानता है कि वह गैस-परीक्षण कैसे यूनियन कार्बाइड के अमरीकन आकाओं की जानकारी में हुआ है। यह गैस-कांड कार्तिक को कष्ट और यातना भोगते लोगों से जोड़ता है- तीसरी दुनिया में गैस-परीक्षण का यह साम्राज्यवादी षड्यंत्र उसे दहला देता है। लोगों का दुख-दर्द उसे भीतर तक झकझोर डालता है। फिर होता है भोपाल का सांप्रदायिक दंगा और यहाँ वह धर्म-जाति से ऊपर मानवता से साक्षात्कार करता है। शायद यही प्रेरणाएँ हैं कि वह पार्टी के साक्षरता और जन-विज्ञान अभियान में अपने को झोंक देता है।

उपन्यास में पार्टी के दर्शन, काम के तौर-तरीकों और कामरेडों के व्यवहार को लेकर कुछ बेहद सार्थक बहसें हैं। इसीलिए मैं इसे विमर्शवादी उपन्यास भी कहना चाहूँगा- जहाँ अलग-अलग पृष्ठभूमि के कार्यकर्ता एक उद्देश्य के लिए एकजुट होते और आपस में टकराते हैं। अपनी तरह सभी ईमानदार, जागरूक और समर्पित हैं।

और यहीं वह समस्या आती है जो अंतर्विरोधों को उग्र समस्याओं का रूप देकर बहसों को जन्म देती है। कार्तिक की क्षमता, कर्मठता और मिशन को सफल करने की जिद उसे इतना आश्वस्त बनाए हुए हैं कि वह स्थिति के अनुसार स्वयं निर्णय भी लेता है, क्योंकि फील्ड में रहते हुए उसे लगता है कि यही सही है। बस,

यहीं दूर बैठकर सैद्धांतिक विश्लेषण करने वाले कामरेड मोहन से उसके मतभेद बढ़ते जाते हैं। अपने ऊपर ज़रूरत से ज्यादा विश्वास, परिणामतः दूसरों की योग्यता या कार्यों को छोटा करके आंकना, या उनकी निष्ठा में शक करना औरों से अलग और अपने विशिष्ट होने की उसकी चेतना को खाद-पानी देता है, और जाने-अनजाने उपन्यास का कथ्य व्यक्ति बनाम पार्टी के रूप में उभरने लगा है।

यहाँ कार्तिक के व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन को समझना भी जरूरी है। नीति सुंदर, योग्य प्रतिभाशाली है। वह पहले कार्तिक की प्रेमिका और बाद में पत्नी के रूप में बेहद समर्पित और कर्तव्य-निष्ठ लड़की है- उसे कविता और संगीत से प्यार है और वह कार्तिक के व्यक्तित्व को ही नहीं, जो कुछ वह कर रहा है उसके महत्व को भी पूरी तरह समझती है, इसलिए कहीं भी वह गृहस्थी की चिंताओं से कार्तिक को परेशान नहीं करती। इस अर्थ में वह पूरी तरह सहयोगिनी पत्नी है- कामरेड जैसी। आश्चर्य यह है कि जब कार्तिक नताशा या बाद में उमा से भावनात्मक रूप से जुड़ता चला जाता है तो नीति कहीं भी ईर्ष्या, या प्रतिरोध नहीं करती- हालाँकि निश्चय ही वह सब जानती है। विवाह-पूर्व नीति के साथ कार्तिक के रोमानी क्षण उपन्यास के पहले संवेदनशील काव्य-प्रसंगों में से हैं- दोनों साथ ही अपने लिए भोपाल का 'आविष्कार' करते हैं। उसके भूगोल और इतिहास का गहन परिचय कार्तिक के 'दादा' पहले ही करा चुके हैं। वह दादा की आँखों से भोपाल का अतीत और नीति के साथ वर्तमान को गहराई तक आत्मसात किए हुए है- इसलिए दोनों 'बेव्स एंड विंड' की ऊँचाई पर बार-बार अपने आपको पाना चाहते हैं। अवचेतन में अतीत और वर्तमान दोनों की अनुगूँजें हैं।

'दादा' का आशीर्वादी प्यार कार्तिक को गहरा आत्मविश्वास देता है। वे उसे भोपाल का पूरा भूगोल और इतिहास समझाते हैं- उन महत्वपूर्ण पुरातात्विक स्थानों पर ले जाकर एक गाइड की तरह उनसे परिचय कराते हैं। माँ वात्सल्यमयी है। कार्तिक उनके लिए उन धार्मिक रीति-रिवाजों और त्यौहारों में खुलकर भाग लेता है जिन पर सैद्धांतिक रूप से उसका विश्वास नहीं है।

कार्तिक एक सुखी और आदर्श मध्यवर्गीय परिवार का बौद्धिक रूप से बेहद जागरूक सदस्य है। और यहीं मेरे मन में एक सवाल उठता है : सारे क्रांतिकारी प्रायः अपना पहला विद्रोह परिवार से ही शुरू करते हैं- आदर्श पुत्र, आदर्श पति या आदर्श परिवार की निश्चिंतताओं और भावनात्मक संरक्षण में पले हुए बच्चे प्रायः मॉडल विद्यार्थी होते हैं- घर परिवार की मर्यादाओं का पालन करते हैं और अच्छी खासी नौकरी या व्यवसाय करते हुए जीवन के अनुकरणीय उदाहरण पेश करते हैं। उनसे बहुत परिवर्तनवादी सोच की उम्मीद नहीं की जाती। परिवर्तन और क्रांतियाँ उन लोगों ने की हैं जो परिवार से बाहर निकल आए हैं या अपने सपनों की ज़िदगी चुनते हैं। चूँकि वे परिवार को अपने अनुसार बदल नहीं पाते इसलिए समाज बदलने निकल पड़ते हैं। उधर सुखी परिवार प्रायः व्यवस्था को बहुत छेड़ते नहीं हैं- सहज, स्वीकृति

और समझौता उनका स्वभाव हो जाता है।

और यही पारिवारिक सौमनस्य जब कार्तिक को पार्टी में नहीं मिलता तो वह अपने को सहज महसूस नहीं कर पाता। वह ब्रिलियेंट बच्चे का ऐसा ही व्यवहार चाहता है जो उसे अपने परिवार में मिलता रहा है। वह पार्टी की आलोचनात्मक व्यवस्था में मिसफिट है। वह अपनी उन एकैडेमिक उपलब्धियों को भूल नहीं पाता जहां वह आई.ए.एस. या हाईली पेड इंजीनियर बन सकता था। पूरी तरह डि-क्लास कर पाना उसके लिए असंभव है। परिणामतः व्यक्ति और पार्टी का द्वंद्व शुरू होता है। अंततः अपने 'व्यक्तिवादी' सोच और व्यवहार के कारण उसे पार्टी से निकाल दिया जाता है।

ठीक यही ट्रेजेडी सृंजय की कहानी 'कामरेड का कोट' की है। जमीनी सच्चाइयाँ कामरेड कमलाकांत उपाध्याय को जिन निष्कर्षों तक पहुँचाती हैं, अपने सिद्धांतों में कैद पार्टी उन्हें स्वीकार नहीं कर पाती। रूस-पलट कामरेड सिद्धांतों और उदाहरणों से समस्याओं को हल कर लेना चाहते हैं और एक्शन के किसी भी ठोस कदम से बचते हैं। सबसे अधिक तीव्रता से यह द्वंद्व उदय प्रकाश की कहानी 'और अंत में प्रार्थना' के वाकणकर का है। यहाँ पार्टी आर.एस.एस. है और वाकणकर समर्पित स्वयं-सेवक के तौर पर पार्टी लाइन से सहमत नहीं हो पाता। वह भीतर ही भीतर घुटता और छीजता जाता है, न उसे निष्कासित किया जाता है न वह पार्टी छोड़ पाता है, वह स्वयं अवसाद और मानसिक यंत्रणाओं में स्थगित होता जाता है। पार्टी के प्रचारित सिद्धांत और हिडेन एजेंडा या व्यावहारिक फाँक पर खड़े कमलाकांत और वाकणकर वे तत्व हैं, जिन्हें पार्टी न उगल पाती है न निगल। वह उन्हें उपेक्षा के धीमे जहर से मारती है।

मगर वाकणकर, कार्तिक और कामरेड कमलाकांत उपाध्याय से अलग भी है : वाकणकर शुरू से आर.एस.एस. का सदस्य है, उसका विकास शाखाओं के प्रवचनों और 'बौद्धिकों' में हुआ है। जहां रहकर वह अगर घुटन महसूस करता है, तो यह उसका अपना चुनाव नहीं है, उसके अपने संस्कार हैं। वह नहीं जानता कि पार्टी छोड़कर कहां जाएगा। इसलिए अपने भीतरी संताप में ही घुटता-टूटता और विक्षिप्ति में फिसलता जाता है।

उधर कार्तिक का पार्टी में शामिल होना सोचा-समझा चुनाव है। वह कामरेड नारायण की तरह विनोबा, जयप्रकाश की राह होता हुआ आत्मिक उन्नयन के लिए आश्रम भी खोल सकता था। स्वयं कार्तिक ने आधुनिक दर्शन, ज्ञान-विज्ञान सभी कुछ घोट डाला है, मगर सिर्फ साहित्य और कला हैं जो मनुष्य की संवेदना को बचाकर रख सकते हैं- बाकी सारे विज्ञान उसे निष्क्रिय, प्रतिरोधहीन रोबो में बदल सकते थे। यहाँ उसे रोशनी मिलती हैं डार्विन की कुछ पंक्तियों से। हाँ, 'राग-केदार' के केदार की तरह दोस्तोवयस्की उसका सबसे प्रिय शरणस्थल है- जो गहरे मानसिक विश्लेषणों की सँकरी गलियों में नायक को रास्ता दिखाती है। दूसरी किताब : रिचर्ड

बाख़ की 'जॉनाथन लिविंग स्टोन सीगल।' लगन और आत्मविश्वास से ज़मीन पर रेंगने वाली सीगल किस तरह उड़ने का अभ्यास करती हुई ऊँचे उकेल आसमानों में मछली की तरह तैरती है- ऊँचाइयाँ उसे आकर्षित करती हैं- जहाँ सबकुछ मुक्त है। 'जीवित-पत्थर' यानी लिविंग-स्टोन कैसे धीरे-धीरे आत्मा की उड़ानों में रूपान्तरित होता जाता है, इस साधना की बेहद सशक्त कहानी है 'सीगल'- लगभग सिद्धार्थ के बोधिसत्व तक पहुँचने की कथा।

कार्तिक जब-जब बहुत परेशान होता है वह सांची के खँडहरों में शांति और रोशनी पाता है। ऐसे ही एक 'पलायन' में उसकी केदार की आत्मा से लंबी बात होती है- बल्कि कहना चाहिए स्वयं अपने भीतर बैठे हुए केदार से। यह उपन्यास की जीवंत बहसों या आत्म-विश्लेषण के सबसे खूबसूरत विचारोत्तेजक स्थलों में से एक है। लगता है बाहर के अनुभवों को केदार भीतर की लैबोरेटरी में लाकर उनका विश्लेषण-विवेचन करता रहता है।

उपन्यास में स्त्रियाँ हैं- नीति, नताशा, उमा और रति या और भी पहले अम्मा। नीति कार्तिक की पत्नी है, पढ़ी लिखी समर्पित। नताशा-उमा मानों कार्तिक के व्यक्तित्व को ग्रीज करने के लिए हैं- वे पार्टी की कार्यकर्ता हैं और कार्तिक के चुंबकीय व्यक्तित्व के प्रभाव-वृत्त में हैं। पता नहीं क्यों, यहां मुझे अज्ञेय की वे पंक्तियाँ याद आती हैं जहाँ वे लिखते हैं, 'स्त्री वह सान है, जिस पर मैं अपने व्यक्तित्व को धार देता हूँ।' नीति, नताशा और उमा की उपस्थिति लगभग वैसी ही है। सबसे ज्यादा स्पंदनशील अंतरंग संबंध हैं फादर विलियम्स और रति के बीच- जिसका करुणांत इस नाटकीय रहस्योद्घाटन से होता है कि चर्च की गतिविधियों की जानकारी लेने के लिए रति, माओवादियों द्वारा भेजी गई हैं।

व्यक्ति और संगठन का द्वंद्व कार्तिक, मोहन और विलियम्स- तीनों को तोड़ देता है- मोहन आत्महत्या कर लेते हैं, विलियम्स को देश-निकाला मिलता है और कार्तिक को पार्टी से निष्कासन...

निश्चय ही यह सारी उठा-पटक पार्टी-विरोधी या किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा पार्टी को खारिज करने का अभियान नहीं है। यह पार्टी में रहते हुए बुद्धिजीवियों के आपसी मतभेद हैं। सबसे महत्वपूर्ण सवाल बार-बार यही उठता है कि क्या व्यक्ति अपनी सारी विलक्षणताएँ और अद्वितीयताएँ सुरक्षित रखते हुए पार्टी जैसे (या किसी भी) संगठन में बना रह सकता है? या उसे अपनी सारी अतिरिक्त उपलब्धियाँ और योग्यताएँ स्थगित करके सामान्य मीडियाकर बने रहकर ही अपने कर्तव्य का निर्वाह करना है? क्यों बुनिन, ब्राड्स्की और सोलजेनित्सिन को देश छोड़ना पड़ा और क्यों पास्तरनाक जिंदगीभर अनफिट होने का अभिशाप झेलता रहा।

सवाल फिर यही है कि अगर व्यक्ति के पास योग्यता, विजन और उसे प्राप्त करने की जिद नहीं होगी तो किसी भी विचार का विकास कैसे होगा? हाँ, कहीं कार्तिक के पूरे सोच में ऐसे रोमांटिक तत्व जरूर हैं जहां उसे स्वयं सही और बाकी गलत

लगते हैं। व्यक्तिवादी अपने आपमें ही लक्ष्य और कसौटी दोनों होता है, इसलिए 'एक्स्क्लूसिव' यानी सबसे अलग होता है और बाहरी 'अवांछित' लगने वाले संबंधों और प्रभावों को छीलता जाता है। वह निरंतर अकेला पड़ता जाता ऐसी इकाई है जो सत्ता प्राप्त होने पर फासिस्टी जिद के साथ सारे 'गलत तत्वों' को रास्ते से हटा देने में विश्वास करता है- वह अपने निजी स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि उस विचार के लिए यह सब करता है। हिटलर ने नस्ली शुद्धता के लिए यहूदियों का सफाया किया तो मोदी ने हिंदुत्व के लिए मुसलमानों को राष्ट्रद्रोही कहकर सारे समाज को 'हम' और 'वे' में बाँट दिया। 'हम' यानी राष्ट्रवादी और 'वे' यानी 'दुश्मन'। वैसे भी राष्ट्रवाद बिना दुश्मन के ज़िंदा नहीं रह सकता। शायद राष्ट्रवाद अकेला दर्शन है, जिसकी महानता की सारी गढ़ंत को दुश्मन तय करता है।

साहित्य के प्राध्यापकीय अध्येता तो उस रचना को 'साहित्यिक' मानने को तैयार नहीं है जहां यह एक्सक्लूसिव व्यक्ति प्रमुख पात्र या नायक बनकर न आया हो- वे उसके अंतर्द्वंद्वों के साथ ही साधारणीकरण कर पाते हैं। शायद वे यह सवाल कभी नहीं पूछते कि यह नायक हमेशा पुरुष ही क्यों है, क्यों स्त्री के सिवा इसके कोई और संबंध नहीं है? क्या यह भी सच नहीं है कि वह युग उपन्यासों में पुरुष लेखकों द्वारा निर्मित एक से एक चमत्कारी नायिकाओं के उदय का भी है। क्यों यह नायक 'सुखासीन' मध्यवर्ग से ही आता है और क्यों सिर्फ अतीत में बना रहता है? 'अभी और यहीं' में बंधा यह यूलिसीज आरामकुर्सी पर बैठा दुनिया-जहान की यात्राएँ करने को ही क्यों अपना गंतव्य मानता है? क्या अंधी गली में पहुँच चुके इस व्यक्ति के लौटने के सारे रास्ते बंद हो चुके हैं? इसी नायक को किसी ने हैमलेट और डॉन क्विकजोट का वर्ण-संकर भी कहा है।

वस्तुतः दूसरे महायुद्ध के बाद का यह व्यक्ति अतीत और भविष्य दोनों से कट चुका है। यह समाज संबंधों के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त हो चुका है। इसके पास स्मृतियों में सिर्फ अपना अतीत है; इसी व्यक्ति को काव्यात्मक संवेदना और भाषायी कलात्मकता से सजाना ही असली साहित्य कहा जाता है। यह दीप अकेला कभी अपने को नदी का द्वीप बनकर गौरवान्वित करता है, कभी ऊसर में उगा हुआ कैक्ट्स, भुसभरा बिजूका या खोखला आदमी (हॉलो मैन)।

हममें से अधिकांश का सौंदर्यबोध, कला चेतना और आस्वाद-तंत्र इसी अजनबी नायक की मानस-यात्राओं में अधिक आश्वस्ति महसूस करता है। सबसे अधिक साहित्यिक संतुष्टि होती है, स्त्री-पुरुष के द्वंद्वात्मक संबंधों और अंतर्दर्शन से गुजरते हुए। ऐसी कथाओं की सारी कलात्मकता भाषा द्वारा व्यक्ति और वास्तविकता के रहस्यों को पकड़ना है- उनके लिए भाषा ही साहित्य है। वे 'अंदाजे बयाँ' को लेकर ही सबसे आग्रही हैं, मुझे यहाँ गालिब का ही दूसरा शेर याद आता है :

देखिए गुफ्तार की लज्जत कि जो उसने कहा,
मुझको ऐसा लगा, गोया वो भी मेरे दिल में था।

मैं अभी तक तय नहीं कर पाया हूं कि इस विशिष्ट नायक के साथ हमारी सहानुभूति है या कौतिक-तुष्टि।

व्यक्तिवाद के अगले विकास के रूप में आता है अस्मितावाद। व्यक्तिवाद का मूल स्वर अगर 'अस्वीकार' है तो अस्मितावाद उन सारे प्रभावों की स्वीकृति है जो व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं- यह भाषा, समाज, वर्ग, जाति, संस्कृति, परंपराएँ और पर्यावरण तक, सभी का समाहार है, सिर्फ अपने प्रबुद्ध-विवेक से छाँटना यह होता है कि वे कौन-से तत्व हैं जो सामाजिक विकास में बाधक होते हैं। गाँधी व्यक्तिवादी थे- मगर उन्होंने सारी दीवारें तोड़कर सबको शामिल करने की दिशा स्वीकार की- वे अस्मितावादी व्यक्ति थे। अंबेडकर को भी अस्मितावादी इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि वे दलितों के प्रतिनिधि हैं। मैं तो मायावती को भी दलित अस्मिता का प्रतीक मानता हूं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं के पूर्वार्ध के सारे ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-दर्शन, संस्कृति कुछ महान व्यक्तियों के माध्यम से समाज को बदलते रहे हैं। ये व्यक्ति लगभग अवतार की तरह धरती को स्वर्ग बनाने के सपनों से आक्रांत थे। उनका जन्म और कार्यक्षेत्र शिक्षित मध्यवर्गीय पब्लिक स्फेयर या सिविल सोसायटी तक सीमित था- शेष अस्सी प्रतिशत जनता या तो इनसे बेखबर थी या सिर्फ रिसीविंग एंड यानी ग्रहणकर्ता के रूप में थी, जिसका उद्धार इन महान व्यक्तित्वों को करना था। ये सारे दिग्गज पुरुष थे, इसलिए सौंदर्यशास्त्र से लेकर साहित्यकला तक स्त्री इनका ऑब्जेक्ट और विषय ही बनी रही- वे स्वयं ही दर्शन और द्रष्टा दोनों थे। इनके उदात्त की यात्रा 'संभोग से समाधि' तक थी।

वस्तुतः व्यक्तिवाद भारतीय मध्यवर्गीय बोर्जुआ का या योगियों का पलायन दर्शन था। अस्मितावाद इसी एक्सक्लूसिव व्यक्ति को विस्तार दे रहा है। स्त्रियाँ, दलित, अल्पसंख्यक और आदिवासी अपनी-अपनी अस्मिताओं के साथ उसे तोड़ रहे हैं- यह शामिलात (यानी छूटे हुओं को शामिल करने की प्रक्रिया में) या इनक्लूसिव का दर्शन है।

वामपंथ की राजनीतिक कार्य-पद्धति पर सार्थक बहस

प्रो. कुँवरपाल सिंह

आजकल हिन्दी में राजनैतिक चेतनापरक उपन्यास कम ही लिखे जा रहे हैं। जो लिखे भी जा रहे हैं उनमें काली रात के कारनामों का कच्चा-चिट्ठा होता है। यह चीज़ें समाज में मौजूद तो हैं किन्तु उनका प्रस्तुतिकरण सपाट ढंग से किया जा रहा है। ऐसी पुस्तकें आजीवन जीवित नहीं रह सकतीं। जीवित वही हैं जिनमें अन्य समस्याएँ हों। इन उपन्यासों की एक बड़ी त्रासदी यह है कि इनमें इस व्यवस्था के लिए केवल व्यक्ति को ही ज़िम्मेदार माना जाता है। व्यक्ति विशेष तथा विशेष दल के बदल जाने से समाज में परिवर्तन आयेगा, यह स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। यह बात सच होती तो इस देश में तथा प्रदेशों में कई सरकारें बदलीं, उनके बदलने से फर्क पड़ता। पहले कांग्रेस, फिर जनता दल जिसके कई दल हो गये, उसके बाद भाजपा ने केन्द्र में अपनी सरकार बनायी। ये पार्टियाँ ग़रीबों तथा पिछड़ों का तथाकथित रूप से प्रतिनिधित्व करती रहीं। किन्तु सच यह है कि इन्होंने जितना भ्रष्टाचार, अनाचार, भेदभाव और अपनी-अपनी जाति विशेष को फ़ायदा पहुँचाया, वह अभूतपूर्व है। इन पार्टियों ने अपने प्रदेश की उन्नति के नाम पर कुछ छोटे से हिस्से को लाभ पहुँचाया और इन्हीं के बलबूते पर वे राज करते रहीं। इन्होंने अपने-अपने शासनकाल में भ्रष्टाचार को नैतिकता में बदल दिया। ये जनता के सेवक कितने अमानवीय हैं, इसे हमारे साधारण पाठक अच्छी तरह समझते हैं। जनता चुप रहती है किन्तु उसकी समझदारी और उचित वस्तु को पहचानने की कला जनतंत्र की शक्ति है। देश की एकता और अखंडता में जनता का विशेष योगदान है, न कि यहाँ के नेताओं एवं राजनेताओं का। जनता ने उन सारे लोगों को आईना दिखा दिया जो जनता की सेवा करने के नाम पर केवल अपनी सेवा कर रहे थे। जनता के इस रूप की पहचान सुविधाजीवी लेखक, बुद्धिजीवी एवं पत्रकार को बिल्कुल नहीं है। जनता को समझने का सबसे अच्छा अवसर है उसके बीच में जाकर काम करना। उस पर राजनैतिक रैलियों और बैठकों का कोई विशेष असर नहीं पड़ता। आज का सत्य यही है कि जनता के बीच सामाजिक उत्थान का काम करना पड़ेगा, उसकी उन्नति के लिए प्रत्येक चीज़ों की जानकारी तथा सुविधाएँ मुहैया कराना पड़ेगा। उसका उत्थान क्रांतिकारी

भाषणों से नहीं हो सकता। इसके लिए उसके बीच जाकर सामाजिक कार्य करने पड़ेंगे। जनता से सीखने की ज़रूरत है लेकिन हमारे बहुत से कार्यकर्ता यह समझते हैं कि हम तो उनके बीच आकर काम कर रहे हैं, वह हमारी बात क्यों नहीं समझते हैं? जनता के बीच धीरज से काम करने से ही सामाजिक परिवर्तन की दिशा तय होती है।

संतोष चौबे का उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' 2006 के अंत में प्रकाशित हुआ था। बहुत से आलोचकों ने इसकी मूल आत्मा को नहीं समझा। ये उपन्यास मार्क्सवादी दलों में नीतियों और व्यवहार के अंतर्विरोधों की गहराई से पड़ताल करता है। क्रांतिकारी पार्टी में भी कुछ नेता किस प्रकार जड़ एवं यांत्रिक हैं, इसका उद्घाटन यह उपन्यास करता है। बहुत से पुराने लोगों ने ज़माने के बदल जाने पर भी अपना पुराना तरीक़ा नहीं छोड़ा। वे क्रांति की बात तो करते हैं किन्तु आज के समाज की वास्तविकता नहीं समझते। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने बहुत कुछ बदल दिया है। इन बदली हुईं परिस्थितियों में हमें अपनी राजनीति प्रछन्न रूप से करनी चाहिए। सामाजिक कार्य हमारे एजेंडा में प्रमुख होने चाहिए जिसमें महिलाओं एवं पुरुषों के अलग-अलग दल हों और वह गाँव में जाकर काम करें। कार्तिक ने मध्य प्रदेश और राज्य में तमाम पिछड़े इलाक़ों में जाकर कार्यकर्ता बनाये और उन्हें सामाजिक कार्यों से जोड़ दिया, किन्तु कार्तिक के इस कार्य से पार्टी के नेता अप्रसन्न थे। उन्हें लगता था कि कार्तिक कहीं उनसे अधिक प्रभावी न हो जाये और जन नेता के रूप में स्थापित न हो जाये। उनमें एक ईर्ष्या की भावना उत्पन्न हो गयी। बीस साल के काम का कार्तिक को यह पुरस्कार मिला- 'साथी कार्तिक! हमारी पार्टी ने विज्ञान और सांस्कृतिक आंदोलन को मज़बूत करने और और उसके माध्यम से पार्टी निर्माण करने की ज़िम्मेदारी आपको दी थी। आपके क्रिया-कलापों से पार्टी इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि इस ज़िम्मेदारी को निभाने में आप पूरी तरह से असफल रहे हैं। एक वरिष्ठ साथी के रूप में इस मोर्चे पर एकता व सामूहिकता बना कर कार्य करने में न सिर्फ आप असफल रहे हैं, बल्कि गुटबाजी को भी बढ़ावा दे रहे हैं और पार्टी के विकास में अड़चने डाल रहे हैं। आपके इस आचरण और कार्य-प्रणाली के लिए कई बार आपको समझाइश दी जा चुकी है, लेकिन उसमें कोई परिवर्तन न होने के कारण आपको यह कारण बताओ नोटिस दिया जा रहा है। कृपया स्पष्ट करें कि क्यों न आपको पार्टी से निलंबित कर दिया जाये?' (पृ. 17)

कॉमरेड मोहन जैसे लोग हिन्दी प्रदेशों में और हर पार्टी में हर जगह मिल जाएँगे। ऐसे लोग बेहद परिश्रमी एवं ईमानदार हैं, किन्तु समय के साथ बदलने के लिए तैयार नहीं हैं। कॉमरेड मोहन जैसे लोग मार्क्सवाद को अत्यंत पवित्र और सिर्फ पूजा की वस्तु समझते हैं जिसे पूजागृह में स्थापित कर दिया जाता है। सामाजिक कार्यक्रम और सक्रियता के अभाव में सचमुच क्रांतिकारी दर्शन पूजा की जड़ वस्तु

हो जाता है। इनमें से अधिकांश ने मार्क्स को ठीक से पढ़ा भी नहीं है, जबकि हक़ीक़त है कि मार्क्सवाद ही क्रांतिकारी जीवन पद्धति का रास्ता बताता है। मार्क्स ने उन लोगों को यांत्रिक भौतिकवादी कहा जो बदलना नहीं चाहते और व्यक्तिनिष्ठ सोच के अनुरूप जनता एवं पार्टी बनाना चाहते हैं। पार्टी में सचिव का पद बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। वह पार्टी की कार्य-पद्धति का मस्तिष्क और हाथ दोनों होता है। इसे कॉमरेड मोहन भली-भाँति जानते हैं। इसलिए उसका जाने-अनजाने में दुरुपयोग करते हैं। कार्तिक और कॉमरेड मोहन के बीच नीतियों का नहीं, बल्कि व्यक्तित्व एवं अहम् का संघर्ष है। यांत्रिक मार्क्सवादियों में यह धारणा है कि जो थोड़ा खाता-पीता है, जीवन अच्छे ढंग से जीना चाहता है, वो बुर्जुआ है- ''ग़रीब होने का मतलब यह तो नहीं है कि ऑफिस गंदा भी रहे।''

कार्तिक को याद है कि एक बार उसने और सरफराज ने मिलकर पूरा ऑफिस साफ़ किया था, उसे दुबारा जमाया था, डंडों और झंडों को रखने की व्यवस्था की थी। शाम को कॉमरेड श्यामलाल आए थे और बस देखते रह गए थे। कार्तिक को देखकर उन्होंने कहा था- ''आप तो हमारे ऑफिस को भी बुर्जुआ बना देंगे।''

कार्तिक को थोड़ा बुरा लगा था। वह दिनभर मेहनत और साफ़-सफ़ाई करता रहा था। उसने बस इतना कहा था, 'कॉमरेड डि-क्लास होने का मतलब गंदा और साफ़-सुथरा न रहना तो नहीं है।' (पृ. 131)

दूसरा उदाहरण अलीगढ़ से भी देना चाहूँगा। सन् 1959 की बात है। विश्वविद्यालय के छात्र एवं अध्यापक किसानों के बीच जाते थे तथा जो भी नयी जानकारी होती थी, अपनी मीटिंग में बतलाते थे। डॉ. अलीम, मार्क्सवादी चिंतक और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति, भी कभी-कभी व्याख्यान देने जाते थे। मालवीय पुस्तकालय के हॉल में किसान सभा का सम्मेलन हो रहा था। प्रोफेसर अलीम एक प्रमुख वक्ता के रूप में उपस्थित थे। उन्होंने किसानों की समस्याओं पर बहुत अच्छा व्याख्यान दिया था। पहली बार हमने सुना कि हमारे साथी जो किसानों के बीच रहकर काम करते थे, वे प्रेमचंद से बहुत सीख समझ सकते हैं। इससे पहले हम प्रेमचंद को सुधारवादी और गाँधीवादी ही समझते थे। उनके भाषण के बाद कहा गया कि क्या डॉ. साहब से कोई प्रश्न पूछेगा? दो लोग प्रश्न पूछने के लिए खड़े हुए। दोनों पार्टी मेम्बर थे। उन्हें किसी ने यह बता दिया था कि बड़े से बड़े आदमी की नीतियों की आलोचना भी कर सकते हैं। इसमें कोई रोक नहीं है।

कॉमरेड मेंहदी ने प्रश्न पूछने की बजाय डॉ. अलीम की आलोचना आरंभ कर दी। अध्यक्ष ने पूछा कि आपको इनसे क्या शिकायत है, तो कॉमरेड मेंहदी ने तपाक से कहा कि मैं इनके लॉन की चार दीवारी फ़ाँद कर जा रहा था तो इनके माली ने मुझे पकड़ लिया तथा मुझे बहुत डाँटा। वहाँ अधिकांश लोगों ने कहा कि डाँटता नहीं तो क्या करता? दूसरे साथी रामलाल ने कहा कि मैं प्रो. नुरुल हसन साहब की कोठी

पर गया। भला बताइये कि ये कम्युनिस्ट इतनी बड़ी-बड़ी कोठियों में रहते हैं, तो ये किस बात के कम्युनिस्ट हैं?

अध्यक्ष ने कहा कि कॉमरेड किस समय आप इनसे मिलने गये थे। उन्होंने कहा कि मैं सात बजे सबेरे गया तो वे सोये हुए थे। अलीम साहब ने कहा कि कहीं मैनिफेस्टो में लिखा है कि सोना गुनाह है। कोई सो नहीं सकता है? बहरहाल थोड़े दिनों बाद इन दोनों ने पार्टी ही नहीं छोड़ी, बल्कि ऐसे मुक़ाम पर पहुँच गए जहाँ कम्युनिस्ट जा नहीं सकते। उनका कितना पतन हुआ, इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था।

एक उदाहरण और देना चाहूँगा- 1980 के आस-पास की बात है। हम लोगों ने अलीगढ़ में उत्तर प्रदेश किसान सभा कराई। मैं उसका संयोजक था। विश्वविद्यालय का एनआरएससी सभागार मैंने अपने प्रयास से प्राप्त किया था। उस समय हमारी पार्टी के प्रांतीय सचिव त्रिपाठी जी थे। वे भी कॉमरेड मोहन की श्रेणी के थे। मैं और मेरे साथी शाबासी लेने पहुँचे तो उन्होंने कहा- ''तुम बड़े व्यक्तिवादी हो, यह तुम्हारा अहम् बोल रहा है। तुम्हारे जैसे लोगों को क्रांतिकारी पार्टी में नहीं रहना चाहिए। तुमने कॉमरेड घनश्याम तथा कॉमरेड सूबेदार सिंह को क्यों नहीं बुलाया? ये हमारे तपे हुए क्रांति के सेनानी हैं। तुम लोग तो ऐसे सिर्फ पढ़-लिखकर विश्वविद्यालय में बड़ी तनख़्वाह पाने लगे हो। तुम लोगों की वर्ग-दृष्टि बदल गयी है। तुमको उन्हें मंच पर बिठाना चाहिए था, उनका सम्मान करना चाहिए था।'' लखनऊ जाकर उन्होंने कामरेड मोहन की भाँति हमें नोटिस पकड़ा दिया। उनकी राय थी कि मध्यवर्ग का व्यक्ति मूलतः अवसरवादी होता है। उस पर एक सीमा से ज़्यादा भरोसा नहीं किया जा सकता है।

आज न त्रिपाठी जी हैं न उनके दोनों घोर क्रांतिकारी शिष्य हैं। उनके दोनों शिष्यों ने क्रांति के नाम पर शराब की तस्करी करनी आरंभ कर दी और फिर बदनाम गलियों में लोप हो गये। वस्तुतः किसी का व्यक्तित्व-निर्माण उसकी अपनी सामाजिक चेतना के आधार पर होता है। चेतना व्यक्ति में कुल्हाड़ी के बेट की तरह होती है जो अपने को ही काटती है। कुछ लोग जो पार्टी में काम करते हैं उन्हें इस मुनाफ़े पर आधारित समाज में परेशानी हो सकती है किन्तु जिसमें मार्क्सवाद की सही समझ है, जिसमें सिद्धांत एवं व्यवहार में द्वैत कम है वो अपनी जगह से डिगेगा नहीं। यदि मार्क्सवाद की यांत्रिक समझ है तो व्यक्ति वही करेगा जो कंबोडिया में कम्युनिस्ट पार्टी ने किया था। किन्तु कार्तिक की भी एक भूल है कि उसे हमेशा यह याद रहता है कि उसने आई.ए.एस. तथा इंजीनियरिंग की नौकरी छोड़ दी। इससे अन्य व्यक्ति चिढ़ते हैं। हमारी पिछड़ी जगहों में खाते-पीते लोगों की विशेष प्रतिष्ठा नहीं है, यह भी सही समझ नहीं है।

उत्तर भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन की यह त्रासदी है कि वहाँ कोई प्रभावकारी सक्षम नेतृत्व नहीं है। हमारे विद्यार्थी काल में ली शाऊ ची की किताब 'हम अच्छे

उपन्यास मार्क्सवादी दलों में नीतियों और व्यवहार के अंतर्विरोधों की गहराई से पड़ताल करता है। क्रांतिकारी पार्टी में भी कुछ नेता किस प्रकार जड़ एवं यांत्रिक हैं, इसका उद्घाटन यह उपन्यास करता है। बहुत से पुराने लोगों ने ज़माने के बदल जाने पर भी अपना पुराना तरीक़ा नहीं छोड़ा। वे क्रांति की बात तो करते हैं किन्तु आज के समाज की वास्तविकता नहीं समझते।

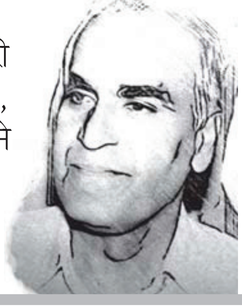

कम्युनिस्ट कैसे बनें', हमारे लिए पाठ्य-पुस्तक की तरह थी। उसने यह कहा कि अच्छा कम्युनिस्ट वो है जो लोगों के दुख-दर्द में शरीक होता है तथा उनकी छोटी-बड़ी समस्याओं को हल करने में मदद करता है। एक कम्युनिस्ट को जनता के बीच रहकर अपने मानवीय चरित्र का विकास करना चाहिए।

इस उपन्यास ने अन्य कई नये आयाम भी खोले हैं। संतोष चौबे ने बहुत विस्तार से मध्यकालीन भारत के इतिहास एवं संस्कृति पर भी प्रकाश डालते हुए बताया है कि उस समय हिन्दू एवं मुसलमान जनता मिल-जुलकर रहती थी। भोपाल की संस्कृति के बारे में यह विशेष रूप से कहा है कि यह ऐसा शहर था जहाँ कभी दंगे नहीं हुए। इस उपन्यास का महत्वपूर्ण पात्र असग़र कहता है कि यहाँ तो नवाब यदि मुसलमान होता था तो उसका महामंत्री हिन्दू ही होता था। उपन्यास में ऐसी एक घटना का भी वर्णन है कि जब भोपाल में दंगे भड़कने की संभावना से बहुत से हिन्दू भागने लगे क्योंकि वहाँ मुसलमान बहुमत में थे, तब बेग़म भोपाल स्वयं स्टेशन गयीं और कहा कि आप लोग क्यूँ जा रहे हैं, आपके बिना तो भोपाल सूना है। आप लोगों के बिना यहाँ क्या रखा है। मैं आप लोगों को नहीं जाने दूँगी। भोपाल के आम मुसलमानों ने बेग़म के इस कार्य की सराहना की।

इस उपन्यास में चौबे जी ने बहुत स्पष्ट रूप से वर्णन किया है कि व्यक्ति का हित तथा समाज का हित एक साथ जुड़ा हुआ है। यांत्रिक भौतिकवादियों का मानना है कि समाज की सेवा करो, व्यक्ति का हित करने से कुछ नहीं होगा। इस समझ ने इतिहास में बड़ी त्रासदियों को जन्म दिया है।

कम्युनिस्टों के बारे में यह भी गलत धारणा बनी हुई है कि वे घर-गृहस्थी नहीं केवल पार्टी का कार्य करते हैं, लेकिन 'अम्मा, कार्तिक और नीति' में चौबे जी ने भरे-पूरे परिवार का चित्रण किया है। बाजारवादी संस्कृति की जो हवा चली है उसकी चपेट में बहुत से लोग आ गए हैं किन्तु, यह उपन्यास बाजारवाद की संस्कृति को चुनौती देता है। इस उपन्यास का यह भाग गहरी मानवीय संवेदना से ओत-प्रोत है। यह मानना कि सभी त्योहारों का संबंध धर्म से है, यांत्रिक है। दीवाली के त्यौहार का इतना सुंदर वर्णन बहुत कम ही मिलता है- ''पार्टी में त्यौहार मनाने वालों को

दकियानूस माना जाता था। इस बात में बड़ी वीरता समझी जाती थी कि फलाँ आदमी होली-दीवाली पर भी अपने घर नहीं गया, आंदोलन में लगा रहा।... हालाँकि बंगाल में पार्टी बरसों से राज कर रही थी और दुर्गापूजा भी उतने ही धूमधाम से मनाई जा रही थी। हिन्दी राज्यों में त्यौहारों को लेकर अजीब हिप्पोक्रेसी फैली थी। इस तरह कार्तिक ने धीरे-धीरे कई लोगों को रूखा और रसहीन होते देखा था।'' (पृ. 338)

राजनैतिक उपन्यासों के प्रति लोगों को अनेक भ्रांतियाँ हैं कि उनमें कलाहीनता तथा सपाटबयानी होती है, लेकिन 'क्या पता कामरेड मोहन' के रचनाकार ने यह सिद्ध कर दिया है कि राजनीतिक विषय पर केंद्रित अच्छा साहित्य भी रचा जा सकता है। कथ्य और शिल्प का इस उपन्यास में सुंदर मिश्रण हुआ है। पठनीयता इस उपन्यास की अन्य विशेषता है। मानवीय प्रेम के विभिन्न रूप उपन्यास में मौजूद हैं। संवेदनशील, संगठनकर्ता और आंदोलनकारी कम्युनिस्टों का भी इस उपन्यास में विस्तार से चित्रण किया गया है। भोपाल की गैस त्रासदी जिसमें हजारों लोग मारे गये तथा लाखों बेघर हो गए, उसमें कार्तिक और रामनारायण ने जनता की बहुत सेवा की थी और उसका फल उन्हें तुरंत मिलता है। लोग उन्हें पहचानने लगे तथा उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गई। वो प्रतिष्ठा क्रांतिकारी नारों एवं भाषणों से न होकर सामाजिक कार्य करने से प्राप्त हुई। उसी समय एक विचार आया कि एक ऐसी संस्था बनायी जाए जो विज्ञान को जनता तक पहुँचाए ताकि भविष्य में ऐसी त्रासदी न हो। इस संस्था के माध्यम से कामरेड कार्तिक तथा रामनारायण ने मिलकर इतना काम किया कि उनका नाम पूरे देश में फैल गया। यही पार्टी सदस्यों की पीड़ा थी कि इन्होंने इतना काम कैसे किया। इस उपन्यास का नायक कार्तिक कभी भी पार्टी छोड़ने की बात नहीं करता है। पार्टी में उसकी अत्यधिक आस्था है। वह पार्टी की कार्य-पद्धति की आलोचना करता है। उसका विरोध कामरेड मोहन से व्यक्तिगत नहीं था। इसलिए जब कॉमरेड मोहन ने आत्महत्या कर ली तो वह और रामनारायण दोनों ही उनके परिवार वालों की मदद करने में सबसे आगे थे।

एक बात थोड़ी अखरती है कि इसमें पादरी तथा उनकी मित्र का रति वर्णन जरूरत से अधिक हो गया है। इसको विस्तार से देने की आवश्यकता नहीं थी। इसके कारण उपन्यास की कथा में रुकावट भी आती है। अच्छी बात है कि कार्तिक अपनी सीमा जानता है। नताशा और उमा दोनों ही उससे प्रेम करती हैं। कार्तिक किन्तु अपनी सीमा से आगे कभी नहीं बढ़ता, वो उनका सच्चा मित्र है।

इस कठिन समय में जहाँ सब कुछ बिगड़ रहा है, संतोष चौबे का उपन्यास वाम राजनीति के लिए संदेश की तरह है। यह उपन्यास किसी भी दृष्टि से वाम विरोध न करके उसका समर्थन ही करता है। यह उपन्यास आगे बढ़ने के लिए नयी कार्य पद्धति की ओर ध्यान दिलाता है। इस घनघोर अँधेरे में यह एक दीपक की तरह है। राही के शब्दों में कहूँ तो 'नागफनी के जंगल में जैसे हरसिंगार के कोंपल।'

आत्म-अर्जित अनुभवों का उपन्यास
रमेश दवे

''...कुछ संघर्ष ऐसे होते हैं जो आदमी को खुद ही करने पड़ते हैं, जैसे अपने सच की तलाश...

...राजनीति का मतलब है राज करने की नीति, आप जहाँ पर भी हैं वहाँ राज करने की नीति। और ऐसा करते ही आप अपने आप को एक दूसरे व्यक्ति या समूह के विरुद्ध खड़ा पाते हैं जो खुद भी अपनी राजनीति चला रहा होता है। अब दोनों ही किसी न किसी तरह का सच बोलेंगे जो 'राजनीतिक सच' होगा और वास्तविक सच से अलग होगा। राजनीति वह जगह नहीं जहाँ सच की तलाश की जा सके।

...वे संगठन जो तुमने बनाये और छोड़े अब तुम्हारी जिज्ञासा को शान्त नहीं करते, तुम्हें खुशी नहीं देते, तुम्हें उस आंतरिक ऊर्जा और वैभव से नहीं भर पाते जैसा उन्होंने पहले-पहल किया था। तुम्हें एक नई तरह की सक्रियता की ज़रूरत है जो तुम्हारी वर्तमान मानसिक ज़रूरत को पूरा कर सके...''

संतोष चौबे के ताज़े उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' के अंतिम अध्याय 'कॉमरेड मोहन' के ये तीन उद्‌धरण यह बताते हैं कि व्यक्ति, संगठन, राजनीतिक पहचान की प्रतियोगिता, प्रतिबद्धता, ये सब ऐसे तत्व हैं जो एक साथ होने के दावे से शुरू होते हैं, एक साथ रहने या होने का नाटक करते हैं, और अंततः एक दूसरे को तोड़ने-गिराने का खेल खेलते हुए खुद भी टूट और बिखर जाते हैं। विचार या विचारधारा व्यक्ति में जिज्ञासा तो जगाती है, उसे आकर्षित भी करती है लेकिन जब जिज्ञासा और आकर्षण से वह व्यक्ति ऊपर उठ कर बौद्धिक और सैद्धांतिक हस्तक्षेप करने लगता है, अपने निष्कर्ष स्वयं निकालने लगता है, अपने संघर्ष की भूमिका स्वयं चुनने लगता है, तो विचारधाराबद्ध संगठन इस प्रकार उस व्यक्ति को लांछित, अपमानित और बहिष्कृत करते हैं कि व्यक्ति का संगठन और विचारधारा दोनों से ही मोहभंग हो जाता है। एक का मोहभंग मोहन की मौत में होता है तो दूसरे का अपने ही आत्मद्वन्द्व में, अपनी ही बेचैनी में, और अपने ही असहायपन में। इसका अर्थ यह भी है कि राज हो या राजनीति या संगठन वे अपने ढंग से अपनी आज्ञाकारी प्रजा का निर्माण करना ही अपना मुख्य उद्देश्य मानते हैं। इसीलिए शायद फ्रेंच

दार्शनिक लुई अलथ्यूसर ने कहा था-

''विचारधारा सत्ता का औज़ार होती है। विचारधारा ऐसी प्रजा पैदा करती है जो इस प्रतियोगी व्यवस्था में स्वेच्छा से काम करने वाले लोगों का समूह भर होती है।'' (द क्राफ्ट ऑव फिक्शन)

राजनैतिक और विचारधाराबद्ध संगठन किस प्रकार अपनी प्रजा रचते हैं, किस तरह का नियंत्रणवादी और एकांगी अनुशासन पैदा करते हैं और वहाँ किसी भी प्रकार के विरोध, संवाद या विवाद की हालत क्या होती है, इस बात को इस उपन्यास में एक बड़े फलक पर पेश किया गया है और ऐसे पात्र रचे गये हैं, जो आज भी हमारी चेतना में शामिल हैं और जिनके चलन और चरित्र से हम वाकिफ भी हैं। संतोष ने एक प्रकार से यह जोखिम भी उठाया है। वे एक ऐसे पार्टी संगठन, उसके प्रभावशाली नेतृत्व और तंत्र-ग्रस्त एकाधिकार और उसकी कार्यविधि के आंतरिक भेदों और मतभेदों को उजागर करके स्वयं भी एक खतरा मोल ले रहे हैं और अपनी समूची बौद्धिक और कर्मनिष्ठ प्रतिबद्धता के साथ उससे भिड़ना भी चाहते हैं। यह मामूली हिम्मत का काम नहीं है, क्योंकि संगठन में रह कर संगठन की विसंगतियों को इस तरह बेनकाब करना, खतरनाक माना जाता है।

उपन्यास को चैप्टर-दर-चैप्टर पढ़ने पर लगता है जैसे संतोष अपने व्यापक और बहुआयामी अनुभवों का आत्मवृत्त लिख रहे हों। कहा भी जाता है कि उपन्यास अधिकांश रूप से तो आत्मकथात्मक ही होते हैं और यहाँ तक कि उनमें कही गई अन्य-पुरुष की कथा भी प्रथम पुरुष की ही कथा लगती है। ऐसे उपन्यास हिन्दी में हैं जहाँ मनुष्य के अपने आत्म या स्वायत्त का विचारधारा से द्वंद्व है। चित्रा मुद्‌गल का 'आवाँ' यदि ट्रेड यूनियनों से जुड़े अनुभवों की आत्मकथा है, तो गोविन्द मिश्र का उपन्यास 'फूल, इमारतें और बन्दर' व्यवस्था और नौकरशाही में निहित राजनैतिक-प्रशासनिक चरित्र के विद्रूप को बेनकाब करता है। अब प्रश्न यह है कि संतोष चौबे का यह उपन्यास क्या ऐसी ही किसी आत्मकथा का अगला पाठ है? दूसरा प्रश्न यह भी है कि क्या यह उपन्यास किसी विचारधारा और संगठन के प्रति सन्देह और विवेचन का उपन्यास है या उसके ईमानदार विश्लेषण से स्वयं संगठन को आगाह करने और अपने यांत्रिक एवं संवेदनहीन कुचक्र से मुक्त होने की पेशकश है? क्या यह वास्तव में स्वेच्छा से प्रजा बने लोगों की व्यथा-कथा है या स्वायत्त विवेक और लोकतांत्रिक उदारता पर पाबन्दी लगाने के खिलाफ एक चिन्तनशील कार्यकर्ता की वास्तविक चिन्ता से उभरी तर्ककथा?

इन प्रश्नों के उत्तर तो उपन्यास की आंतरिक वस्तु में प्रवेश करने पर ही मिल सकते हैं। अलग-अलग अध्यायों में अलग-अलग नामों से लिखा गया यह उपन्यास एक प्रकार से हर उस व्यक्ति की चरित्र-कथा है जो संगठन का हिस्सा है और संगठन में अपने स्वार्थ एवं समर्पण, साजिश और समर्थन, और अपने विचार या विवेक के साथ प्रतिबद्धता के दावे के साथ मौजूद है। नीति-निष्ठा उस वक्त मर जाती है

जब नियामक शक्तियाँ निरंकुश होने लगती हैं। उपन्यास बार-बार अपने पाठ को खण्डित करता है, प्लॉट को तोड़ता है, लेकिन चरित्रों के व्यवहार में जो पक्ष या विपक्ष के प्रति जड़ता है, उसे भी उभारता है।

अगर पूरे उपन्यास को उसमें निहित वस्तु की दृष्टि से देखा जाए तो लगेगा कि यह उपन्यास-

- कार्तिक से शुरू होकर मोहन के अंत से अंत होती है।
- यह कथा मकबरे से मकबरे तक की कथा भी है जिसमें दोस्त मोहम्मद का मकबरा प्रारंभ में अगर हमारे इतिहास की याद की तरह है तो अंत में एक मरे हुए इंसान की ऐसी कब्र जो सिर्फ मौत का ही अहसास कराती है।
- यह संगठन के रूप और विद्रूप की भी कथा है।
- यह पद से अर्जित कद और उसके अहं से उपजे षड्‌यंत्र एवं स्वार्थ का विवरण है।
- यह कार्तिक के रूप में लेखक के स्वयं के नायकत्व की दास्तान है।
- यह एक बौद्धिक रूप से प्रखर प्रगल्भ इंजीनियर, समाजकर्मी, वैज्ञानिक, शिक्षा और साक्षरता के प्रति समर्पित, पर्यावरण चेतना से युक्त ऐसे बहुआयामी व्यक्ति की कथा है जो अपने अन्दर की आग से परिचालित होना चाहता है।
- यह संगठन की भूमिकाओं और छद्‌मों के सामने असहायपन की कथा है।
- यह पीयूष, नरेन्द्र, रामनारायण, लक्ष्मण सिंह, सरफराज़, नीति, उमा, नताशा, कॉमरेड रमेश और रति आदि अनेक पात्रों में मौजूद दोस्त और दुश्मन, समर्थक और विरोधी तत्वों की ऐसी कहानी है जो नायक के आसपास बुनी तो ज़रूर गई है मगर जिसमें मोहन ज़िन्दगी हार कर भी संगठन को बचा लेता है और कॉमरेड रमेश संगठन की ज़िन्दगी ही दाँव पर लगा देते हैं।
- इसमें प्रेम भी है जो संगठनों में काम करते हुए युवक-युवतियों के मनोविज्ञान को उद्‌घाटित करता है।
- यह भोपाल की उस भयावह गैस त्रासदी की भी कथा है जिसका एक तत्त्व मनुष्यगत संवेदन से भरा है तो दूसरा एनजीओ और संगठनों की भूमिका से और तीसरा भोपाल के इतिहास, भूगोल, जन, जंगल और जल से, महल, तालाब और हेरीटेज से।
- यह लेखक के अपने बौद्धिक होने, कला, संस्कृति, साहित्य, नाटक, संगीत आदि से जुड़े होकर अपनी रुचियों के प्रमाण की

भी कथा है।

इस तरह संतोष का यह उपन्यास इतने अधिक सर्गों में बँट गया है कि पाठ का बार-बार अपनी निरंतरता से खण्डित होकर अलग हो जाना स्वाभाविक है। एक संगठन और उसकी राजनीति से जुड़ी कथा में यदि ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-कला, शिक्षा-साक्षरता और अनेक प्रकार के भौतिक तत्त्वों की भरमार होगी तो कथा अपने मूल संवेदन से तो पृथक हो ही जायेगी। इन तमाम आयामों को एक साथ एक ही कथा में पिरो देने के आग्रह के कारण कसावट कम और बिखराव अधिक हो गया है। यदि कथा मात्र संगठन और राजनैतिक विचारधारागत अन्तर्द्वन्द्व पर ही केन्द्रित होती तो अधिक गहरी संवेदना, अधिक गहरी अनुभूतियों और अधिक बौद्धिक एवं शिल्पगत उन्मेष के साथ व्यक्त हो सकती थी।

कथा को उसके शिल्प और वस्तुगत व्यवहार में देखा जाए तो यह एक प्रकार से अलग-अलग घटनाओं और स्थितियों पर लिखा गया एक अच्छा रिपोर्ताज या दस्तावेज बन पड़ा है। कुछ उदाहरण देखे जाएँ जहाँ संतोष ने अपनी विचार-शक्ति का उपयोग किया है तो लगेगा कि संतोष के पास वह बौद्धिक विवेक है जो किसी भी रचना को उसके व्यक्तिनिष्ठ प्रकार से पृथक् कर वस्तुनिष्ठ बनाता है।

- रामनारायण ने एक बार हँसते हुए कहा भी था हमारे यहाँ आत्मआलोचना के नाम पर आत्म-आलोचना नहीं, बल्कि दूसरे की आलोचना होती है। ::कार्तिक-13::
- वह जानता था कि सरफराज़, विजय सक्सेना और लक्ष्मण सिंह वगैरह उसके खिलाफ ज़हर उगलते रहे हैं और यह नोटिस कॉमरेड मोहन ने उन्हीं के प्रभाव में तैयार किया है। ::कार्तिक-17::
- कार्तिक को लगा, पूरे समाज की व्यवस्था छिन्न-भिन्न करने के लिए सिर्फ एक दुर्घटना काफी होती है। ::संदर्भ भोपाल गैस त्रासदी-कार्तिक-23::
- ज़रूरी नहीं तुम्हारी खोज के निष्कर्ष तुम्हारे होंगे, हर आदमी के अपने निष्कर्ष हो सकते हैं, होते हैं। ::कार्तिक-30::

इन कथनों से संगठन की भूमिका और त्रासदियों में व्यक्ति के चरित्र को संतोष ने जिस ईमानदारी से व्यक्त किया है, उससे उपन्यास आगे बढ़ने के प्रति आश्वस्त करता है।

संतोष ने नीति, रति, उमा, नताशा आदि के प्रेम प्रसंगों का ज़रा रूमानी और अधिक सेण्टीमेण्टल होकर जो विवरण रचा है, वह भले ही संगठनों में कितना भी वास्तविक क्यों न हो, मगर कथा को उसकी केन्द्रीयता से भटकाता है।

कार्तिक और रामनारायण में आपसी समझ है, अपनी-अपनी समझ के साथ ईमानदारी भी है मगर रामनारायण का व्यक्तित्व और अधिक मुखर और प्रभावी बना कर उसमें एक ऐसे व्यक्ति को रचा जा सकता था जो यह साबित करता कि संगठन

यहाँ संतोष अपने नॉस्टेल्जिया को जीवित करते हैं, वे अपनी संस्कृति, अपनी स्मृति, अपने लोकाचार अपनी लोकसंवेदना, अपने पारिवारिक स्नेह आदि सबके साथ समस्त तीज-त्यौहारों को पुनः एक नई आस्था के साथ खड़ा करते हैं और यह साबित करते हैं कि किसी संगठनात्मक विचारधारा से जुड़ने का अर्थ न अपनी बौद्धिक चेतना का आत्मसमर्पण है और न अपनी सांस्कृतिक आस्थाओं से विमुख होना।

केवल तिकड़मों का तंत्र नहीं होता है, बल्कि उसके साथ निष्ठाओं की नैतिकता भी होती है।

'कार्तिक, सरफराज़ और लक्ष्मण सिंह' वाले भाग को तरह-तरह की परिभाषाओं और बौद्धिकता का लबादा उढ़ा दिया गया है, उससे संगठन की जिन विद्रूप विसंगतियों पर संतोष प्रहार करना चाहते थे, वह व्यक्तियों में सीमित हो गयीं। 'नताशा, उमा और रति' नामक खण्ड कथा को उसके एक-सा-पन की ऊब से बचाता है और प्रेम प्रसंगों से बुना हुआ यह खण्ड संगठन और व्यक्ति दोनों की अन्यान्यबद्धता प्रकट करने के साथ यह भी ज़ाहिर कर देता है कि एक व्यक्ति अलग-अलग हालातों में अलग-अलग स्त्रियों के प्रति अपनी निष्ठाएँ कैसे तय करता है, बदलता या छोड़ता है।

'अम्मा, कार्तिक, नीति' नामक खण्ड सर्वाधिक प्रभावशाली इसलिए बन पड़ा है क्योंकि यहाँ संतोष अपने नॉस्टेल्जिया को जीवित करते हैं, वे अपनी संस्कृति, अपनी स्मृति, अपने लोकाचार अपनी लोकसंवेदना, अपने पारिवारिक स्नेह आदि सबके साथ समस्त तीज-त्यौहारों को पुनः एक नई आस्था के साथ खड़ा करते हैं और यह साबित करते हैं कि किसी संगठनात्मक विचारधारा से जुड़ने का अर्थ न अपनी बौद्धिक चेतना का आत्मसमर्पण है और न अपनी सांस्कृतिक आस्थाओं से विमुख होना। गरीब, वंचित, शोषित और पीड़ित जन से संवेदनात्मक संबंध बनाना यदि एक मानवीय संगठन का पहला कर्तव्य है, तो अपने सांस्कृतिक कलात्मक और बौद्धिक जीवन की स्वायत्तता को कायम रखना भी ज़रूरी है, वरना समाज और उसके लोकबोध से कटा संगठन किसी भी दिन अपनी सार्थकता खो सकता है।

अंतिम अध्याय अधिक संवेदनशील हो उठा है। मोहन की आत्महत्या, और वह भी संगठन से ही हताश होकर, यह बताती है कि संगठन में व्यक्ति का जीना-मरना कोई माने नहीं रखता। वहाँ समर्थन बिना शर्त होता है और विरोध कई

बार बिना कारण भी। वहाँ व्यक्ति और संगठन अपने-अपने अहं में टकराते हैं। विश्वसनीय अविश्वसनीय हो उठते हैं, और जो प्रतिबद्ध और आस्थावान हैं, उन्हें जलील होकर संगठन और उसके अधिनायक नायकों से मोहभंग के लिए बाध्य होना पड़ता है। यहाँ उपन्यास अपनी गहराई भी छूता है। साथ ही संगठन की यांत्रिकता को एक ही वाक्य में तब प्रकट कर देता है जब मोहन की अंतिम यात्रा में कॉमरेड मोहन के सिरहाने खड़ी उसकी पत्नी सरिता का दिल्ली से आई एक महिला 'लाल सलाम' के नारे लगाते वक्त हाथ ऊँचा कर देती है। सरिता की संवेदना से संगठन को कुछ लेना-देना नहीं, वहाँ तो मौत भी रोने का हक नहीं देती बल्कि संवेदना को छीन लेती है। उपन्यास केदार के जिस क्रांतिकारी आन्दोलन के स्वप्न के साथ कार्तिक के अन्दर जन्म लेता है, वह स्वप्न मोहन में मर जाता है और कार्तिक में टूट जाता है।

उपन्यास में विस्तार अधिक है, कथा अनेक पाठों में है और अनेक बौद्धिक चेतनात्मक, अकादमिक, वैज्ञानिक और समाजकर्म के आयाम जुड़ जाने से कथा का वस्तुपाठ सार्वभौम न बनकर एक सीमित और प्रतिबद्ध रुचियों के पाठकों को प्रभावित करने में सक्षम है। आत्मकथात्मक और संगठनात्मक विवरणों से भरा यह उपन्यास एक प्रकार से अपना-अपना चेहरा अपनी-अपनी निष्ठाओं के दर्पणों में देखने की एक साहसिक और जोखिम भरी कथा तो अवश्य है लेकिन संतोष के कथाकार से यह आश्वासन भी चाहती है कि वह सतह के यथार्थों से ऊपर उठकर संवेदना के यथार्थों की गहराई में जाएँ।

कुल मिलाकर 'क्या पता कॉमरेड मोहन' अपने समय का एक बेचैन और साहसिक दस्तावेज है।

बहुआयामी यथार्थ का दर्शन

श्याम बहादुर 'नम्र'

साहित्य, कला, विज्ञान, राजनीति, समाज और पारिवारिक रिश्तों के बहुआयामी यथार्थ का दर्शन करना हो तो संतोष चौबे का उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' अवश्य पढ़ना चाहिए। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों की पृष्ठभूमि को आधार बना कर लिखे गए इस उपन्यास का नायक कार्तिक अपने जीवन की तमाम सार्थक कोशिशों, सफलताओं के बावजूद खुद को जीवन के ऐसे तिराहे पर खड़ा पाता है जहाँ वह एक ऐसे योद्धा की उदासी महसूस करता है जिसने एक लंबी लड़ाई लड़ी हो, जिसका शरीर लहूलुहान हो और जिसे अचानक अपने इस लंबे युद्ध की निरर्थकता का अहसास हुआ हो। लेकिन कार्तिक हार मानने को तैयार नहीं है। वह अपने अतीत के अनुभवों को दूसरों के साथ बाँटकर लड़ाई को आगे बढ़ाने के लिए उनकी समीक्षा करता है और उन्हें समेटकर एक दस्तावेज तैयार करता है। 'क्या पता कॉमरेड मोहन' उसी दस्तावेज की एक झलक प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास की समीक्षा, बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों की पृष्ठभूमि तक सीमित न रखकर, आज़ादी से अबतक की पृष्ठभूमि में रखकर करना उपयुक्त होगा।

भारत की आज़ादी का आंदोलन गाँधी जी के नेतृत्व में चल रहा था। लेकिन गाँधी ने जिस आज़ाद देश का सपना देखा था उसमें और 15 अगस्त 1947 को अँग्रेजों द्वारा सत्ता के हस्तांतरण में ज़मीन आसमान का फर्क था। यह फर्क भारतीय संविधान लागू होने के बाद भी कायम रहा क्योंकि शासन के बुनियादी ढाँचे में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पुलिस, प्रशासन, न्याय और शिक्षा की व्यवस्था आज भी मूल औपनिवेशिक रूप में कायम है। अभी भी अँग्रेज़ों के बनाए कानून से देश को चलाया जा रहा है। गाँधी जी ने इच्छा जाहिर की थी कि आज़ादी के बाद कांग्रेस को सत्ता से बाहर रह कर जनता में जागरूकता का कार्यक्रम चलाना चाहिए। लेकिन कांग्रेस ने सत्ता का रास्ता चुना। समाजवादी, साम्यवादी तथा दक्षिणपंथी जनसंघ जैसे राजनैतिक दलों ने भी सत्ता पर कब्जा कर अपनी-अपनी विचारधाराओं के अनुसार देश को चलाने का तय किया। भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक आज़ाद देश माना जाता है जहाँ हर वयस्क को अपनी सरकार बनाने के लिए वोट देने का अधिकार

है। जनता द्वारा चुनी गई सरकार को जनता के विकास के लिए नियम बनाने और उसे लागू करने का अधिकार है। लेकिन जनता द्वारा चुनी गई सरकारें आज़ादी के छः दशक पूरा होने के बावजूद बहुसंख्यक जनता का भला अभी तक नहीं कर पाई हैं। वह अभी भी निरक्षरता, बेरोजगारी, बीमारी, गरीबी और भुखमरी की शिकार है। देश की पचहत्तर प्रतिशत आबादी खेती पर निर्भर है। हर साल हज़ारों किसान आत्महत्या कर रहे हैं। देश में पूँजी बढ़ी है। लेकिन वह मुट्ठी भर उद्योगपतियों के हाथ में सिमट कर रह गई है। भूमंडलीकरण की अर्थनीति के कारण देश की बड़ी पूँजी विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ हड़प रही हैं।

आज़ादी के दो दशक बीतते-बीतते यह स्पष्ट होने लगा था कि देश की वर्तमान व्यवस्था में पूँजीवादी ताकतें मजबूत हो रही हैं। इसी परिदृश्य में कुछ गैर राजनैतिक विकल्पों की तलाश शुरू हुई। इस तलाश में विनोबा भावे ने भूदान-ग्रामदान द्वारा भू-सुधार आंदोलन चलाया तो चारु मजूमदार ने नक्सलबाड़ी में भूमिहीनों को संगठित कर सीधी कार्यवाही द्वारा ज़मीदारों से ज़मीन छीनकर कब्जा करने का आंदोलन चलाया जो धीरे-धीरे अपनी जड़ें जमा रहा है। साठ-सत्तर के आसपास अनेक समाजसेवी संगठन सेवा के पारंपरिक काम से हटकर समाज परिवर्तन की दिशा में आगे बढ़े। छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा ने मजदूर आंदोलन को वेतन-भत्ता तक सीमित न रखकर शराबबंदी, शिक्षा, पर्यावरण की रक्षा से जोड़कर स्थानीय समुदाय को शामिल किया और संघर्ष के साथ निर्माण का रचनात्मक स्वरूप दिया। राजनैतिक दलों में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने केरल और पश्चिम बंगाल में अपनी जड़ें जमाने के बाद साक्षरता और जनविज्ञान का आंदोलन चलाया। भोपाल गैस कांड ने न केवल हज़ारों की जान ली और लाखों को बीमार व अपंग बनाया, बल्कि उसने यह सिद्ध किया कि भारत में जनता का नहीं विदेशी कंपनियों का राज है। आज़ादी अभी दूर है।

इस उपन्यास का नायक कार्तिक एक इंजीनियर है। भारतीय प्रशासनिक सेवा में जाने के लिए वह इतिहास और साहित्य का अध्ययन करता है। इससे उसकी सत्ता के स्वभाव की समझ साफ होती है। वह भोपाल तथा आसपास के ऐतिहासिक अवशेषों को देखकर अतीत को वर्तमान से जोड़ता है, अपने दोस्त केदार की जनसंघर्ष में हत्या हो जाने पर यथार्थ को समझता है और भारतीय प्रशासनिक सेवा में जाने का विचार छोड़कर समाज परिवर्तन के वैकल्पिक रास्ते की तलाश करता है। वह भोपाल गैस कांड के दर्द को वह बिलकुल करीब से महसूस करता है और पाता है कि विज्ञान का किस तरह विकास के नाम पर दुरुपयोग किया जाता है। वह विज्ञान को जन सापेक्ष बनाने के लिए जनविज्ञान व साक्षरता आंदोलन से जुड़ता है। ये सभी कार्यक्रम वह एक वामपंथी राजनैतिक दल के काडर की हैसियत से करता है। प्रदेश में इस दल की पकड़ कमज़ोर होने से दल के सचिव कॉमरेड मोहन परेशान रहते हैं और इस कमज़ोरी की ज़िम्मेदारी कार्तिक पर डालकर उन्हें कारण बताओ

नोटिस थमा देते हैं। इसके पूर्व दिल्ली भेजी गई राजपुर के साक्षरता आंदोलन की गोपनीय रपट में भी कार्तिक पर पार्टी विरोधी गतिविधि का आरोप लगाया गया था, जिसे कार्तिक ने पढ़ लिया था। इस रपट से कार्तिक के मन में अनेक सवाल उठते हैं। वह पूछता है कि यह कौन-सी जनतांत्रिकता थी जिसमें किसी के बारे में मत बनाते समय उससे पूछा तक नहीं गया। यह कौन— सी केंद्रीयता थी कि जिसमें सिर्फ कॉमरेड मोहन केन्द्र में थे, किसी और व्यक्ति या विचार की वहाँ कोई जगह नहीं थी? यह कौन सी पारदर्शिता थी जो खुद गुटों को प्रश्रय देती थी और दूसरों के सामने एकता का दंभ भरती थी? जिस बैठक में कार्तिक को कारण बताओ नोटिस दिया जाता है, उसकी प्रक्रिया का विवरण लेखक ने इस प्रकार दिया है :

'आज की बैठक में सचिव कॉमरेड मोहन खुद उपस्थित थे।... वे बीच की कुर्सी पर बैठे थे। उनके दोनों ओर गोल घेरा बनाकर, टीन की सात कुर्सियाँ रखी गई थीं, जिन पर बाकी लोग बैठने वाले थे। सबको पता था कि किसे कहाँ बैठना है। सरफराज़ सचिव के बाएँ रखी कुर्सी पर ही बैठता था, क्योंकि चर्चा दाहिनी ओर से शुरू कराई जाती थी और उसे आखिर में अपनी बात रखने और दूसरों की बात काटने का मौका मिल जाता था। अगर उसके बाद भी कोई 'लाइन' रखने की ज़रूरत पड़ती तो वह काम सचिव कर दिया करते थे। सबसे पहले एक वरिष्ठ साथी को, जो अंत में 'सबको धन्यवाद' के अलावा कुछ नहीं कहते थे, अध्यक्ष बनाया गया। सचिव ने नोटिस पढ़कर सुनाया जिसमें कार्तिक पर पार्टी को कमज़ोर करने और गुटबंदी बढ़ाने के आरोप लगाते हुए पूछा गया था कि उन्हें पार्टी से क्यों न निकाल दिया जाय। सचिव द्वारा राय माँगने पर सब चुप रहे। रामनारायण ने गुस्से के साथ जब नोटिस का आधार पूछा तो सचिव ने कहा कि इस पर हायर कमेटी ने विचार कर लिया है। जब नताशा ने कहा कि विचार तो पहले हमारी कमेटी में होना चाहिए था तो विजय सक्सेना ने, जिसने सरफराज़ के साथ संगठन पर कब्जा करने के लिए असली गुटबाजी शुरू की थी, और लक्ष्मण सिंह ने, जिन्हें गहरे भ्रष्टाचार के आरोप से सचिव ही बचा सकते थे, हायर कमेटी के निर्णय को सही बताया।'

उपन्यासकार ने लोकतांत्रिक प्रक्रिया से शोषणमुक्त समाज-रचना का दम भरने वाले राजनैतिक दल की बैठक और निर्णय प्रक्रिया का जो वर्णन किया है, वह आमतौर पर सभी दलों और समाजसेवी संगठनों में दिखाई पड़ती है। एक वामपंथी दल की अंदरूनी निर्णय प्रक्रिया किस तरह काम करती है, इस प्रक्रिया में मनोगत व वस्तुगत विचारों में किस प्रकार का अंतर्विरोध काम करता है, किस तरह मनोगत विचार वस्तुगत विचार पर हावी होता है, पार्टी की नीति और कार्यशैली के बीच पार्टी के नेता किस प्रकार अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं, पार्टी के कार्यकर्ता पार्टी में अपनी जगह बनाने के लिए क्या-क्या खेल खेलते हैं, इस पर यह उपन्यास भरपूर प्रकाश डालता है। एक बैठक में वक्ता जनवादी केंद्रीयता का सिद्धांत समझाते हुए कहता है कि उनकी पार्टी अभी भी लोकतांत्रिक है जिसमें हर स्तर पर बहस कराकर

उससे मिले फीडबैक लिये जाते हैं और अंत में जनवादी केंद्रीयता के आधार पर निर्णय लिये जाते हैं। कार्तिक को लगता था कि इससे केंद्रीयता और बढ़ जाती है क्योंकि अंत में थोड़े से बचे लोगों द्वारा लिये गए निर्णय ही आदेश के रूप में नीचे थोपे जाते हैं। कॉमरेड मोहन आलोचना और आत्मालोचना के सिद्धांत को सामने रखते हैं जिसमें आलोचना को हथियार और आत्मालोचना को अपने व्यवहार और कार्यपद्धति में सुधार के लिए उपयोग में लाना था।

कार्तिक को लगता था कि आलोचना को हथियार के रूप में प्रयोग करने से वह मनुपुलेशन का हथियार बन जाती है और अमानवीय बन जाती है। कार्तिक ने अनुभव किया था कि मित्रगण अभी भी आत्मालोचना के नाम पर दूसरों की आलोचना करते थे, क्योंकि वह उनकी तर्कपद्धति में शामिल हो गया था। मास आर्गनाइजेशन के सवाल पर कार्तिक कहता है कि जिस पार्टी की सबसे ज्यादा आलोचना की जाती है, उसने तेरह सौ से अधिक स्कूलों के माध्यम से लाखों बच्चों और उनके अभिभावकों से संपर्क बनाया है, वनवासियों, हरिजनों, शिक्षकों, वकीलों और समाज के अन्य तबकों के लिए छब्बीस अलग-अलग फ्रंट बनाकर समाज में सबसे गहरी पैठ बनाई है। कॉमरेड मोहन उस पार्टी को बुर्जुआ बताते हुए अपनी क्रांतिकारी पार्टी द्वारा उसकी नकल न करने की बात कह कर कार्तिक को चुप करा देते हैं। क्लास में एक युवा जब एलविन टॉफलर के विचारों की पृष्ठभूमि में उनकी किताब का हवाला देते हुए, सूचना प्रौद्योगिकी का जिक्र करते हुए, पार्टी-संगठन में बदलाव की बात करता है, तब कॉमरेड मोहन कहते हैं कि वे फुटपाथ पर बिकने वाली किताबों का जवाब नहीं देते।

कारण बताओ नोटिस के एक महीने के बाद पार्टी सचिव द्वारा कार्तिक को आफिस बुलाकर पूछताछ की जाती है कि उसे राजपुर के साक्षरता आंदोलन की गोपनीय रपट और कारण बताओ नोटिस के बारे में पहले ही जानकारी कैसे मिल गई? नोटिस और यह पूछताछ कार्तिक को पूरी तरह पार्टी से विमुख कर देती है, अगले दिन वह नई रोशनी प्राप्त करने की आशा से साँची जाता है। रास्ते में वह बीते दिनों को याद करता है कि कितने दूर छिटक गए वे दिन। अम्मा और नीति के साथ बिताए वे आनंद, उल्लास और प्रेम से भरे दिन, जब खुशी उसके चारों ओर बिखरी रहती थी। फिर अपने दोस्त केदार के जाने पर, उसकी मिट्टी हाथ में लेकर बदलाव के लिए जारी आंदोलन में अपना जीवन लगा देने वाले दिन, फिर विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के माध्यम से राह तलाशने वाले दिन, और अंत में पार्टी और उसके भीतर के संघर्ष के दिन। क्या वह अपने शुरू के उच्च मानदंडों पर टिका रह सका था? क्या वह उस आम जन से जुड़ा रह सका था जिसके लिए वह काम करना चाहता था? क्या वह घर, समाज, परिवार से कटता नहीं जा रहा था?

और कहाँ थे उसके दोस्त? परियोजनाओं का लगातार विरोध करने वाले सरफराज़ ने उन्हीं के सहारे जीवन जीना शुरू कर दिया था, सरकारीकरण का विरोध

करने वाले लक्ष्मण सिंह अपने आचार-विचार में स्वयं पूरी तरह सरकारीकृत हो चुके थे और पार्टी छोड़कर यहाँ-वहाँ भटकते फिर रहे थे, विवाह एक बंधन है कहने वाली नताशा ने अपना जीवन-साथी चुन लिया था और उसके बाद उसके तमाम विरोध पता नहीं कहाँ गुम हो गए थे, गाँवों की बात करने वाले डॉ. विजय सक्सेना लंबे समय तक शहरों में रहने के बाद शहर में ही अपना क्लीनिक स्थापित करने जा रहे थे, पार्टी में नैतिकता की दुहाई देने वाले कॉमरेड रमेश ने अपने से आधी उम्र की लड़की से दूसरी शादी कर ली थी और अपने इस कार्य को स्वीकार्य बना लिया था। वे सब जैसा बनना चाहते थे, या कहते थे कि वैसा बनना चाहते हैं, उससे बिल्कुल उलट आदमी बन गए थे। तो क्या उनके विचार एक तरह का छलावा थे? एक तरह का झूठ, जो आदमी अपने बचाव में अपने आसपास बुन लेता है? और वास्तव में वे वही हासिल करना चाहते थे जो उन्होंने किया। पर कार्तिक के पास तो वह सब बीस साल पहले ही था। उसे छोड़कर वह पार्टी में आया था, निर्मोही बनकर, एक बेहतर आदमी बनने और बनाने की आस लेकर। तो क्या वह कुछ और बेहतर, भरापूरा, कुछ और प्रसन्न आदमी बन पाया था? यह सब सोचते हुए वह साँची में महास्तूप के पीछे कदंब के पेड़ के नीचे बैठकर अपने दिवंगत मित्र केदार से कल्पना में जीवन संबंधी दर्शन पर बात करता है। उसी समय उसे फोन से पता चलता है कि कॉमरेड मोहन ने आत्महत्या कर ली। इस सूचना से स्तब्ध वह चल पड़ता है और कॉमरेड मोहन के पोस्टमार्टम से लेकर दाह संस्कार तक में शामिल होता है। कॉमरेड मोहन के कुर्ते की जेब से मिले सुसाइड नोट से पता चलता है कि वे पार्टी का काम ठीक से न कर पाने से दुखी थे। कॉमरेड मोहन की शवयात्रा में कोई कहता है कि यह सब कॉमरेड रमेश का किया-धरा है। वही कॉमरेड रमेश जिन्होंने कॉमरेड मोहन को आगे बढ़ाया, अपने अवचेतन में शायद उसे अपने प्रभाव में भी रखना चाहते थे। शायद कॉमरेड मोहन के मन में वैसी ही निराशा और खालीपन भर गये थे जैसे कल तक कार्तिक के मन में थे। कार्तिक को लगा कि यदि कॉमरेड मोहन होते तो उसने उन्हें देने के लिए जो स्पष्टीकरण लिखा था, उसे देखकर कहते कि उनके पास भी अपनी फाइल है जिसमें वही है जो कार्तिक की फाइल में है- माँ, प्रेम, संगीत, साहित्य और दोस्त।

यह उपन्यास सामान्य भाषा में लिखा गया दस्तावेज जैसा लगता है। उपन्यास का कथानक कार्तिक के बचपन से अधेड़ अवस्था तक के पारिवारिक प्रेम व स्नेह के साथ-साथ सामाजिक जीवन में समझदार व नादान दोस्तों के संबंधों पर तो प्रकाश डालता ही है, यह देश की विकासनीति, अर्थनीति और सरकारी तौर-तरीकों को सहज रूप से स्पष्ट करता है। इस उपन्यास में एक ओर भोपाल गैस त्रासदी के कारण पीड़ितों के दुखों का मार्मिक वर्णन है तो दूसरी ओर है अयोध्या की बाबरी मस्जिद गिराने के बाद भोपाल में भड़की हिंसा का दुख भरा चित्रण और इन सब पर राजनीति की सिंकती हुई रोटियाँ।

उपन्यास में राजनीतिक उठापटक के साथ बदलाव के लिए वैकल्पिक रास्ते की तलाश में लगी तत्कालीन स्वयं सेवी संस्थाओं का भी जिक्र है। 'टाटा इंस्टीट्यूट ऑव फंडामेंटल रिसर्च' के वैज्ञानिक प्रोफेसर अनिल कुमार का नेहरूवियन विकास के मॉडल से मोहभंग होता है तो वे सामाजिक बदलाव के लिए वैकल्पिक रास्ते की तलाश में लगी एक संस्था विकास भारती शुरू करते हैं। प्रोफेसर अनिल कुमार कार्तिक से कहते हैं कि विज्ञान कोई राजनीति निरपेक्ष चीज नहीं है। '...सामान्य रूप से हमारे समय में विज्ञान का उपयोग शक्तिशाली को और सशक्त बनाने तथा निर्बल का बल और क्षीण करने में हो रहा है। लेकिन इस दिशा को जनपक्षीय विज्ञान की दिशा में बदला भी जा सकता है।' कार्तिक को विकास भारती के रचनात्मक कार्य अनुकरणीय लगते हैं और जब वह लौटने लगता है तो अनिल कहते हैं कि कोई भी काम करो लेकिन देखना कि वह स्थानीय ज़रूरतों और अपेक्षाओं के अनुरूप हो। यह भी ध्यान रखना कि हम लोग पहले वैज्ञानिक हैं, फिर सामाजिक कार्यकर्ता। हमारे काम व हस्तक्षेप में हमारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिखना चाहिए।

सामाजिक बदलाव के लिए वैकल्पिक रास्तों की तलाश में लगे समाजकर्मियों के साथ की गई चर्चाएँ हों, राजनीति के दर्शन पर केदार के साथ हुई काल्पनिक बातचीत हो या कार्तिक के नाम फादर विलियम्स का लंबा पत्र, जिसमें नक्सलवादी दल की युवती रति के साथ के कार्यों व दोनों के प्रेम प्रसंग का ज़िक्र था, सबके सब दस्तावेज की तरह उन सभी के लिए मार्गदर्शन का काम करेंगे जो सामाजिक बदलाव में कम से कम गलतियाँ कर सावधानी से आगे बढ़ना चाहते हैं।

जनान्दोलन और वाम राजनीति
सुरेश पंडित

उपन्यास को पूँजीवादी युग का महाकाव्य कहा जाता है। लेकिन पूँजीवाद के उद्भव से लेकर पतनशीलता के ऐतिहासिक काल तक योरोप में बुर्जुआ उपन्यास के विकास और पतन की महागाथा का जैसा सांगोपांग विश्लेषण रैल्फ फॉक्स ने अपनी छोटी सी पुस्तक 'नॉवल एण्ड दि पीपुल' में किया है, उसे बेजोड़ माना जाता है। वे उपन्यास को केवल कथात्मक गद्य ही नहीं मानते। उनका कहना है कि यह मानव के जीवन का गद्य है। यह ऐसी पहली कला है जो मनुष्य के समग्र रूप को अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा करता है। कोई उपन्यासकार इस दुनिया को जीवंत व गतिशील बनाये रखने वाले मनुष्यों की, उनके समाज की समस्याओं से स्वयं को बेखबर नहीं रख सकता। वह अनुभव करता है कि आँखें, कान और वाणी वस्तुतः चेतना के ऐसे संवेदनशील अंग हैं जो बाह्य जगत से अनिवार्यतः अनुप्राणित होते हैं। वे आध्यात्मिक जगत के निष्क्रिय चाकर मात्र नहीं हैं। वह समझने लगा है कि काल के जिस दौर में स्वयं मानव जाति के भाग्य का फैसला होने वाला हो, वह आँख, कान, मुँह को बन्द कर चैन से बैठा नहीं रह सकता। 'क्या पता कामरेड मोहन' संस्थाओं विशेषकर वामपंथी संस्थाओं में अनुशासन के नाम पर बढ़ती जड़ता, जोड़तोड़ कर जैसे तैसे बनाई रखी जाने वाली यथास्थिति के विरुद्ध समसामयिक उद्वेलनों के दबाव से उत्पन्न चेतना के विस्फोट को शब्दांकित करने वाली एक ऐसी महागाथा है जिसकी घटनाएँ काफी अंशों में सचाई के निकट हैं और पात्र भी लगभग वैसे ही हैं जैसे वास्तव में वे थे। इस तरह लेखक सन्तोष चौबे अपनी निजी और अपने संगी साथियों की उन प्रतिक्रियाओं को इस उपन्यास में बड़ी निरासक्ति के साथ प्रकट करने में सफल होते दिखाई देते हैं जो विभिन्न जनान्दोलनों और उनके प्रति वामदलों के द्वारा अपनाए गये रवैयों के फलस्वरूप उपजी थीं।

भोपाल गैस त्रासदी, जन विज्ञान आन्दोलन और संपूर्ण साक्षरता अभियान, तीनों पिछली सदी के ऐतिहासिक कालक्रम के ऐसे महत्वपूर्ण अध्याय हैं जिन्होंने भारतीय युवाओं को कुछ सार्थक करने का नायाब अवसर दिया था। आश्चर्य है इन तीनों ही अवसरों का उपयोग वामदलों ने नहीं किया। गैस त्रासदी से भोपाल के

लगभग सभी निवासी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित हुए और उनकी सेवा/सहायता के लिए स्थानीय व बाहर के सैकड़ों युवा सामने आये। लेकिन अफसोस है इन युवकों के सामाजिक कार्यों को न किसी राजनैतिक दल ने मान्यता दी और न इनकी ऊर्जा का सही ढंग से इस्तेमाल करने में रुचि दिखलाई। जन विज्ञान आन्दोलन की चेतना यात्राएँ जहाँ-जहाँ भी गईं लोगों को जिज्ञासु बनाने, उन्हें रूढ़ियों से मुक्त करने में सफल हुईं। उन्होंने वैज्ञानिक समझ बढ़ाने और परम्परा के नाम पर फैलाये जा रहे अन्धविश्वासों का परित्याग करने का उत्साह दिखाया पर मुख्यधारा की राजनैतिक पार्टियों ने, खास तौर पर उन वामदलों ने, जिनका दर्शन ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर खड़ा है, इस काम को आगे नहीं बढ़ाया। यही हश्र संपूर्ण साक्षरता अभियान का हुआ। इस अभियान की अगुवाई केरल शास्त्र साहित्य परिषद् के दिशा-निर्देश पर बनी भारत ज्ञान विज्ञान समिति तथा अन्य इसी तरह की संस्थाएँ कर रही थीं। इसके अध्यक्ष एम.पी. परमेश्वरन का अपने कार्यकर्ताओं से बार-बार यही कहना था कि यह अभियान हमें एक ऐसा मौका उपलब्ध करवा रहा है जिससे हम गाँव-गाँव में जाकर लोगों से न केवल सीधे संवाद कर सकते हैं, बल्कि उनके सुख-दुख में संभागी हो उनकी समस्याओं की भी फर्स्ट हैंड जानकारी पा सकते हैं। इसमें काम करते हुए हम अपना एक ऐसा व्यापक नेटवर्क तैयार कर सकते हैं जो अभियान के समाप्त हो जाने के बाद भी जनचेतना जगाये रखने और अपने अधिकारों को पाने के लिए लोगों को संघर्षरत किये रखने के काम में आ सकता है। पर अफसोस है अभियान तो अपने लक्ष्य पाने में असफल रहा ही, इससे जुड़े हजारों ईमानदारी से प्रतिबद्ध लोग भी किसी समुचित संगठन के न होने के कारण इधर-उधर बिखर गये।

उपन्यास का नायक कार्तिक इन्हीं परिघटनाओं की उपज है। इन्हीं के चलते उसकी प्रतिभा परवान चढ़ती है और अपनी अदम्य ऊर्जा के बल पर वह कई अत्यन्त कठिन लेकिन महत्वपूर्ण कामों को अंजाम देता है। लेकिन आखिर में स्वयं को हताश, खाली हाथ पाता है। यहाँ तक कि उसके अधिकतर संगी-साथी भी उसका साथ छोड़ जाते हैं। इस तरह कार्तिक के उत्थान और पतन की कहानी कहते हुए लेखक एक तरह से वामदलों की उस आत्म केन्द्रित कार्यशैली के यथार्थ को अनावृत करता है जिसके चलते वे आज भी वहीं खड़े हैं जहाँ पच्चीस साल पहले थे। पश्चिम बंगाल, केरल और त्रिपुरा के अलावा अन्य किसी राज्य में इनकी उपस्थिति कोई खास महत्व नहीं रखती।

कार्तिक की सोच शुरू से यह रहती है कि जनान्दोलनों में सक्रिय भागीदारी से पार्टी को मजबूत किया जाय और हिन्दी पट्टी में उसके सिकुड़ते जनाधार को व्यापक बनाया जाय। यही सोच उसे दिन-रात इस तरह के कामों में जुटे रहने की प्रेरणा देती है। वह काम करता है साथ ही अपनी पार्टी के पदाधिकारियों को बार-बार यह समझाने की कोशिश करता है कि वे लोगों से सीधे जुड़े मुद्दों को अपने प्लेटफार्म

से तो उठायें ही, उनके मंचों का भी उपयोग करें। वह दलितों, आदिवासियों और महिलाओं के अधिकारों को लेकर भी संघर्ष करने की बात पार्टी से करता है। पर उसकी इन बातों को विशेष तवज्जो नहीं दी जाती। उलटे यह बात पहले अफवाह के बतौर और बाद में सुनियोजित ढंग से फैलाई जाती है कि यह सब कार्तिक अपनी छवि बनाने, पार्टी में अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरी करने और अन्य कार्यकर्ताओं को तुच्छ साबित करने के लिए कर रहा है। कॉमरेड मोहन जो पार्टी की स्थानीय यूनिट के प्रभारी हैं, शुरू से कार्तिक में अपना एक प्रतिद्वन्द्वी उदित होता हुआ देखते हैं। इसलिए उसके कामों की या तो उपेक्षा करते हैं या आलोचना और केन्द्रीय नेतृत्व का हाल वही है जो अन्य बुर्जुआ पार्टियों का है। राज्य प्रभारी जो कुछ कहते हैं उसी तरह केन्द्र कार्रवाई करता है। उसकी कार्यशैली ऐसी संवेदनशून्य, पूरी तरह से यांत्रिक होती है कि उसमें अधीनस्थ प्रभारियों की रिपोर्टों से अलग कुछ सोचने-समझने के लिए जगह होती ही नहीं। वह कभी यह मानने को तैयार ही नहीं होता कि प्रभारी ईर्ष्याग्रस्त या गलत भी हो सकता है कि वह जिस पर आरोप लगा रहा है, उसकी सचाई जानने के लिए मामले की निष्पक्ष जाँच भी करवाई जा सकती है।

कॉमरेड मोहन आखिर कार्तिक को पार्टी से निलंबित करवाने में कामयाब हो ही जाते हैं क्योंकि उन्हें लगता है जब तक वह रहेगा, उनके लिए कई तरह के खतरे पैदा होते रहेंगे। उसकी बढ़ती ख्याति, फैलती लोकप्रियता, पार्टी में उसका बढ़ता समर्थन, ये सब उन्हें अपने लिए संकट बनते दिखाई देते हैं। उन्हें लगता है उसके सामने उनका कद निरन्तर घटता जा रहा है। यद्यपि उनके अपने चाटुकार सहयोगी उनके अहम को फुलाये रखने की भरसक कोशिश करते रहते हैं पर उनका हीनताबोध उन्हें चैन नहीं लेने देता।

जहाँ तक कार्तिक का सवाल है, उसकी किसी को अपदस्थ करने की, किसी के कद घटाने या अपना वर्चस्व बढ़ाने की कोई इच्छा नहीं है। वह पार्टी की कुन्द होती चेतना, पहल करने की क्षरित होती क्षमता और बढ़ती आत्ममुग्धता को दूर कर उसे सच्चे अर्थों में जन-साधारण के सुख-दुख से जुड़ी एक लोकतांत्रिक पार्टी बनाना चाहता है। उसे कॉमरेड मोहन से शिकायत तभी होती है जब वे उसकी बातों का, कामों का गलत अर्थ लगाते हैं, अपने चापलूस कार्यकर्ताओं द्वारा फैलाई गई उसकी निन्दा को परोक्षतः प्रोत्साहन देते हैं और पार्टी के एजेण्डे के नाम पर उसके जनान्दोलों से जुड़ाव को बहुत अच्छा नहीं मानते।

अन्त में कॉमरेड मोहन को लगता है, उन्होंने ठीक नहीं किया। वे आत्महत्या कर लेते हैं इस नोट के साथ कि वे पार्टी का काम ठीक से नहीं कर पा रहे हैं इसलिए और जीना नहीं चाहते। पर वास्तव में कारण यह नहीं है। कम उम्र में ही उन्हें पार्टी में ऊँचा पद मिल जाता है और यही उन्हें एक सहृदय इन्सान से एक ऐसा राजनेता बना देता है जो हमेशा अपने चापलूस सहयोगियों के आँख से देखता है और उनके कानों से सुनता है। वह न केवल अपने पद पर सुरक्षित बने रहना चाहता है बल्कि

केन्द्रीय नेतृत्व को भी यह दिखाते रहना चाहता है कि उससे अच्छा राज्य का काम करने वाला और कोई नहीं है। ऐसा करते हुए वह माँ के वात्सल्य, पत्नी के प्रेम, संगीत और साहित्य में अपनी रुचि तथा यार-दोस्तों के असली प्यार को भी गंवा चुका है। पर क्या पद और प्रतिष्ठा ही आदमी को जिलाये रखने के लिए पर्याप्त होते हैं? इन्हें बनाये रखने के लिए जो कुछ वह खो देता है, क्या उसका कोई मूल्य नहीं होता है? क्या वह उसके लिये घाटे का सौदा नहीं होता? कार्तिक जिस तरह अन्त में अकेला रह जाता है, वही अकेलापन कॉमरेड मोहन को भी बेचैन करता है। कार्तिक दुबारा जिन्दगी शुरू करने के लिए फिर से ऊर्जा एकत्र करता है। आत्मनिरीक्षण उसकी भावी राह भी तय कर देता है पर कॉमरेड मोहन ऐसा नहीं कर पाता और उसे मौत के अलावा कहीं राहत दिखाई नहीं देती। पर उसकी मौत कार्तिक को भी अन्दर तक हिला देती है और जो थोड़ी बहुत नाराजगी उसमें कॉमरेड मोहन के प्रति पैदा होती है, वह उसे धो देती है। इस तरह यह उपन्यास कार्तिक और कॉमरेड मोहन के माध्यम से वामदलों की रीति-नीतियों में आ गईं विकृतियों का एक सुसंगत विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

नयी सदी में उपन्यास
संतोष चौबे

मेरा पहला उपन्यास 'राग केदार' पिछली सदी के आखिरी दशक में तथा दूसरा उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' नई सदी के पहले दशक में आया और दोनों ने ही पाठकों और आलोचकों का पर्याप्त ध्यान आकर्षित किया।

इस पुस्तक में मेरी कोशिश है कि इन दोनों उपन्यासों पर लिखे गए आलेखों, समीक्षाओं और उन पर हुए संवाद को एक जगह लाया जाए जिससे उनकी आलोचना का एक संतुलित स्वरूप सामने आ सके। मेरे लिए ये एक साथ ही अपने उपन्यासों के पास जाने और उनसे दूर होने की प्रक्रिया है। क्या वे वामपंथ की राजनीतिक कार्य पद्धति पर एक सार्थक बहस खड़ी कर पाते हैं जैसा कि कुँवरपाल सिंह ने कहा था या वे अस्मिता की तलाश में उलझ कर रह जाते हैं जैसा राजेन्द्र यादव मानते हैं? फिर अस्मिता की ये तलाश क्या है? क्या वह आधुनिक और उत्तर आधुनिक संदर्भों में अलग-अलग करके देखी जा सकती है, जैसा कि युवा आलोचक अरुणेश शुक्ल कहते हैं या दलित और स्त्री विमर्श ही उसके सही माध्यम हो सकते हैं?

उत्तर जो भी हो दोनों ही उपन्यासों ने व्यापक बहस को जन्म दिया जिसमें उपन्यासकार, आलोचक राजेन्द्र यादव, प्रख्यात मार्क्सवादी आलोचक कुँवरपाल सिंह एवं कथाकार नमिता सिंह, समीक्षक, विचारक सुरेश पंडित, सामाजिक कार्यकर्ता श्याम बहादुर नम्र, कला समीक्षक प्रह्लाद अग्रवाल, युवा आलोचक अरुणेश शुक्ल तथा स्त्री विमर्श से संबद्ध साधना अग्रवाल जैसे समीक्षकों और विचारकों ने हिस्सा लिया। भोपाल में 'क्या पता कामरेड मोहन' पर वृहद वैचारिक गोष्ठी का आयोजन हुआ जिसमें राजेन्द्र यादव, कुँवरपाल सिंह, नमिता सिंह, सुरेश पंडित, कमला प्रसाद, मनोहर वर्मा, रमेश दवे तथा अरुणेश शुक्ल उपस्थित थे। 'हंस', 'कथन', 'वर्तमान साहित्य', 'शेष', 'अकार', 'प्रेरणा' तथा 'इंडिया टुडे' जैसी पत्रिकाओं ने तथा 'हिन्दुस्तान', 'राष्ट्रीय सहारा', 'जनसत्ता' एवं 'पहले पहल' जैसे पत्रों ने इन पर व्यापक विमर्श किया। मैं जानना चाहता था कि इन सबको साथ लाने से क्या एक संपूर्ण और भरा पूरा परिदृश्य बनता है और क्या नई सदी में उपन्यास की किसी नई ज़मीन की पहचान बनती है। यह पुस्तक इस दिशा में एक प्रयास है।

और फिर भी आलोचकों और विचारकों ने एक बड़े फलक पर अन्य उपन्यासों की बात भी की है। स्वयं प्रकाश का 'बीच में विनय', सृंजय की कहानी 'कॉमरेड का कोट' और अस्मिता के संदर्भ में 'अज्ञेय' के 'शेखर एक जीवनी' चर्चा में बार-बार आए हैं। राजेन्द्र यादव ने रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'गोरा' तथा उदय प्रकाश की कहानी 'और अंत में प्रार्थना' का व्यापक तुलनात्मक प्रयोग किया है। जैनेन्द्र, परसाई और मुक्तिबोध के संदर्भ भी बार-बार आए हैं। विनोबा, जयप्रकाश और मार्क्स के संदर्भ में आज की राजनीति का गहन विश्लेषण हुआ है और दॉस्तोयेवस्की, रिचर्ड बाख तथा कामू भी चर्चाओं में जगह पाते हैं। उदय प्रकाश, प्रियंवद, मनोज रूपड़ा और निर्मल वर्मा तथा इलाचन्द्र जोशी के संदर्भों में बहस को नये कोणों से प्रकाशित करने की कोशिश की गई है। इस तरह ये पूरी बहस नई सदी के उपन्यास के लिए एक व्यापक भाव भूमि तैयार करती है।

मैं अपनी ओर से दो तीन बातों को इस भूमिका के अंत में कहूँगा लेकिन पूरी पुस्तक में बहस की दिशा की पहचान के लिए आइये कुछ प्रतिनिधि वक्तव्य देख लेते हैं-

वैश्विक परिदृश्य में पिछले दो दशकों की सबसे महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक थी सोवियत संघ का विघटन एवं उसका वाम राजनीति पर प्रभाव अरुणेश शुक्ल इसे एक महत्वपूर्ण कारण मानते हैं :

'नब्बे के दशक में सोवियत संघ के विघटन के बाद सबसे अधिक बेचैनी शायद विचारों के क्षेत्र में ही देखी गयी। सोवियत संघ का मॉडल चाहे जिन कारणों से टूटा हो, बुद्धिजीवियों, खासकर भारत के बुद्धिजीवियों में सबसे बड़ा कारण विचारधारा में कमी को माना गया। 'फेल्योर ऑव ग्रेट टेक्स्ट' की अवधारणा हालाँकि पुरानी थी लेकिन सोवियत संघ के पतन के बाद जैसे उसने नयी चमक-दमक के साथ लोगों के मस्तिष्क में जगह बनायी। 'ग्रेट टेक्स्ट' के असफलता के कारणों के पड़ताल का प्रयास हिन्दी साहित्य में भी हुआ। स्वयं प्रकाश का 'बीच में विनय', सृंजय का 'कॉमरेड का कोट' और संतोष चौबे के 'राग केदार' का प्रकाशन वर्ष लगभग एक ही है। इन तीनों रचनाओं में जो सबसे कॉमन बात है, वह यह कि इसमें मार्क्सवाद किसी स्वप्न अथवा यूटोपिया के बतौर न आकर एक अंतर्विरोधपूर्ण विचारधारा के रूप में सामने आता है। यह अलग बात है कि इन तीनों रचनाओं के अंतर्विरोध के आधार और सूत्र अलग-अलग हैं। 'बीच में विनय' जहाँ मार्क्सवाद की वैचारिकी और ऐक्टिविज्म के द्वंद्व को सामने लाता है, वहीं 'कॉमरेड का कोट' संसदीय राजनीति और सशस्त्र क्रांति के द्वंद्व को सामने लाता है। और इन दोनों से अलग संतोष चौबे अपने उपन्यासों में 'ग्रेट टेक्स्ट' की असफलता के कारणों की बहुस्तरीय पड़ताल जिसमें कि सिद्धांत और एक्टीविज्म का द्वंद्व, पार्टी के भीतर की गुटबाजी, विचारों के प्रसार की आवश्यकता आदि है, के साथ-साथ विज्ञान की जनपक्षधरता की आवश्यकता को भी चित्रित करते हैं, इन सबकी व्यापक विवेचना

करते हैं साथ ही उनके उपन्यासों में एक अच्छे मार्क्सवादी और बुरे मार्क्सवादी का द्वंद्व लगातार चलता है। हम यह भी कह सकते हैं कि इन कारणों के पड़ताल की शुरुआती कोशिश में 'राग केदार' में जहाँ एक हिचक है वही कोशिश 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में ज़्यादा तार्किक व विचारधारात्मक स्तर पर आती है।'

लेकिन राजेंद्र यादव के लिए अस्मिता की तलाश एवं व्यक्तिवाद एक प्रमुख चुनौती की तरह हैं :

'बहुत दिनों से मैं हिस्ट्री ऑव इंडिविजुअॅलिटी जैसी किसी किताब की तलाश कर रहा हूँ। हो सकता है, दर्जनों हों, कैसे किसी समुदाय में कोई व्यक्ति उठता और क्रमशः व्यक्तित्व बनता चला जाता है। शायद बहुत कम ऐसा होता है कि घर-परिवार या समाज की स्वीकृति से कोई सबसे अलग बनकर खड़ा हो पाया हो। जो विशेषताएँ व्यक्ति को औरों से अलग करती हैं, वे प्रारंभ में तो कौतूहल और सम्मान अर्जित करती हैं मगर जैसे-जैसे ये उसे और विशिष्ट बनाती जाती हैं, व्यक्ति बिरादरी-बाहर और अजूबा होता चला जाता है। शीघ्र ही खुद उसे लगता है कि वह अगर शेष लोगों के स्तर पर आएगा तो सामान्य और साधारण होकर रह जाएगा। जबकि वह सबसे ऊपर और महान होने के सपनों से लैस विशिष्ट प्रतिभा लेकर पैदा हुआ है। जब भी उसने कुछ ऐसा किया है जो पहले से स्वीकृत विश्वासों से अलग है, वह हास्य और उपहास का पात्र बना है, उसे पगलैट, सिरफिरा और स्वप्नजीवी होने के आरोप सुनने पड़े हैं। गैलिलियो, कोपरनिकस जैसों को तो पादरी लोगों के आक्रोश झेलने पड़े हैं- उन्हें सजा-ए-मौत तक सुनाई गईं, खुद अपने यहाँ आर्यभट्ट के साथ भी यही हुआ था।

सामान्य और विशिष्ट का यह द्वंद्व हमें रोज तरह-तरह के रूपों में दिखाई देता है। अपने 'रिबैल' नाम के प्रबंध में कामू ने अनेक क्षेत्रों के इन विद्रोही विशिष्ट व्यक्तियों का विस्तार से विवेचन किया है। वे समाज और व्यवस्था से लड़ते और हारते हुए ही महान हुए- उनके पास अपना एक विज़न होता है जिसे प्राप्त करने के लिए अनेक स्तरों पर, यहाँ तक कि स्वयं अपने से भी जूझना पड़ता है। कभी यह विज़न स्पष्ट होता है तो कभी शब्दहीन संवेदना की बेचैन आकांक्षा के रूप में इसे अपने भीतर पहचानने की कोशिश की जाती है। एक आग है जिसे न भीतर सँभाले बनता है न बाहर दिखाए-मगर वह है कि आसपास और अपने आपको निरंतर जलाए रखती है- कबीर सारी रात जागता और रोता है। वह उसे सही वाणी भी तो नहीं दे पाता। 'जीनियस एंड द ट्रैडीशन' में इलियट ने इसी विशिष्ट प्रतिभा को खोजा था तो रामचंद्र शुक्ल ने व्यक्ति वैचित्र्य कहकर इसे अस्वीकार कर दिया। कॉलिन विलसन ने अपने 'आउट साइडर' में इस 'अजनबी' की सारी जन्म-पत्रियाँ खँगाल डालीं।

हर आदमी अपने आपमें विशिष्ट है, मगर असुविधाएं तब होती हैं जब वह

एक विशिष्टता को वाणी या कर्म में व्यक्त करता है और प्रायः इतनी दूर निकल जाता है कि वापस लौटना मुश्किल हो, कहते हैं कि सामंती-समाज से लड़ते हुए ही व्यक्ति ने अपनी विशिष्टताएँ स्थापित की हैं- बे-पहचान और बे-चेहरा समूह के बीच अकेले खड़े होने का साहस दिखाया है, हाँ, पूरी कीमत चुकाकर। कभी वह समाज से भागा है तो कभी वहीं रहकर यातनाएँ सही हैं। जो स्थापित मूल्यों को आत्मसात करते हुए विशिष्ट बनें, उन्होंने अपने आप को पूज्य और महान् के रूप में प्रतिष्ठित किया। मगर जो उन मूल्यों को तोड़कर विचित्र बनें, उन्होंने ही समाज को बदला। वे भविष्यवादी थे और स्थापित जड़ता को तोड़कर स्थिति को गतिमान बनाते थे। मुहावरा है, 'गुड इज़ द एनिमी ऑफ ग्रेट'। राम 'गुड' होने के उदाहरण हैं तो कृष्ण ग्रेट होने के; क्योंकि कृष्ण हर स्थापित नैतिकता और मर्यादा को तोड़ते हैं। वे 'गत्वर' (डायनैमिक) स्वप्नद्रष्टा व्यक्तित्व हैं। राम स्थिर, गतिहीन अतीतवादी 'महापुरुष'।

कहा जाता है कि रैनेसाँ उन्हीं व्यक्तियों से बना है जो समाज को नया सोच और नया जीवन दे रहे थे- उनके मन में भविष्य को लेकर कुछ सपने थे और वे उन्हें पाना चाहते थे, भारतीय समाज में भी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं के पूर्वार्ध में उन्हीं डायनैमिक लोगों की पूरी 'गैलेक्सी' है। यह वही समय है जब हमारी जड़ सामंती सभ्यता आधुनिक आक्रामक सभ्यता के संपर्क में आई। हो सकता है स्वीकृति से पहले ये लोग अनफिट, अजनबी या जटिल मनोविज्ञान के चलते अपमानित-प्रताड़ित हुए हों। अपनी हताशा में उन्होंने 'यदि तेरी पुकार सुनकर कोई नहीं आ रहा तो अकेला ही चल' जैसे गीतों में अपनी व्यथा को बहलाया हो। मगर बौद्धिक जगत में उन्होंने ऐसी व्यापक बहसों की शुरुआत जरूर की, जो समाज को बदल रही थीं।

भारत में इन द्वंद्वों का अद्वितीय उपन्यास 'गोरा' और व्यक्ति विवेकानंद हैं। गोरा भारत के दर्शनों और आध्यात्मिक विमर्शों की ऊर्जा को अपने सुदर्शन आर्य-व्यक्तित्व और औपनिषदिक ज्ञान के साकार प्रतीक की तरह सभी को चकित-चमत्कृत करता है। वह देश की दारुण वास्तविकताओं से ऊपर है, मगर इन्हीं वास्तविकताओं का सीधा साक्षात्कार उसकी सारी 'महानता' को चकनाचूर कर देता है। वह सुपीरियर रेस के ध्वंस का उपन्यास है। इसी विमर्श का सबसे बड़ा रूपक चंद्रकांता श्रृंखला के उपन्यास हैं जो सामंती भव्यता और महलों की जालसाज़ियों से शुरू होकर औद्योगिक युग तक की यात्रा करते हैं। वहाँ 'भूतनाथ' दोनों सभ्यताओं के बीच की कड़ी है। बाद में तो प्रेमचंद, जैनेन्द्र सीधे ही विमर्शवादी उपन्यासों से जूझते हैं। सामंती समाज के मूल्यों संस्कारों और नए समाज से मुठभेड़ में जो कुछ लिखा, सोचा गया वह उन्हें 'समस्यामूलक' उपन्यास का नाम देता है। 'चित्रलेखा' स्थापित नैतिकताओं की अस्वीकृति का उपन्यास है, जिसकी अगली कड़ी 'दिव्या' है। मगर इन सबसे अलग है 'शेखर' - व्यक्ति और समाज, इतिहास और व्यक्ति के द्वंद्वों को शेखर जितने तलस्पर्शी और तत्त्वबेधी धरातल पर उठाता है उतना शायद

ही कोई दूसरा उपन्यास करता हो। वह आत्मिक और तात्विक सवालों से जूझता है। यह वह समय है जब इस व्यक्तित्व के साथ 'हीरो', 'जीनियस' या 'सुपरमैन' जैसे विशेषण जुड़ गए हैं- यह व्यक्ति अपने को ईश्वर से काटकर अपनी नियति और स्वतंत्रता को स्वयं अपने लिए तय करता है। नियति और स्वतंत्रता के इस द्वंद्व को पूरी दार्शनिकता के साथ उठाते हैं अस्तित्ववादी विचारक, जो संसार की अतार्किकताओं से गुज़रते हुए 'शून्य' तक पहुंचते हैं। 'एब्सर्ड' से चलकर 'नथिंग-नेस' तक की यह यात्रा, 'चॉयस ऑफ फ्रीडम' की अवधारणा को 'फ्रीडम ऑफ चॉयस' तक ले जाती है। इसे ही कामू अंततः मैटाफिजिकल स्युइसाइड कहकर संन्यास और आत्महत्या के चुनाव तक पहुँचाता है, और परम शौर्य के रूप में गौरवान्वित करता है। आदमी न अपने जन्म को चुन सकता है, न परिवार और परिवेश को; मगर वह अपनी मृत्यु तो चुन ही सकता है- हताशा और व्यर्थता की यंत्रणा से नहीं, पूरे होशोहवास में सोच-समझकर, क्योंकि अपनी बनावट में वह इस दुनिया का व्यक्ति है ही नहीं-वह बाहरी, अजनबी और अजूबा है। वह संसार और समाज के सारे गुरुत्वाकर्षणों से मुक्त हो चुका है। इस श्रेणी में अगर अपनी शर्तों पर जीने वाले 'नदी के द्वीप' का भुवन है तो अपनी अद्वितीयता को लेकर संवेदनशील निर्मल वर्मा के नायक, जो अपने निजी एकान्त में अतीत और अंतर्जगत को कुछ गिने-चुने संबंधों के माध्यम से अपने लिए आविष्कृत करने और पहचानने की कोशिश करते हैं। जाहिर है स्त्री इस व्यक्ति के आत्मदर्शन में केटेलिटिक एजेंट या कसौटी की तरह उपस्थित और अनुपस्थित होती है। क्योंकि सबसे निकट और अनिवार्य संबंध उसी के साथ हैं। स्वतंत्रता को लेकर नायक का ऑब्सैशन उसे इतिहास, नियति, ईश्वर और स्त्री, सबको खँगालने और सबसे मुक्त होने की बेचैनी तक ले जाता है। यहाँ तक कि आत्मज्ञान की यह यंत्रणा बर्दाश्त न कर सकने के कारण अपने आप से मुक्ति के निर्णय और नियति तक के बिन्दु तक भी ला-छोड़ता है- ''मौत से पहले आदमी इससे निजात पाए क्यूँ?''

प्रियंवद के कथा-लेखन पर सोचते हुए मुझे यही सवाल परेशान करते रहे हैं। पहले इलाचन्द्र जोशी, फिर निर्मल वर्मा, फिर प्रियंवद और किसी स्तर पर मनोज रूपड़ा ऐसे लेखक हैं जो अपने भीतरी नरक का अनुसंधान, पहचान करने के साथ वहीं बने रहने के लिए अभिशप्त हैं। वे अपने आपमें ही इतने संपूर्ण हैं कि 'दूसरे' उनके लिए हैं ही नहीं। वे नरक हैं। उनके शरण्य अपने एकांत हैं, अपना अकेलापन है- जहाँ सिमेट्रियाँ हैं, पहाड़ी निर्विघ्नताएँ हैं और खँडहरों के भूत हैं, पुराने मकानों के सन्नाटे हैं। इनमें प्रियंवद की दुनिया तो मुझे मार्किस द साद के उपन्यासों की नीम-अंधेरी हवेलियों और वहां के भयोत्पादक तहखानों की चीखों की याद दिलाती है। कम से कम विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास इतने भुतहे और घुटन-भरे तो नहीं हैं, वहां एकाध खिड़की भी रहती है।

मगर सच यह भी है कि साधना इसी अकेले और अनासक्त व्यक्ति ने ही

की है- ज्ञान की साधना, बोध की साधना, कला और संस्कृति की साधना...हाँ, कला-साहित्य की साधना में स्त्री भी उसके साथ है, सहयोगिनी की तरह नहीं। ऑब्जेक्ट या विषय-वस्तु बनकर साथ है, हठ-योग की वामाचारी साधनाओं में शायद वह बराबर की सहयोगिनी भी है।

व्यक्तिवाद का एक सामाजिक पक्ष भी है और इसे संतोष चौबे के दो उपन्यासों- 'राग-केदार' और 'क्या पता, कॉमरेड मोहन', में देखा जा सकता है।'

लेकिन कुँवरपाल सिंह को राजनैतिक चेतना तथा राजनैतिक कार्यशैली की चिंता करते देखा जा सकता है :

'आजकल हिन्दी में राजनैतिक चेतनापरक उपन्यास कम ही लिखे जा रहे हैं। जो लिखे भी जा रहे हैं उनमें काली रात के कारनामों का कच्चा-चिट्ठा होता है। यह चीज़ें समाज में मौजूद तो हैं किन्तु उनका प्रस्तुतिकरण सपाट ढंग से किया जा रहा है। ऐसी पुस्तकें आजीवन जीवित नहीं रह सकतीं। जीवित वही हैं जिनमें अन्य समस्याएँ हों। इन उपन्यासों की एक बड़ी त्रासदी यह है कि इनमें इस व्यवस्था के लिए केवल व्यक्ति को ही ज़िम्मेदार माना जाता है। व्यक्ति विशेष तथा विशेष दल के बदल जाने से समाज में परिवर्तन आयेगा, यह स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। यह बात सच होती तो इस देश में तथा प्रदेशों में कई सरकारें बदलीं, उनके बदलने से फर्क पड़ता। पहले कांग्रेस, फिर जनता दल जिसके कई दल हो गये, उसके बाद भाजपा ने केन्द्र में अपनी सरकार बनायी। ये पार्टियां ग़रीबों तथा पिछड़ों का तथाकथित रूप से प्रतिनिधित्व करती रहीं। किन्तु सच यह है कि इन्होंने जितना भ्रष्टाचार, अनाचार, भेदभाव और अपनी-अपनी जाति विशेष को फ़ायदा पहुँचाया, वह अभूतपूर्व है। इन पार्टियों ने अपने प्रदेश की उन्नति के नाम पर कुछ छोटे से हिस्से को लाभ पहुँचाया और इन्हीं के बलबूते पर वे राज करते रहीं। इन्होंने अपने-अपने शासनकाल में भ्रष्टाचार को नैतिकता में बदल दिया। ये जनता के सेवक कितने अमानवीय हैं, इसे हमारे साधारण पाठक अच्छी तरह समझते हैं। जनता चुप रहती है किन्तु उसकी समझदारी और उचित वस्तु को पहचानने की कला जनतंत्र की शक्ति है। देश की एकता और अखंडता में जनता का विशेष योगदान है, न कि यहाँ के नेताओं एवं राजनेताओं का। जनता ने उन सारे लोगों को आईना दिखा दिया जो जनता की सेवा करने के नाम पर केवल अपनी सेवा कर रहे थे। जनता के इस रूप की पहचान सुविधाजीवी लेखक, बुद्धिजीवी एवं पत्रकार को बिल्कुल नहीं है। जनता को समझने का सबसे अच्छा अवसर है उसके बीच में जाकर काम करना। उस पर राजनैतिक रैलियों और बैठकों का कोई विशेष असर नहीं पड़ता। आज का सत्य यही है कि जनता के बीच सामाजिक उत्थान का काम करना पड़ेगा, उसकी उन्नति के लिए प्रत्येक चीज़ों की जानकारी तथा सुविधाएँ मुहैया कराना पड़ेगा। उसका उत्थान क्रांतिकारी भाषणों से नहीं हो सकता। इसके लिए उसके बीच जाकर सामाजिक कार्य

व्यक्तिगत रूप से उपन्यास को लेकर मेरा पहला क्राइटेरिया है उसका पठनीय होना। एक बार उसके पास जाने के बाद पाठक उससे दूर न हट सके। एक दूसरी बात जो उपन्यास के संदर्भ में मुझे लगती है, वह है आज के समय में उसका नया पाठ बनना। इन्फॉर्मेशन कैसे आए उपन्यास में कि पाठक का ज्ञानात्मक मानचित्र बदले, कैसे विज्ञान और सूचना तकनीक के युग में कथा में घनत्व लाया जाए, ये सवाल मुझे परेशान करते हैं।

करने पड़ेंगे। जनता से सीखने की ज़रूरत है लेकिन हमारे बहुत से कार्यकर्ता यह समझते हैं कि हम तो उनके बीच आकर काम कर रहे हैं, वह हमारी बात क्यों नहीं समझते हैं? जनता के बीच धीरज से काम करने से ही सामाजिक परिवर्तन की दिशा तय होती है।

संतोष चौबे का उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' २००६ के अंत में प्रकाशित हुआ था। बहुत से आलोचकों ने इसकी मूल आत्मा को नहीं समझा। ये उपन्यास मार्क्सवादी दलों में नीतियों और व्यवहार के अंतर्विरोधों की गहराई से पड़ताल करता है। क्रांतिकारी पार्टी में भी कुछ नेता किस प्रकार जड़ एवं यांत्रिक हैं, इसका उद्‌घाटन यह उपन्यास करता है। बहुत से पुराने लोगों ने ज़माने के बदल जाने पर भी अपना पुराना तरीक़ा नहीं छोड़ा। वे क्रांति की बात तो करते हैं किन्तु आज के समाज की वास्तविकता नहीं समझते। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने बहुत कुछ बदल दिया है। इन बदली हुईं परिस्थितियों में हमें अपनी राजनीति प्रछन्न रूप से करनी चाहिए।'

उपरोक्त वक्तव्य अगर पूरे विमर्श की एक बानगी प्रस्तुत करते हैं तो कहा जा सकता है कि इतिहास की ऐतिहासिकता, राजनैतिक चेतनापरक उपन्यासों की ज़रूरत, विज्ञान और वैज्ञानिकता, आधुनिक और उत्तर आधुनिक संदर्भों में अस्मिता की तलाश तथा रचनात्मक चुनौतियों का मुकाबला करने की क्षमता उपन्यास के समकालीन विमर्श का प्रस्थान रचते हैं और उन पर विस्तार से चर्चा की गई है।

व्यक्तिगत रूप से उपन्यास को लेकर मेरा पहला क्राइटेरिया है उसका पठनीय होना। पाठक अगर कथा के भीतर आएगा और साथ-साथ रहेगा तभी तो आप उसकी चेतना में प्रवेश कर पाएँगे। गद्य इतना प्रवाहमान होना चाहिए कि वह नदी की तरह आपको बहा ले और उसमें इतना सौंदर्य और इतनी ऊष्मा होनी चाहिए कि एक बार

उसके पास जाने के बाद पाठक उससे दूर न हट सके। एक दूसरी बात जो उपन्यास के संदर्भ में मुझे लगती है, वह है आज के समय में उसका नया पाठ बनना। इन्फॉर्मेशन कैसे आए उपन्यास में कि पाठक का ज्ञानात्मक मानचित्र बदले, कैसे विज्ञान और सूचना तकनीक के युग में कथा में घनत्व लाया जाए, ये सवाल मुझे परेशान करते हैं।

तीसरी बात स्ट्रक्चर को लेकर है कथा में लीनियरटी कैसे तोड़ी जाएगी, कैसे नॉन लीनियर स्ट्रक्चर का प्रयोग किया जाएगा और कैसे नैरेटिव का स्टाइल बदला जाएगा, आकर्षक बनाया जाएगा ये प्रश्न मेरे दिमाग में चलते रहते हैं और प्रस्तुत पुस्तक की बहस में इनके उत्तर भी मिल सकते हैं।

चौथी और अंतिम बात इस सिलसिले में ये है कि उत्तर भारतीय संदर्भों में रिफार्म और रेडिकल की बहस को एक बार फिर से देखना होगा। उसे रेडिकल की तरफ झुकाना हमें आकर्षक और उत्तेजक तो लग सकता है लेकिन वास्तविक अर्थों में उससे बहुत कुछ हासिल नहीं होता। उत्तर भारतीय संदर्भ में समाज की जो गति है और जो स्थिति है उसमें रिफार्म का बहुत महत्व है और वही परिवर्तन की पूर्व पीठिका बन सकता है। इसमें साक्षरता, विज्ञान, टेक्नॉलॉजी और साहित्य सभी को शामिल करना होगा, व्यक्ति से उनकी अंतर्क्रिया को समझते हुए कथा संसार की रचना करना होगा और यह सब ऐतिहासिक संदर्भों में ही होगा।

क्या पता कॉमरेड मोहन : विमर्शों का उपन्यास
अरुणेश शुक्ल

पिछले पाँच वर्षों के हिन्दी उपन्यासों के परिदृश्य पर निगाह डाली जाए तो उपन्यास की अंतर्वस्तु और विषयवस्तु पर इतिहास का दबाव साफ दृष्टिगत होता है। इस दौरान जितने भी चर्चित उपन्यास लिखे गए, इतिहास और स्मृति उसके मुख्य सरोकार रहे। यह कहीं न कहीं अस्मितापरक राजनीति और उत्तर आधुनिक विचारधारा का दबाव था। चाहे वह कामतानाथ का 'कालकथा' हो या अलका सरावगी का 'कलिकथा वाया बाईपास', असगर वजाहत का 'सात आसमान' हो या श्रीलाल शुक्ल का 'विस्त्रामपुर का संत।' इतिहास को जानने-समझने और परिदृश्य को व्यापक संदर्भों में समझने के तौर पर जहाँ इन उपन्यासों की अनिवार्यता महसूस की गई, वहीं इतिहास के अतिवाद का यह शोर भी उभरा कि उपन्यास, जो कि समकालीन समय को महाकाव्यात्मक स्वरूप में समझने का महत्वपूर्ण औज़ार होता है, वह अपनी इस भूमिका से न्याय नहीं कर पा रहा। एक रचनात्मक चुनौती यह भी थी कि नब्बे के बाद का परिदृश्य और तेजी से बदलता हुआ समय क्या इतना गतिशील है कि उसको हमारे समकालीन उपन्यासकार या रचनाकार नहीं पकड़ पा रहे थे और इसलिए इतिहास की शरण में जाना उनकी मजबूरी बन गई। ऐसे में इधर दो ऐसे उपन्यास आये हैं जो न सिर्फ इन रचनात्मक चुनौतियों का मुकाबला करते हैं, बल्कि उपन्यास के समकालीन विमर्श का प्रस्थान भी रचते हैं। एक तो राजू शर्मा का 'हलफनामे' और दूसरा संतोष चौबे का 'क्या पता कॉमरेड मोहन।

'क्या पता कॉमरेड मोहन' ऐसे समय में आया है जबकि बौद्धिक जगत में 'विज्ञान और जनपक्षधरता' को लेकर तरह-तरह की बहसें चल रही हैं। उपन्यास भोपाल गैस त्रासदी की घटना को आधार बनाकर लिखा गया है। समूचा उपन्यास इसी घटना से विस्तारित होता है। हालाँकि उपन्यास की शुरुआत कार्तिक, जोकि उपन्यास का नायक है, के पार्टी कार्यालय से बाहर निकलने से होती है, जहाँ पार्टी ने उसे गुटबाजी बढ़ाने और पार्टी के विकास में अड़चन डालने तथा अपनी कार्यप्रणाली न बदलने को लेकर कारण बताओ नोटिस जारी किया है। पार्टी अर्थात् कम्युनिस्ट पार्टी वही पार्टी है जो अपने को एक वैज्ञानिक दर्शन के आधार पर खड़ा

करने का दावा करती है किन्तु जिसकी बैठकें ''पिछले कुछ दिनों से एक यंत्रणा की तरह हो गई थीं। किसी भी कार्यवाही या मुद्दे पर सकारात्मक बहस के बदले आरोपों-प्रत्यारोपों का एक अंतहीन सिलसिला चला करता था जिसमें सब एक-दूसरे को चोट पहुँचाने की कोशिश किया करते थे और बैठक के अंत में घायल दिलो-दिमाग के साथ बाहर निकलते थे।'' (पृ. १५) और जहाँ रामनारायण के शब्दों में 'आत्मालोचन का मतलब आत्म-आलोचना नहीं, बल्कि दूसरे की आलोचना होता है।' (पृ. १५) जाहिर है, कामरेड कार्तिक जब पार्टी कार्यालय से बाहर निकलता है तो वह भी घायल दिलो-दिमाग के साथ होता है। जिस आंदोलन को खड़ा करने, उसे मजबूत बनाने के लिए उसने अपनी ज़िंदगी के कीमती बीस वर्ष दिए थे और जिसकी मेहनत से विज्ञान और सांस्कृतिक आंदोलन पूरे प्रदेश में फैल गया तथा बड़ी संख्या में लड़के-लड़कियाँ पार्टी में भर्ती हुए, वही पार्टी उसे गुटबाजी बढ़ाने तथा सही ढंग से काम न करने के लिए कारण बताओ नोटिस जारी करती है। पार्टी के इस व्यवहार से वह संस्कृति, विज्ञान, पार्टी, प्रतिरोध जैसे शब्दों में, जो कि अब तक उसके ज़हन में साफ पानी की तरह बहते थे, काफी तनाव और जड़ता महसूस करने लगता है। इसी जड़ता को महसूस करते हुए वह घर लौटता है जहाँ रास्ते में भोपाल गैस त्रासदी की काली रात को महसूस करता है और घर पहुँचकर रात को छत पर अपने मित्र केदार की छाया (आत्मा) से बात करते हुए अपनी समूची जीवनकथा व अनुभव लिखने का संकल्प लेता है।

तकरीबन पूरा का पूरा उपन्यास फ्लैश बैक शैली में लिखा गया है। भोपाल शहर से परिचित होने से लेकर प्रशासनिक सेवा में चयन, बड़े काम करने के संकल्प के चलते उसे छोड़ने, एक साधारण इंजीनियर की नौकरी करने तथा साथ ही साथ जन विज्ञान समिति के सचिव पद पर रहते हुए पूरे प्रदेश में व्यापक स्तर पर फैलाने, कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर चलने वाले षड़यंत्र, पारिवारिक जीवन का यांत्रिक जीवन में बदल जाना, खुद से द्वंद्व तथा कारण बताओ नोटिस दिए जाने का निर्णय तथा उस पर कार्तिक का जवाब आदि तमाम घटनाएँ इस उपन्यास के कलेवर में विन्यस्त हैं तथा इन सबकी पृष्ठभूमि के रूप में भोपाल गैस त्रासदी है। अर्थात् इसी गैस त्रासदी की घटना से यह सारी घटनायें, संघर्ष आदि विस्तार पाते हैं। इतिहास को, वर्तमान परिदृश्य को उसके समकालीन संदर्भों में समझने तथा समकालीन अथवा वर्तमान परिदृश्य के विकास में इतिहास की भूमिका को समझने के लिए भोपाल शहर की निर्मिति के इतिहास का बहुत ही नए ढंग से प्रयोग किया गया है। साँची स्तूप, दोस्त मुहम्मद का मकबरा तथा तमाम मीनारों, मन्दिरों व गुम्बदों में सिमटे हुए इतिहास को कार्तिक वैज्ञानिक दृष्टि से जानता समझता है। खँडहरों में प्रवाहित अतीत व उसकी वर्तमान निर्मिति तथा इतिहास के समूचे एकरैखिक विकास को, वर्तमान वैज्ञानिक समय की निर्मिति में, अतीत के ज्ञान-विज्ञान व संवेदना के योगदान को समझता है। मुस्लिम बेगमों, हिन्दू रानियों का भोपाल की राजनीति में दखल,

हिंदू-मुगल स्थापत्य की मिश्रित इमारतें, राजा भोज के समय के बाँधों से लेकर वर्तमान बाँध व्यवस्था व भोपाल मेडिकल कॉलेज से लेकर तेईस सौ वर्ष पूर्व के साँची स्तूप तक के माध्यम से इतिहास, स्मृति व परम्परा के वर्तमान आधुनिक प्रवाह की निरन्तरता को तलाशने का काम कार्तिक अपने दादा के साथ भोपाल शहर से परिचित होने के क्रम में की जा रही यात्रा में करता है। यहाँ पूर्व के हिंदी उपन्यासों की तरह इतिहास का दबाव नहीं, बल्कि वर्तमान समय को महाकाव्यात्मक स्वरूप में समझने व उद्घाटित करने के लिए इतिहास वर्णित है।

'ग्रेट भोपाल टूर' खत्म होने के पश्चात् कार्तिक रामनारायण की मिली जुली कथा वाला अध्याय शुरू होता है। इस अध्याय में भोपाल गैस त्रासदी का, जो कि भारतीय लोकतंत्र पर पूँजीवादी शिकंजे का एक काला व दुःखद उदाहरण है, सिलसिलेवार वर्णन है। 'क्या हुआ था गैस त्रासदी की काली रात को?' नाम से तैयार रिपोर्ट, जो कि दिनेश ने कार्तिक से बातचीत करते हुए बनायी थी, गैस त्रासदी के कारणों, सुरक्षा व्यवस्था की खामियों तथा उसके लिए जिम्मेदार लोगों को पूरी तरह सामने लाती है। दिनेश बातचीत में यह सूचना भी देता है कि इससे पूर्व भी ऐसी कई घटनाएँ छोटे स्तर पर हो चुकी थीं जिनको लेकर उसने बाद में ऐसी किसी बड़ी घटना के घटने की संभावना को लेकर रिपोर्ट भी प्रकाशित की थी, किंतु इस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया था। बाद में जब यह 'भोपाल गैस त्रासदी' घटती है तब जाकर सारे बुद्धिजीवी, सामाजिक कार्यकर्ता, एक साथ सरकार के विरोध में चिल्लाने लगते हैं। गैस रिसाव कितना भयानक था, इसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि पीड़ित लोगों के खून का रंग बैंगनी हो गया था तथा फेफड़े फूले हुए थे। खून छूने पर तार की तरह उठता चला आता था और फेफड़ों से सड़े हुए काजू की बदबू आ रही थी। लोग जान बचाने के लिए आँखें बंद करके इधर उधर भाग रहे थे। एक बच्चा फेफड़ों से नहीं अपने पेट से साँस ले रहा था व हाथों पैरों को जैसे लकवा मार गया था। अस्पताल घायलों से भरे पड़े थे। लाशों से घर अँटे थे। बच्चे, बूढ़े, औरतें सभी इस गैस से प्रभावित हुए थे। ऊपर से इस व्यवस्था की दुर्दशा कि डाक्टर यह स्वीकार करने को तैयार नहीं थे कि गैस जहरीली थी। फास्जीन थी या कार्बाइड। ऐसे में डाक्टर चंद्रा जैसे लोगों की ईमानदारी भी निरीह नज़र आने लगती है। स्वयंसेवी संगठन, बुद्धिजीवी, शहर में मौजूद आपसी भाईचारा, लोगों द्वारा किए जा रहे उपचार के प्रयास जहाँ भारतीय जीवन के बुनियादी जुड़ाव को दिखाते हैं, भविष्य के प्रति एक नई आशा जगाते हैं, वहीं हजारों लोगों के हत्यारे कंपनी के मालिक एंडरसन को मात्र पच्चीस हजार रुपये की जमानत पर छोड़ देना, भारतीय लोकतंत्र के मानवीय चेहरे को संचालित करने वाले अमानवीय सत्ता तंत्र व वैश्विक पूँजी के क्रूरतम गठजोड़ को दिखाता है, साथ ही ऐसी व्यवस्था में जाने की भारतीय जीवन की विडंबना को भी सामने लाता है। बहरहाल इस त्रासद घटना के बाद तमाम स्वयंसेवी संस्थाएँ, बुद्धिजीवी आदि पीड़ितों को तत्काल चिकित्सा सुविधा मुहैया

कराने के साथ-साथ रोजगार एवं मुआवजा दिलाने तथा प्रदेश सरकार, केन्द्र सरकार तथा यूनियन कार्बाइड जैसे मल्टीनेशनल्स के खिलाफ एकजुट होकर दुहरी लड़ाई लड़ने का फैसला करते हैं। राजनैतिक दल, सांस्कृतिक संस्थाएँ एक अन्य सामाजिक संगठन मिलकर कार्तिक के सुझाव को मानते हुए नाटक के द्वारा इन मुद्दों को जनता के सामने लाने का फैसला करते हैं और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिलती है। जिस तरह से नवजागरण की शुरुआत से ही नाटक केन्द्रीय विधा हो गया था, ठीक वैसे ही इस उपन्यास के माध्यम से एक नये जागरण की शुरुआत दिखाई देती है। भारतीय नवजागरण जहाँ ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खिलाफ था, वहीं इस उपन्यास में शुरू हुआ जागरण वैश्विक पूँजी अर्थात् बाजारवादी उपनिवेशवाद तथा आन्तरिक सत्ता (केन्द्र तथा प्रदेश सरकार) एवं पीड़ितों को चिकित्सा, न्याय, रोजगार मुहैया कराने आदि को लेकर तमाम स्तरों पर होता है। किन्तु इन सबके साथ जो केन्द्रीय व प्रमुख एजेंडा होता है, वह प्रोफेसर अनिल कुमार के शब्दों से स्पष्ट होता है- ''मुझे लगता है कि लड़ाई बहुत बड़ी है और हमें इसे लड़ना होगा। एक तरफ आज की जरूरतें हैं- इलाज, मुआवजा, न्याय पाने की जरूरतें, और दूसरी तरफ है एक और बड़ी लड़ाई।'' इसी को ध्यान में रखकर जनविज्ञान समिति का गठन किया जाता है जिसका सचिव कार्तिक को चुना जाता है। इस समिति ने ''तय किया था कि वह त्रासदी की भयावहता को उजागर करने का काम तो करेगी ही, साथ ही, मरीजों के लिए इलाज, रोजगार, मुआवजा और न्याय की लड़ाई भी लड़ेगी। इसी के साथ उसका लक्ष्य होगा देश के स्तर पर विज्ञान और तकनीक के सही उपयोग पर जोर देना, लोगों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करना, पर्यावरण और विकास के रिश्तों की पड़ताल करना और इस तरह एक नए आदमी और नए समाज की रचना करना।''

यही दृष्टिकोण इस उपन्यास का केन्द्रीय आख्यान है। दरअसल विज्ञान प्रारम्भ से ही निरपेक्ष माना जाता रहा है। कुल मिलाकर विज्ञान एक देखने की दृष्टि है किन्तु पूँजीवादी समाज के विकास के साथ ही साथ विज्ञान की निरपेक्षता भी खत्म होती जा रही है। वह आज तमाम तरह की वैल्यू लोडिंग से चलता है। वस्तुतः प्रत्येक ज्ञान सत्ता से विज्ञान की अपनी एक हैरारकी बनती गयी। उसका एक वर्गीय चरित्र उभरकर आया जो कि मूलतः पूँजीवादी ऐजेण्डे का पोषक था/है। विज्ञान के उत्पादों तक तो लोगों की पहुँच हुई किन्तु उसके सूत्र एक खास वर्ग के पास ही रहे। इसी कारण मूल वैज्ञानिक सूत्र व दृष्टि तथा आम लोगों के बीच खाई निरन्तर बढ़ती गई तथा विज्ञान प्रतिदिन विशिष्ट से विशिष्टतम बनता चला गया। अब विज्ञान एक दृष्टि नहीं रह गया वरन् उसके तकनीकी उत्पादों को ही विज्ञान माना जाने लगा। अर्थात् विज्ञान और बाज़ार एक दूसरे के पूरक बन गये। हिंसक हथियार बनाने, उनका बाज़ार निर्मित करने हेतु उनके प्रदर्शन की अनिवार्यता के चलते अफगानिस्तान, इराक पर हमले, उत्तर कोरिया का परमाणु परीक्षण, इन सबके चलते उपजा मनुष्य में असुरक्षा बोध जिससे बचने हेतु आदिम प्रवृत्ति सेक्स की शरण लेना (उत्तर कोरिया द्वारा

‘क्या पता कॉमरेड मोहन’ एक ऐसा उपन्यास है जो अपने में अन्तर्निहित व विन्यस्त तमाम सामाजिक, साहित्यिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक विमर्शों के कारण, अपने सम्पूर्ण कलेवर में ‘विमर्शों का उपन्यास’ ठहरता है, जो सर्जनात्मक लेखन एवं आलोचनात्मक लेखन दोनों के लिए आज की जरूरत है।

परमाणु परीक्षण के उपरान्त वहाँ कंडोम की बिक्री में 20% की वृद्धि हुई अर्थात् इस स्थिति में भी बाज़ार का ही फायदा) आदि, विज्ञान और पूँजीवाद/बाज़ारवाद के इस गठजोड़ के भयावह परिणाम हैं। पूँजीवादी सभ्यता के विकास के साथ-साथ विज्ञान का भी विकास होता गया और परिणाम यह हुआ कि विज्ञान की तमाम संभावनाओं का उपयोग, तकनीक के रूप में इस सभ्यता ने अपने मुनाफे हेतु किया। यह और बात है कि इसी क्रम में बिजली, सिलाई मशीन जैसी वस्तुएँ भी आईं जो व्यापक मानवीय हित की हैं। इन चीजों का आना यह दर्शाता है कि विज्ञान जैसी अनन्त संभावनाशील निरपेक्ष दृष्टि, पूँजीवादी शिकंजे में इस कदर जकड़ी है कि उसका मानवोपयोगी चेहरा पीछे छूटता जा रहा है। मुख्य तो मुनाफा है। इसी कारण विज्ञान के उत्पादों में, तकनीक में, पूँजीवाद जातीय गुण के रूप में आ गया है अन्यथा इन्हीं उत्पादों/संसाधनों पर खड़ी सोवियत व्यवस्था ढह क्यों जाती। जाहिर है कि अब विज्ञान को पूँजीवादी शिकंजे से मुक्त कराना समाज का पहला दायित्व बनता है। उसके लिए ज़रूरी है विज्ञान को जनोन्मुखी बनाना, वैज्ञानिक दृष्टि का जनता में प्रसार करना। पर्यावरण के खतरे को समझते हुए विज्ञान का प्रकृति सापेक्ष उपयोग करना अर्थात् प्रकृति को ‘अन्य’ न मानते हुए उसको अपने ‘स्व’ का ही हिस्सा समना। मार्क्स जहाँ ‘पूँजी’ जैसा जटिल ग्रन्थ लिख रहे थे तो वहीं ‘पम्पलेट्स’ भी लिख रहे थे। सवाल विचारों के जनप्रसार का होता है। मार्क्स ने इस प्रसार की आवश्यकता को समझा था। आज विज्ञान के संदर्भ में भी इसी जनप्रसार की जरूरत है।

उपन्यास में कॉमरेड कार्तिक नाटकों, साक्षरता अभियान, स्वास्थ्य कार्यक्रमों, चिंतन गोष्ठियों, लोगों से सीधे संवाद, कवि गोष्ठियों आदि के माध्यम से जनप्रसार करता है। किंतु जैसा कि भारतीय मार्क्सवादी पार्टियों का इतिहास रहा है कि वह सीधे वर्ग संघर्ष की बात ही करती हैं, पर उसके आने में इस तरह के जानांदोलनों की भूमिका को कोई तवज्जो नहीं देतीं। उपन्यास में भी कई बार ऐसी स्थिति आती है जब कामरेड मोहन और उनके शागिर्द इस तरह के जनांदोलनों की जरूरत पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए पार्टी में सीधी भर्ती की बात करते हैं जबकि कार्तिक का तर्क है कि इस तरह के जनांदोलनों से लोगों में चेतना आयेगी और तभी क्रांति संभव होगी। ध्यातव्य है कि बिना चेतना के क्रांति की कल्पना मार्क्स भी नहीं करते। हिंदी

प्रदेश में पार्टी के विकास के लिए किए जा रही बैठक में हिंदी कोई नहीं बोलता। रामविलास शर्मा, सृंजय से लेकर अगर संतोष चौबे तक यह चिंता आज भी बरकरार है तो भारतीय मार्क्सवाद के लिए यह कोई सुखद संकेत नहीं है। जिस तरह से अखिलेश की 'यक्षगान' कहानी में पार्टी सचिव को सिर्फ आर्थिक मुद्दे दिखाई देते हैं, वैसे इस उपन्यास में भी पार्टी द्वारा आयोजित संवाद मीटिंग में यू.पी. से आये कामरेड को सिर्फ थ्योरी व अन्य पदाधिकारियों को पार्टी इतिहास व वर्ग संघर्ष ही दिखाई देता है। एक युवा लड़की की इस चिंता को, कि दलित, आदिवासी हमारे साथ नहीं हैं, को वह यूँ ही उड़ा देते हैं। वैसे भी आज तमाम बुद्धिजीवी मार्क्सवादी इस तरह के दलित, आदिवासी आंदोलनों को अस्मितापरक राजनीति बताते हुए, बाजार का, वर्गीय चेतना बनने के विरुद्ध किया जा रहा षड़यंत्र बताकर खारिज करते हैं। सिद्धांतों का उपयोग यथार्थ से मुँह मोड़ने में करके पार्टी को ही कमजोर कर रहे होते हैं। इसके इतर लक्ष्मण सिंह जैसे लोग, जोकि भ्रष्टाचार में आकण्ठ डूबे हुए होते हैं, उन्हें पार्टी के सचिव कामरेड मोहन क्लीन चिट दे देते हैं। वस्तुतः चापलूसी-पसन्द अधिकारी वर्ग सिर्फ अपनी अहं तुष्टि ही चाहता है चाहे वह लक्ष्मण सिंह जैसे लोगों से ही क्यों न पूरी होती हो। पार्टी, सिद्धांत, लोकतंत्र जायें भाड़ में। प्रतिक्रांति तो कामरेड मोहन के लिए ऐसा शब्द है जिसको कि वे किसी भी सच्चे कार्यकर्ता, चाहे वह कार्तिक ही क्यों न हो, के संदर्भ में प्रयुक्त कर सकते हैं। जबकि कार्तिक की व्यथा, नक्सलवाद के फैलने व संघ द्वारा बनवासी, आदिवासी संस्थाएँ बनाकर उनके बीच पहुँचकर क्रांति को प्रतिक्रांति में बदल देने की स्पष्ट स्थितियाँ, उनकी समझ में नहीं आती। दरअसल भारतीय मार्क्सवाद अगर विकसित हो सकता है तो वह दलित, आदिवासी, स्त्री आदि तमाम अस्मिताओं के साथ ही, इनके बगैर नहीं। इतिहास इसका गवाह है। सिद्धांतों को जाँचने-परखने, उनका विस्तार करने, पार्टी के काम करने में मार्क्सवाद व्यक्ति को यांत्रिक सा बना देता है। वह त्योहारों, मांगलिक उत्सवों आदि को ढकोसला मानता है जबकि भारतीय जीवन की धुन इन्हीं त्योहारों, उत्सवों व माता-पिता, भाई-बहन, पति, पत्नी जैसे मानवीय सम्बन्धों में झंकृत होती है। उत्सवधर्मिता भारतीय जीवन व संस्कृति का प्राण तत्व है जिससे होकर सामुदायिक चरित्र-सामाजिक संस्कृति, सबकुछ बनती है। कार्तिक जिसे त्यौहार बहुत पसन्द थे, होली, रक्षाबंधन आदि त्योहारों का उसके लिए जीवन में जो विशिष्ट महत्व था, वह पार्टी के काम में खत्म सा हो गया। उसका मस्तिष्क भी डार्विन के मस्तिष्क ही की तरह एक निष्कर्ष देने वाली मशीन हो गया। उसका जो कुछ जुड़ाव कविता, नाटक आदि से था भी, वह पार्टी के भीतर चलने वाली उठापटक, नताशा, उमा के आपसी वैमनस्य के बीच पिसने, रघु द्वारा उसकी ईमानदारी को रिकगनिशन समझे जाने आदि के बीच यांत्रिक सा होकर रह गया जहाँ अनुभूति नहीं, वरन वैज्ञानिक दृष्टि या कि पार्टी का ऐजेंडा प्रमुख हो गया था। यही कारण है कि अन्त में माँ के पास बैठकर वह असीम सुख का अनुभव करता है। कवि सम्मेलन में जाकर

पुनः ऊर्जावान व खुश महसूस करता है। वह कितना यांत्रिक सा हो जाता है, इसका अंदाजा नीति की इस शिकायत से लगाया जा सकता है कि 'तुम अब पहले सा प्रेम कहाँ करते हो।' वास्तव में पार्टी के कामों के चक्कर में परिवार, पत्नी से बढ़ती दूरी या कि उससे उत्पन्न स्पेस का नताशा या उमा द्वारा भरा जाना सिद्धांतों व जीवन के बेहतर सामंजस्य का न बन पाना है।

उपन्यास में स्त्री पात्रों का चित्रण वैसे तो बौद्धिक या कि कार्यकर्ता के रूप में अथवा समझदार पत्नी के रूप में हुआ है, किन्तु अन्ततः सबका काम एक सा ही है। नीति जहाँ भी आयी है, प्रायः कार्तिक के तर्कों को पुष्ट करने हेतु या कि उसके साथ सेक्स करने के लिए। नताशा व उमा में काम से ज्यादा कार्तिक को अपने प्रभाव में रखने की लड़ाई है। फादर विलियम का चरित्र तो प्रेम को जीवन में अनिवार्य बताने के लिए रचा गया है किन्तु वहाँ भी स्त्री के साथ प्रणय दृश्यों की ही प्रमुखता है। कुल मिलाकर संतोष चौबे अपने इस उपन्यास में स्त्रियों को पितृसत्ता द्वारा तय किए गए स्टीरियो टाइप से बाहर नहीं निकाल पाये हैं, अपितु उसे पुष्ट ही करते हैं। उपन्यास का समापन कामरेड मोहन की मृत्यु, उनकी शवयात्रा व उसमें उनके उत्तराधिकारी के रूप में एक कामरेड महिला द्वारा सरिता का हाथ उठा देने की अमानवीय त्रासद घटना के साथ-साथ 'मेरे पास भी अपनी फाइल है जिसमें वही है जो तुम्हारी फाइल में है, माँ, प्रेम, संगीत, साहित्य, बचपन और दोस्त' से होता है। हवा के झोंके पन्नों को उड़ा देते हैं। वस्तुतः यह अंत भारतीय संदर्भों में मार्क्सवाद के मॉडिफिकेशन की भी बात करता है। सिर्फ सिद्धांतों से ही जीवन व समाज नहीं चलता। उसकी राजनैतिक निर्धारणों से अलग अपनी एक गति है जिसमें साहित्य, संगीत, दोस्त बचपन, माँ प्रेम आदि सबकुछ है। मार्क्सवाद को, मार्क्सवादी पार्टियों को इस हकीकत को समझना ही होगा। उपन्यास पढ़ते हुए 'रेस्त्राँ में दोपहर' व 'रामकुमार के जीवन का एक दिन' जैसी कहानियाँ, जो कि संतोष जी की काफी चर्चित कहानियाँ हैं, मस्तिष्क में गूँजती रहती हैं। उपन्यास के बनने में इन कहानियों की भूमिका महत्वपूर्ण है। उपन्यास की सहज प्रवाहमयी भाषा उपन्यास को एक बार में पढ़ने को बाध्य करती हैं। इस तरह के वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न, वैमर्शिक उपन्यासों का हिन्दी में आना एक सुखद भविष्य की तरफ संकेत करता है। इस तरह के उपन्यासों का व्यापक स्तर पर स्वागत किया जाना चाहिए। 'क्या पता कामरेड मोहन' एक ऐसा उपन्यास है जो अपने में अन्तर्निहित व विन्यस्त तमाम सामाजिक, साहित्यिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक विमर्शों के कारण, अपने सम्पूर्ण कलेवर में 'विमर्शों का उपन्यास' ठहरता है, जो सर्जनात्मक लेखन एवं आलोचनात्मक लेखन दोनों के लिए आज की जरूरत है।

कला और विचारधारा

कला को विचारधारा में तब्दील नहीं किया जा सकता, बस उसका विचारधारा से एक निश्चित संबंध होता है। विचारधारा असल में ऐसे काल्पनिक तरीकों का बयान करती है जिनके माध्यम से आदमी वास्तविक विश्व को अनुभव करता है, और साहित्य भी ये ही काम करता है- सैद्धांतिक विवरण देने के बदले यह बताता है कि एक विशेष परिस्थिति में रहने के क्या अनुभव हैं। लेकिन कला सिर्फ़ उस अनुभव को परावर्तित नहीं करती वह विचारधारा के भीतर रहती है लेकिन उससे दूरी भी हासिल करती है, उस बिन्दु तक जहाँ से कि वह हमें विचारधारा को 'महसूसने' और 'समझने' का अवसर प्रदान करती है। ऐसा करते समय कला हमें सत्य तक पहुँचने में मदद नहीं करती जिसे विचारधारा ने छुपा रखा था क्योंकि सत्य या ज्ञान का अर्थ वैज्ञानिक सत्य से है- विज्ञान और कला में ये फ़र्क़ नहीं है कि वे अलग-अलग वस्तुओं या विषयों से संबंध रखते हैं बल्कि यह है कि वे उन्हीं विषयों से अलग-अलग तरह का व्यवहार करते हैं। विज्ञान हमें किसी परिस्थिति के बारे में सैद्धांतिक ज्ञान प्रदान करता है जबकि कला इस परिस्थिति में होने वाली अनुभूति का, जो विचारधारा के समतुल्य है। ऐसा करते हुए वह हमें विचारधारा के 'वास्तविक' चरित्र से अवगत कराता है और इस तरह हमें उसकी संपूर्ण समझ की ओर ले चलता है जो इस विचारधारा का भी वैज्ञानिक ज्ञान है। भ्रांति, जो एक मनुष्य का सामान्य विचारधारात्मक अनुभव होता है, वह आधार है जहाँ से लेखक शुरू करता है। लेकिन उस पर काम करते हुए वह उसे एक नया स्वरूप और ढांचा प्रदान करता है।
इस तरह विचारधारा को एक सुस्पष्ट रूप देते हुए एवं उसे कथा के भीतर परिमित बनाते हुए कला अपने आप को विचारधारा से दूर करती है और इस तरह विचारधारा की सीमा भी स्पष्ट करती है।

टेरी इगल्टन

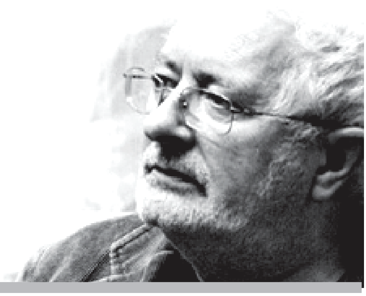

संवाद

25 अक्तूबर, 2016 को सन्तोष चौबे के उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' को केन्द्र में रखते हुए 'कला और विचारधारा' विषय पर रबिन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय के शारदा सभागार में एक परिचर्चा का आयोजन हुआ। इस परिचर्चा में शामिल थे– सुश्री चित्रा मुद्‌गल, श्री महेश कटारे, श्री विनोद तिवारी, डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी, सुश्री रोहिणी अग्रवाल, श्री राहुल सिंह, श्री राकेश मिश्र व श्री अरुणेश शुक्ल। परिचर्चा का उद्‌बोधन किया श्री विनय उपाध्याय ने तथा संचालन श्री मुकेश वर्मा ने किया। श्री सन्तोष चौबे ने आभार ज्ञापित किया एवं श्री महेन्द्र गगन ने आमन्त्रित वक्ताओं को स्मृति-चिह्न प्रदान किया।

कला और विचारधारा

विनय उपाध्याय

आईसेक्ट विश्वविद्यालय में आपका स्वागत है। संतोष चौबे जी की षष्टिपूर्ति के निमित्त आयोजित इस साहित्य पर्व में आप सबका आईसेक्ट विश्वविद्यालय के सभागार में अभिनंदन। हालाँकि आईसेक्ट विश्वविद्यालय मुख्य शहर से फासले पर है, लेकिन फासला तय करने के बाद जब हम इस परिसर में दाखिल होते हैं तो एक अलग सी ऊर्जा हमारी चेतना में संचरित होती है और इस फासले को तय करने के बाद जब हम इस वैचारिक सत्र पर एकाग्र हो रहे हैं तब आप सबको हम ये बताना जरूरी समझते हैं कि आज का ये वैचारिक सत्र दो चरणों में विभाजित है। उपन्यास और कहानी विषय पर। हम इस सत्र के संचालक श्री मुकेश वर्मा से दरख्वास्त करते हैं कि कृपया वे आज के प्रमुख वक्ताओं को लेकर मंच पर पधारें, दूसरा सत्र कहानी पर एकाग्र है और हम 15 मिनिट का अंतराल लेकर कहानी सत्र के साथ पुन: उपस्थित होंगे। हमारे वक्ताओं में शामिल हैं आदरणीया चित्रा मुद्‌गल हिंदी की लब्धप्रतिष्ठ कथाकार, डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी व्यंग्यकार उपन्यासकार सुश्री रोहिणी अग्रवाल कई और युवा तथा वरिष्ठ मित्र। और अब मैं ज्यादा विलंब न करते हुए इस सत्र के संचालन सूत्र श्री मुकेश वर्माजी के हाथ में देता हूँ।

मुकेश वर्मा

नमस्कार, अपने आप में विरल और अनूठे इस साहित्यिक आयोजन में हम कुछ मुद्‌दों पर चर्चा करेंगे, जरूरी नहीं है कि हम निष्कर्ष पर पहुँचे लेकिन एक सार्थक चर्चा के हम भागीदार बनें ये संतोष, ये संतुष्टि हमारा लक्ष्य है और वनमाली सृजनपीठ का मूल प्रयोजन भी यही है कि हमारे समकालीन लेखक एक समय पर, एक स्थान पर, बेहतर वातावरण में चर्चा कर सकें और अपनी सृजनधर्मिता को एक नया आयाम दे सकें। इस दिशा में हमारी पूरी कोशिश है कि आपकी सुख सुविधा का भी पूरा ख्याल रखा जाये और आपका सहयोग भी इसमें लिया जाये। ये सुखद है कि कला और साहित्य के इस आनंद प्रसंग में कई पीढ़ियों के लेखक आये हैं जो अपने नजरिये से हमें अवगत करायेंगे तथा गंभीर चर्चा से वातावरण बनायेंगे। इस सत्र की अध्यक्षता प्रख्यात लेखिका चित्रा मुद्‌गल कर रही हैं हमारे साथ डॉ. ज्ञान

चतुर्वेदी हैं जो भोपाल के हैं और हम आप उन्हें भली भाँति जानते हैं। इसके अलावा रोहतक से आयी हुई सुख्यात आलोचक सुश्री रोहिणी अग्रवाल भी हमारे साथ हैं, हमारे साथ श्री महेश कटारे हैं, ग्वालियर से आये हैं प्रसिद्ध उपन्यास कार हैं इन्हें आप जानते हैं, विनोद तिवारी जी हैं जो दिल्ली से आये हुए हैं और राहुल सिंह जी और राकेश मिश्र हैं। जैसा कि मेरे मित्र राजेन्द्र शर्मा कह रहे थे कि प्रेम के पहले मिलन में कुछ गड़बड़ियां होती हैं विलंब होता है, लेकिन ये खटकती नहीं है अच्छी लगती हैं। मुझे लगता है इसी तरह से आप इस सत्र को लें। मैं अपने अतिथियों के स्वागत के लिये श्री विनय उपाध्याय को आमंत्रित करता हूँ। चित्रा जी, रोहिणी जी का डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी जी का और हमारे जो मित्र सभा में बैठे हुए हैं, हमारे जो आमंत्रित वक्ता हैं उनका स्वागत करेंगे। (स्वागत) मैं विनय जी से निवेदन करूँगा कि श्री महेश कटारे जी का स्वागत वे जहां बैठे हैं वही करें। विनोद तिवारी जी, राहुल सिंह जी और राकेश मिश्र जी का भी। मैं बिना किसी लंबी भूमिका के इस सत्र के आधार वक्तव्य के लिये श्री अरुणेश शुक्ल को आमंत्रित करता हूं। वे युवा आलोचक हैं और आजकल आईसेक्ट विश्वविद्यालय में हम लोगों के साथ भोपाल में हैं, श्री अरुणेश शुक्ल।

अरुणेश शुक्ल

सम्माननीय मंच और मित्रो! आज का विषय है कला और विचारधारा का द्वंद्व। दरअसल उपन्यास के संदर्भ में बात कही जाये तो एक कथन याद आता है मुक्तिबोध का। उन्होंने कहा है कि जीवन किसी वाद के दायरे में बँध नहीं सकता। अगर जीवन किसी वाद के दायरे में बंध नहीं सकता तो चूँकि कला जीवन के केन्द्र में है और कला उस जीवन का प्रकटीकरण करती है तो कला या उसमें आने वाला जीवन या उसके प्रकटीकरण को किसी खास विचारधारा के चश्मे से नियंत्रित किया जा सकता है? जब कभी भी ऐसी कोई कोशिश हुई कि उस जीवन को किसी एक खास चश्मे से इतना नियंत्रित कर दिया जाये कि जो आप चाहते हैं वही दिखाया जाये, तब ये द्वंद्व ज्यादा सामने आता है। क्योंकि रचनाकार मूलत: स्वतंत्र चेता होता है कला आपको स्वतंत्र करती है। कला और लेखक अगर स्वतंत्रता के पक्ष में खड़े होंगे तो जाहिर सी बात है कि वह स्वतंत्रता सिर्फ आपके विषय में नहीं, जिस विषय में आप लिख रहे हैं, बल्कि आपकी भाषा में, संरचना में, आपकी बनावट में, सबमें दिखायी देती है और इसीलिए, बार-बार ये बहस भी केंद्र में आ जाती है। क्योंकि कला और विचारधारा का इस तरह का द्वंद्व नहीं है, इसीलिए जब लिखने की बात होती है तो विचारधारा को आप टेक्स्ट में लाते हैं अपनी अभिव्यक्ति के लिये। पर चूँकि आप मनुष्यता के पक्ष में खड़े होते हैं इसलिए आप शायद उस विचारधारा से बाहर जाकर कोई रास्ता निकालने की कोशिश करते हैं और उसमें कई बार अप्रिय सत्य कहना पड़ता है। 'क्या पता कामरेड मोहन' में खासकर के और 'राग केदार' में भी, क्योंकि

'राग केदार' का एक लॉजिकल एक्सटेंशन है 'क्या पता कामरेड मोहन', हम देख सकते हैं कि ये अप्रिय सत्य है। ये कोई व्यक्तिगत विलास की चीज नहीं होती कि आप अप्रिय सत्य कह रहे हैं। ये दरअसल एक नैतिक दायित्व होता है किसी भी रचनाकार का। बहुत ज़रूरी होता है कि वो आपको उन चीजों को दिखाये जिन पर बात करना ज़रूरी हो गया है। जब पार्टी की मीटिंग बहुत यंत्रणा में बदल जाये, जहाँ एक बहुत बड़े विचार की छाया में किसी अन्य विचार का कोई स्पेस ही न रहे, पहले से ही चीजें तय कर दी जाये तब एक रचनाकार के पास रास्ता क्या बचता है सिवा इसके कि वो प्रतिरोध करे।

और आप रचनाकार हैं तो उपन्यास में तो करेंगे। 'टेरी इगल्टन' का एक कोट है, जिसको संतोष चौबे जी ने कहीं कोट किया है, शायद 'उपन्यास की नई परम्परा' वाली किताब में कि पूंजीवादी समय में विचारधाराएं कला के साथ कई बार वो रिश्ता कायम नहीं कर पातीं जो कला और विचारधारा के बीच में होना चाहिए अनिवार्य रूप से। वो दर असल इस तरह से नियंत्रित करने लगती है चीजों को कि उसमें एक रचनाकार के लिए उसका बचे रहना ही सबसे बड़ा प्रतिरोध हो जाता है। एक रचनाकार, जो अपने आप को बचाने के लिए इस तरह की कोशिश करता है।

मित्रो 'क्या पता कॉमरेड मोहन' ऐसा उपन्यास है जिसमें इतिहास का प्रयोग है। इतिहास का प्रयोग इस मेथड के रूप में है कि आप वर्तमान को कैसे समझ रहे हैं। और आप देखेंगे कि एक विचारधारा है उपन्यास जिसके केन्द्र में जाता है। एक स्टेट है जो लोगों के वेलफेयर की बात करता है। एक तरफ कला है जो लोक कल्याण की बात करती है, मनुष्य की स्वतंत्रता की बात करती है और मजे की बात ये है कि तीनों जगह पर जन पूरी तरह नदारद है। उस पूरी कार्यपद्धति में, पार्टी मीटिंग्स में, ऐसी पार्टी मीटिंग्स में जहाँ पर आप के पास जन की भाषा ही नहीं है। आप अंग्रेजी में बात करते हैं आप उस जन की बात कर रहे हैं जिसको आप की बात ही समझ में नहीं आ रही है। वो विचारधारा जो कहती है कि इनके लिए खड़े हैं, उसकी मीटिंग्स का क्या हाल है, उसको आप बहुत डिटेल में इस उपन्यास में पढ़ सकते हैं। स्टेट पूंजी के साथ खड़ा हुआ है और भोपाल गैस त्रासदी के अपराधियों को ऐसे जाने देता है जैसे वे अतिथि हों। उन पर कोई मुकदमा नहीं चलाया जाता है। भारत में प्रत्यार्पण नहीं होता। जिनकी मृत्यु हुई उनके रिश्तेदारों को और घायलों को मुआवजा नहीं मिल पाता है। संतोष चौबे के उपन्यास दरअसल उस जन को लोकेट करने की कोशिश करते हैं, इस व्यवस्था में कि वो जन कहां है। और उस जन को लोकेट करते हुए जाहिर सी बात है कि वो विचारधारा की चौहद्दी को भी क्रॉस करते हैं और उपन्यास की संरचना को भी क्रॉस करते हैं। इसीलिए अगर आप पारंपरिक संरचना में इस उपन्यास को देखने की कोशिश करेंगे तो हो सकता है कि वह आपको वहाँ न मिले। कई बार इसीलिए इपिक सेंस से यह तय होता है कि वह उपन्यास है। आज के समय में उपन्यास पुरानी चीजों से नहीं

तय होता हैं। आज के समय में उपन्यास का होना इस बात से तय होता है कि उसमें इपिक सेंस है या नहीं। आप अपने समय में समाज की गतिशीलता को, उसकी पूरी प्रक्रिया में, बदलावों के साथ पकड़ पा रहे हैं या नहीं। इससे तय होता है। और आप जब देखेंगे तो पायेंगे कि बहुत सारे लेयर्स में जिसमें सेल्फ और आइडेंटिटी का द्वंद्व है। जिसमें कला और विचारधारा का द्वंद्व हैं जिसमें पार्टी का द्वंद्व है, तमामा रिश्ते-नाते हैं इनसे उपन्यास बनता है। आपके जीवन में एक विचारधारा आपको इतना यांत्रिक बना देती है कि आप अपने त्यौहार नहीं मनाते, आप संगीत नहीं सुनते हैं। आप के पास अपने रिश्ते-नाते, माँ-पिता के लिए वक्त नहीं है। तो सवाल ये है कि ऐसा जीवन किस काम का। ऐसा जीवन समाज का तो कोई भला नहीं करेगा और अगर समाज का भला नहीं होगा तो पार्टी का जो भला हो रहा है वो हम सब देख रहे हैं। कि पार्टी का भला ये है कि वो नगर निकाय का चुनाव नहीं जीत सकती। जाहिर सी बात है कि ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि आपने उस भारतीयता को नहीं समझा जिसके तहत आपको मार्क्सवाद का मॉडिफिकेशन करना था। ये उपन्यास इसलिये महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ये मार्क्सवाद के मॉडिफिकेशन की बात करता है और इसमें मार्क्सवाद एक उत्तर आधुनिक टर्म के रूप में आता है। एक आधुनिक विचारधारा को जब आप उत्तर आधुनिक टर्म के रूप में लाएंगे तो जाहिर सी बात है कि उसमें वो सारे संदर्भ जुड़ेंगे जो आज एक उत्तर आधुनिक समय की देन है। इस चीज को हम बहुत कायदे से जब 'क्या पता कॉमरेड मोहन' पढ़ते हैं तो उसमें देखा जा सकता है कि फेल्योर ऑफ ग्रेट टेक्स्ट का जो मामला है। अवधारणा पुरानी है, लेकिन उसमें सही मायनों में ये बहस है कि आखिर में मार्क्सवाद को ग्रेट टेक्स्ट कैसे बनाया जाए। तो जाहिर सी बात है कि उसमें आपको आदिवासियों की बात करनी पड़ेगी। अब तो स्थिति ये है कि पुराना पारंपरिक खाँचा जिसे हम कहते थे कि ये बेस है, ये सुपर स्ट्रक्चर है, वो बदल चुका है। अब आज सुपर स्ट्रक्चर ही बेस हो गया है। ऐसी स्थिति में, इतने सारे बदलावों के बीच में, आप पुराने पारंपरिक ढंग से भारतीय सोसायटी को नहीं समझ सकते क्योंकि उसमें जाति के प्रश्न हैं, उसमें जेंडर का सवाल है। उसमें रिलीजन का सवाल हैं उसमें तमाम सारी चीजें हैं। और एक तरफ भूमण्डलीकरण के चलते समाज में बदलाव है जो कि बहुत असमान बदलाव है, कहीं ज्यादा है कहीं कम है। इस सब को आपको संबोधित करना होगा। इन प्रश्नों से जूझना होगा और तब जाकर के हम ये कह पाएँगे कि कला में हम जीवन ला रहे हैं। और कला में जीवन ला रहे हैं तो जिस विचारधारा के तहत हम कोई बात करना चाहते हैं, उस विचारधारा को पहले इन चीजों को समझना होगा। वो सिर्फ डंडा लेकर नहीं चलेगी। तो कला और विचारधारा का मामला ये है कि विचारधारा को जब आप वाईडर पर्सपेक्टिव में लेकर के समझेंगे, तब जाकर के, चूंकि कला एक विस्तृत पद है, उसके रिश्ते की पड़ताल हो पायेगी। और यदि जीवन किसी वाद के दायरे में नहीं अंटता है,एक बार बहुत पहले विजयदेव नारायण साही ने भी कुछ

ऐसी ही बात की थी कि कलाएं जो हैं, अक्सर बहुत मुक्त वातावरण में पुष्पित पल्वित होती रही हैं। जब जब उस पर बंदिश लगाने की बात की गई है तब तब उसके परिणाम बहुत भयानक हुए हैं। और इसीलिए आप देखेंगे कि सोवियत संघ का टूटना कोई बड़ी बात नहीं रह जाता। आप देखेंगे कि विचारधाराओं को लेकर, खासकर युवाओं में, जो एक बहस चली उनके यहां उसका विश्लेषण हुआ वो देखने लायक है। जो बात लोग पहले दबे-छुपे स्वर में कहते थे, मार्क्सवाद की आलोचना करने से बचते थे, वहाँ उसको ये कहा जाने लगा कि तमाम थ्योरी मार्क्सवादी अवधारणाएं थीं। लेखन में ये बात आने लगी। इसलिए अब आज कला और विचारधारा के संदर्भ में बात करते हुए हमको इन सब संदर्भों को भी समझने की जरूरत है। और खास कर के कुछ टेक्स्ट पहले होते हैं जो समय के साथ और ज्यादा प्रासंगिक होते जाते हैं। उनमें नये नये अर्थ जुड़ते जाते हैं। और इस संदर्भ में 'क्या पता कामरेड मोहन' और 'राग केदार' को जब उन्हें साथ रख कर पढ़ा जाता है तो 'क्या पता कॉमरेड मोहन' के कुछ और नये अर्थ निकलते हैं। आज जब आने वाले वक्ता बाद में बात करेंगे, तो समझ में आयेगा कि किन-किन संदर्भों में उपन्यास जाता है। खासकर के शहर के संदर्भ में, एक ऐसा शहर जिसका आप इतिहास समझते हैं। यह एक ऐसी टेक्नीक थी जिसने शहर का बोध कराया, एक पेनोरामा क्रियेट किया। किस-किस ढंग से इसको बसाया गया था। वो शहर क्या होता है जब भोपाल गैस त्रासदी झेलता हैं वीरान हो जाता है। यानी आप जिस विकास की यात्रा तय करके पहुँचे, उस विकास में जरूर कोई ऐसी खामी रही कि आपको ये परिणाम भुगतना पड़ा। इसकी बात है कि इतिहास से हमने सीखा नहीं, वर्तमान को हमने इतना भयावह बना लिया कि बच्चे तक मर रहे हैं। और उधर अपराधी आजाद छूट रहे हैं, इस तरह के तमाम अर्थ नये-नये ढंग से खुलते रहते हैं। फिलहाल यहीं खत्म करता हूँ, धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

बहुत-बहुत धन्यवाद अरुणेश जी, हमारे साथ डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी हैं और उनको आज एक सेमीनार की अध्यक्षता करना है। लगातार फोन भी आ रहे हैं तो उन्होंने अनुरोध किया है कि थोड़ा क्रम को परिवर्तित करते हुए पहले हम उनकी बात सुन लें तो ये उनके लिए बेहतर होगा। वैसे हम चाहते थे कि डॉ. साब को हम लोग बहुत आराम से और बहुत देर तक सुनते रहें। हमारे समय के श्रेष्ठ व्यंग्य लेखक और जो बहुत महत्त्वपूर्ण सम्मानों से नवाजे जा चुके हैं। पद्मश्री डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी को मैं बहुत आदर के साथ आमंत्रित करता हूँ।

ज्ञान चतुर्वेदी

आदरणीया चित्रा जी, रोहिणी जी, संतोष सर, प्रभु को प्रणाम करके बात शुरू करनी चाहिये। मैं बोलूँगा अपने हिसाब से और वो वाली भाषा मेरे पास नहीं है जो

बहुत कहती है और उससे ज्यादा बहुत ज्यादा छिपाती है। जो कहती है शायद उससे कुछ अलग कहना चाहती है। जो कहती है उससे बिल्कुल अलग बात साथ में कहती है। वो वाली बात नहीं करूंगा बड़ी साफ बात करूंगा और ये साफ बात करना व्यंग्यकार कह लें आप, या किसी भी एक ईमानदार रचनाकार के लिए बहुत आवश्यक है। जैसा उन्होंने कहा कि अप्रिय सत्य भी बोलना चाहिए। और अप्रिय सत्य ही किसी भी समय की महत्त्वपूर्ण चीज है। विषय केवल कला और विचार नहीं हैं कला और विचारधारा। और इस संदर्भ में संतोष जी का उपन्यास है। मैंने केवल एक ही उपन्यास संतोष जी का पढ़ा है- 'क्या पता कामरेड मोहन', तो उसमें बहुत सारी बातें साफ होती हैं खासकर इस विषय में, और मैं थोड़ी सी बातें व्यंग्य में और व्यंग्य की भाषा में बोलूँगा तो बुरा मत मानियेगा क्योंकि वो है ना कि हँस-हँस के सच कहो तो बुरा मानते हैं लोग। तो हँस हँस के सच तो कहना पड़ेगा सच ही कहेंगे रोने की आदत नहीं है। ये शुरू में कह दिया कि सनद रहे। जो बुरा माने उनके लिए और जो बुरा ना माने उनके लिए भी।

देखिये, क्या कला और विचार ये विरोधी चीजें हैं। जैसा कि विद्वान लोग बताते हैं। ये वही विद्वान हैं जो भाषा के खेल से कुछ ऐसी बात करते हैं जैसे बिल्ली के बच्चे को एक ऊन का गोला मिल जाए तो इधर-उधर बिखेर दे उसको। और खेल भी हो जाए और बाद में आप ऊन को सुलझाते हुए दिखें वो स्वेटर बुनने लायक भी ना बचे। तो वो वाली बातें नहीं करूंगा मैं बहुत साफ बात करूँगा। अरे वो तो कलावादी है, ये कहना एक जमाने में एक धोबी पछाड़ दाँव था, हमारे साहित्य में। विद्वान के साथ ये सुभीता रहता है कि ना केवल उसके स्वार्थ उसकी बारीक राजनीति उसकी हिसाब किताब चुकाने की नीयत, बल्कि एक हद तक उसकी मूर्खता भी उसकी विद्वत्ता की आड़ में छुप जाती है। मैं ये विद्वत्ता वाली बात नहीं करूँगा। विद्वान की छोड़ें हम कला पे जाते हैं। क्या ऐसा है कि कला आ जाए तो विचार दब जाता है? या ऐसा है कि कला और विचार एक दूसरे को बल देते हैं? क्या कला किसी एक अलग टापू की एकांत नागरिक है। क्या जीवन के हर प्रश्न का उत्तर किसी एक विचारधारा में डुबकी लगाकर प्राप्त किया जा सकता है। क्या ये विचारधारा गंगा की धारा की टाइप कोई चीज है। कोई पवित्र स्नान है। जहाँ नागा साधू भी आएँगे ओर गंवई जन भी आएँगे और पुण्य ले के जाएँगे। कुछ ऐसा वातावरण साहित्य में बना दिया गया है, कि अगर आप इस विशेष धारा के साथ नहीं हैं, घोषित नागरिक अगर इस धारा के नहीं है, इस विशेष दल के साथ नहीं है तो फिर आपका सारा लेखन संदेह के दायरे में है। सारा लेखन गड़बड़ है। उस पर प्रश्न उठाए जा सकते हैं। और जो इस धारा में उतर गया वो फिर कैसा भी नंगा हो उसको तो पवित्रता का बाना माना जायेगा। उस पर मुझे बात करनी है।

ये बात समझने की है कि क्या जीवन इतना सरल है। क्या जीवन इतना एक आयामी है। क्या इतना इकहरा है। देखिये संतोष जी का उपन्यास मैंने बहुत ध्यान

वक्तव्य देते डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी

से पढ़ा। और उसमें ये वाली बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। अरुणेश उपन्यास की कला की अभी बात कर रहे थे और कह रहे थे कि एपिक सेंस अगर उसमें आ जाए तो उपन्यास है। वर्ना उपन्यास के स्ट्रक्चर में कई बार, संतोष जी का नावेल कहीं इधर उधर जाता है। मैं थोड़ा सहमत उस पर नहीं हो रहा। मुझे लगता है कि एक बहुत अद्‌भुत प्रयोग है उसमें। तीन पार्ट्स में उपन्यास खतम हो जाता है अपने आप। पहला खत्म हो जाता है उसने पार्टी छोड़ दी। एक पूरा चलता है वो उपन्यास और पार्टी छोड़ने पर खत्म हो जाता है। उसे पार्टी से निकाल दिया जाता है। लगता है उपन्यास खत्म हो गया। अब क्या बचा? तब संतोष जी एक नयी पैरलल जीवन की घटना लेकर आते हैं, और पूरा एक उपन्यास फिर लिखते हैं। उसी में जो उस जमाने में, उनके जीवन में, साथ में और क्या चल रहा था। व्यक्तिगत जीवन में प्रेम आता है या प्रेम का भ्रम आता है क्या प्रेम के बहाने चीजें करने का भ्रम आता है। दो लड़कियां आती हैं, उनके जीवन में उनकी पत्नी है उससे उनके संबंध दिखाए जाते हैं। और वो जो कार्तिक है जो उनका नायक है फिर उसकी कथा-साथ साथ दिखाई जाती है कि जब वो उस विचारधारा के झगड़ों टंटों और पार्टी वार्टी में बंधा हुआ है तब वहां साथ में जीवन क्या चल रहा है। तब मुझे ये लगता है कि दूसरा जो पार्ट है आपके उपन्यास का वो चलता है आखिर तक। और आखिर में आप फिर पार्टी में जाते हैं। तो आत्महत्या कर लेता है 'कामरेड मोहन'। वो जो पार्ट है वो बताता है, वो सिद्ध करता है कि जब उसने प्रेम को समझा जीवन के और आयामों को देखा तब उसे जीवन समझ में आया। कार्तिक सोचता है कि मैं विज्ञान को सब जगह पहुँचा दूँ, विज्ञान सबको समझ आ जाए तो पूरे लोग फिर अपने आप बदल जायेंगे। पर वह पाता है कि इससे आगे भी और इससे अलग भी कोई जीवन है और जब तक उसको ना समझा जायेगा, जब तक उसको जोड़ा नहीं जायेगा तब

तक ये पूर्ण बात नहीं आयेगी। और कहीं ना कहीं अधूरापन महसूस कर रहा हूं। वो अधूरापन महसूस करते हुए पार्टी को छोड़ता है। तो एक दूसरे उपन्यास का हिस्सा और शुरू होता है। तीसरा उपन्यास का हिस्सा ये बताता है कि ये दो हिस्से जब मिल गये तो अमलगमेट होने पर एक नया कार्तिक जो बना था उस कार्तिक ने फिर कैसे बिहेव किया। और उस कार्तिक का, बिलकुल ठीक बात है, उसका मार्क्सवाद से मोहभंग नहीं हुआ। वो अभी भी उससे जुड़ा हुआ है पर वो जानता है कि यह एक अधूरा सच है और कई बार अधूरे सच झूठ के बराबर हो जाते हैं। तो अधूरे सच को जो बेचने वाली दुकाने हैं हमारे हिंदी लेखन में भी। वो अधूरे सच की दुकानें थॉट खड़ा करने वाली दुकानें हैं। ये उपन्यास उनके खिलाफ जाता है उन्हें ये अच्छा लगे या बुरा लगे ये बात अलग है। जब आप सच कहते हो तो इस बात के लिए तो आपको तैयार होना ही चाहिये कि कुछ लोगों को बुरा लगेगा। क्योंकि हर आदमी सच के साथ नहीं खड़ा हुआ है।

देखिये विचारधारा की बात आई। विचारधारा में मुझे अपने दादाजी का समय याद आता है। हमारे घर में एक दवा रखी रहती थी अमृतधारा पता नहीं कई लोगों के घर में शायद अभी भी होगी। अमृतधारा होती थी एक दवाई की शीशी। हमारे दादा जी का उस समय उस पर अगाध विश्वास था। घर में किसी को उल्टी हो, दस्त लगे खांसी आ जाए दमा हो जाए, भगंदर हो जाए। सबका इलाज है पहले अमृतधारा पिलाई जाए इसमें सब का साल्यूशन है। कहते थे अमृतधारा दे दो ठीक हो जायेगा। देखिये क्या है अंधविश्वास के भी बड़े मजे हैं। जब विचारधारा एक अंधविश्वास में तब्दील हो जाए तो आपको बड़ा सुकून देती है। क्योंकि फिर आपके लिए सोचने को बचा नहीं। बस उतना ही तो है हम अपने सारे उत्तर इसी में खोजेंगे और जो उत्तर नहीं मिले वो फिर छोड़ दिये। उनको हम प्रश्न ही नहीं मानते जिन प्रश्नों के उत्तर नहीं है वो अति प्रश्न हैं। तो जब आप विचारधारा को अमृतधारा की शीशी में बदल दें और हमारे दादाजी कहते थे बहुत टाइट शीशी बंद रखो बाहर की हवा मिल गई फिर असर नहीं रहेगा दवाई में। आम तौर पर जब असर नहीं होता था तो कहते थे तुमने टाइट बंद नहीं की होगी, टाइट बांध देते तो बहुत बढ़िया रहता। तो हमारे यहां विचारधारा को अमृतधारा की शीशी में तब्दील कर दिया गया है और टाईट शीशी रखते हैं। तुमने कहीं उस लेखक संघ के विरुद्ध कुछ बात तो नहीं कह दी। तुमने उस पार्टी में बात अपनी कुछ दूसरी तो नहीं कह दी। जो आप पर विचारधारा की छाया थी उससे आपने एक पंजा तो बाहर नहीं निकाल दिया अगर निकाल दिया तो गड़बड़ हो गई फिर तो अमृतधारा खराब हो गई। अब ये दस्त पर भी असर नहीं करेगी किसी पर नहीं करेगी। तो आपने जो उपन्यास लिखा है ये विचारधारा के अमृतधारा बनने की त्रासदी पर लिखा है। मैं यही कहूँगा असल में संतोष जी का ये उपन्यास जो है वो इसी बात की बड़ी संतोषजनक पड़ताल करता है कि विचारधारा के तट पर जो आश्रम बना के अपनी संतायी चला रहे हैं, संतगीरी

चला रहे हैं, उनसे उस विचारधारा में कितना कचरा पहुँच रहा है, उस आश्रम से। ये उसकी पड़ताल है। विचार के साथ आपने जो विचारधारा शब्द डाला क्योंकि हम रोक नहीं सकते विचारधारा एक निरंतर प्रवाह है। विचार को जहाँ आप रोकते हो गड़बड़ हो जाती है। तो विचारधारा जो आपने शब्द लिया, कहाँ-कहाँ गड़बड़ हुई, क्या किसी भी विचार में कमी थी। या किसी भी विचार में ऐसी कमी होती है, वो विचार बिगड़ता कहां से है।

ये उपन्यास कथा भी है। जब विचार को रेजीमेंटेशन करने की जरूरत पड़ती है जब हम विचार को एक रेजीमेंटेशन में तब्दील कर देते हैं, जब आप एक फौज खड़ी करना चाहते हैं, विचार के बहाने। आप अपना एक हरावल दस्ता जिसे आप कहते हैं, वो तैयार करना चाहते हैं। जब आप हरावल दस्ता तैयार करते हैं तो वास्तव में हरावल दस्ता तैयार नहीं कर रहे हैं। आप गिरोह तैयार कर रहे है। तो जब आप एक संघ को गिरोह में तब्दील करना चाहते हैं तब जाकर बातें गड़बड़ होती हैं। मैं अभी लेखक संघ की बात कर रहा हूं मैं पार्टी की बात नहीं कर रहा। वो तो एक गिरोह में तब्दील सभी राजनैतिक पार्टियाँ हो गई हैं। वो बड़े गिरोह हैं। उनकी तो बात ही छोड़ दीजिये। मैं तो बुद्धिजीवियों का जो गुट है इन पार्टियों के अंदर उनकी बात कर रहा हूं। वो जब गिरोह में तब्दील हो जाते हैं ओर रेजीमेंटेशन करने की बात जब आती है तो विचार पीछे छूट जाते हैं। फिर विचार नहीं रहा फिर तो आप अस्त्र-शस्त्र की भाषा जो हरावल दस्ता है, आक्रमण बचाव, छापामार हमला ये आपस में चल पड़ता है। ये साहित्य में बहुत हो रहा है, आप देखते हैं विचार पीछे छूट जाता है, पावर गेम शुरू हो जाता है। ये पावर गेम की कहानी भी है, संतोष जी का उपन्यास। एक अद्‌भुत विचार भी जब कुर्सी, पद, शक्ति परीक्षण और विचार के नाम पर खड़ी की गई संस्थाओं का संघ, फौज, गिरोह पर कब्जे की नीच लड़ाई में तब्दील हो जाता है तो वो स्थिति उत्पन्न होती है जहां पर कार्तिक को भागना पड़ता है। अपने सारे अच्छे विचार और अच्छी इच्छायें ले के उसे वो जगह छोड़नी पड़ती है।

बड़े कलात्मक ढंग से ये वाली बात संतोष जी ने अपने उपन्यास में इसलिए कही है कि ऐसी विचारधारा के ऐसे ही एक तंबू में कई सालों रह के उन्होंने तंबू की अंदर की गतिविधियों को देखा। और तब वे इस बात को कह सके और ये मैं उनको बधाई दूँगा, कहूँगा कि आपने बहुत बड़ा काम किया, इतनी हिम्मत सबके पास नहीं है। लोग क्या हैं मुँह देखी बातें करते हैं। कहने के पहले कैल्क्युलेट करते हैं गणित बहुत है हमारे साहित्य में। हमारा व्याकरण चाहे जितनी कमजोर हो हमारा गणित बड़ा तगड़ा है। तो हम जो हैं गणित से चलने वाले लोग हैं। हम गणित देखते हैं। तो जब गणित के विरूद्ध आप चले गये वह बहुत बड़ी बात है। क्योंकि विचारधारा की पवित्र नदी के किनारे आश्रम है, मठ हैं, तंबू हैं और जो महंत पैदा हो जाते हैं वो बाते तो बड़ी-बड़ी करते हैं कीर्तन की भीड़ इकट्‌ठी कर लेते हैं। गोष्ठियों के भंडारे

कर लेते हैं। फेनेटिक चेलों की भीड़ इकट्ठी करते हैं। फेनेटिसिज्म किसी भी तौर पे खराब है। कोई भी विचार जब फेनेटिज्म में तब्दील हो जाता है तो फिर विचार का कोई परिमार्जन संभव नहीं है। वहां से वो सड़ना शुरू हो जाता है। वो विचार जहां से भी जिसने भी चालू किया है चाहे धर्म के रूप में किसी धार्मिक संप्रदाय में बदल जाए या किसी वैचारिक आंदोलन का भी हश्र वहीं जा के हो सकता है जब आप उसको लेकर फेनेटिक हो जाते हैं। आप जब विचार को रोक देते हैं तो धारा नहीं रह जाती। धारा को तो बहना है उसमें नई धाराएँ मिलना चाहिए। विचार में नये समय के साथ परिवर्तन आने चाहिए। पर हम ऐसा नहीं करते। विचार को बांध देते हैं तो वह पोखर में तब्दील होगा। हम कहते हैं बाँध खड़ा कर रहे हैं। इससे बिजली पैदा होगी हमारे विचार की। ऐसे बिजली वाले बाँध बहुत खड़े हैं। जिनसे बिजली तो पैदा नहीं हो रही, गाद इकट्ठी हो रही है जो फिर भरती है तो विचार को भी खत्म करती है बाँध को भी खत्म करती है। और एक भीने किस्म की गंध व्याप्त होती है उस गाद की। तो हमारे ज्यादातर जो वैचारिक संगठन हैं इस तरह के संगठन हैं। उनमें इस कदर आपने चीजों को बांध दिया कि वो जो कॉमरेड का दफ्तर भी है, उसमें- आपने दिल्ली ऑफिस की चर्चा की है- जब जाते हैं मिलने तो वो आपकी बात ही नहीं सुन रहे हैं। उनके पास पहले ही शिकायत आपकी आ चुकी है। पत्र वहां पड़ा हुआ है और आप उससे बात कर रहे हैं। वो सारा क्या है उस जगह कार्तिक बैठ कर सोच रहा है। उसे वो गंध आ रही है। अब आप इस गंध में दो ही तीन तरीके से रह सकते हैं। या तो आप अपनी प्राणशक्ति खत्म कर दें। सूँघने की आपकी संवेदना ही खत्म कर दें या फिर इसी गंध में मजा लेने की आदत डाल लें। आप इसमें मजा लेने लगें तो बात ही कुछ और है या फिर आपको कार्तिक की तरह उस चीज से निकलना ही पड़ेगा। जो इन विचारधारा को बैठ के सड़ा रहे हैं और खमीर बना रहे है इसका वो खमीर पैदा करके शायद कुछ आगे हो सकता है कि खाद्य पदार्थ बनाते हों या पता नहीं अब तक तो हलवाई की दुकान में वो चीज आई नहीं है। मुझे लगता है कि ये आपका उपन्यास बहुत हिम्मत से लिखा गया है। मैं एक बहुत खराब सा शब्द, श्रीलाल शुक्ल ने लिखा है उपन्यास में, अब उसमें आ गया है तो बोल सकता हूँ कि जिसकी पूँछ उठाते हैं वही मादा नजर आती है। इसमें मादा को स्त्रीविरोधी, कृपया ना लें। मैं उसको गाँव के टर्म में कह रहा हूँ कि जो बड़े बन रहे थे बहादुर वो बातें कहने वाली अलग बात है पर जो उपन्यास लिख के बाकायदा रिटन कमिटमेंट करते हैं, अपनी सोच के प्रति तो ये बहुत बड़ी बात है। मैं आपके इस उपन्यास का दोनों तरह से कायल हूं कि आपने जो बात कही वो अद्‌भुत कही बड़ी हिम्मत से कही और बड़ी कलात्मक ढंग से कही और उपन्यास में आपने एक बिल्कुल नया स्ट्रक्चर खड़ा करने की कोशिश की। नये तरह से बात कहने की कोशिश की। मैं दोनों बातों के लिए आपको साधुवाद देता हूँ। धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

धन्यवाद डॉ. साहब, आपने आग को बारूद के काफी करीब रख दिया है और जो विस्फोट होंगे तो आप ही की शरण में जाना पड़ेगा हम लोगों को। मित्रो, हमारे सत्र में हस्तक्षेपकर्ता भी हैं ओर श्री राकेश मिश्र को इस हेतु हमने आमंत्रित किया है। मेरा उनसे अनुरोध है कि जब उनका मन चाहे वो हस्तक्षेप करें। मुझको इशारा कर दें और जब उनका मन ना करे सुनते रहें। ये उनकी स्वतंत्रता है जिसमें कोई बाधा नहीं है। मैं अपने सभी आमंत्रित वक्ताओं से अनुरोध करूंगा कि वो अधिकतम दस मिनट में अपनी बात करें तो हम सब को सुविधा होगी। अब मैं बहुत स्नेहपूर्वक बुलाता हूँ श्री राहुल सिंह को जो झारखंड देवधर से आये हुये हैं और वहां कॉलेज में आप असिस्टेंट प्रोफेसर हैं। युवा आलोचक हैं, और इन्होंने, जो 'पहल' के पाठक होंगे उन्होंने देखा होगा कि, 'पहल' में इन्होंने बहुत ही महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है। राहुल सिंह जी कृपया पधारें आपने कथा और फिल्मों पर भी काफी लिखा है।

राहुल सिंह

आदरणीया चित्रा जी, रोहिणी जी और सभा में उपस्थित मित्रो, कला और विचारधारा के अंतर्गत संतोष चौबे के उपन्यासों पर बात करनी है। कुछ लोग कला और विचारधारा पर ज्यादा बोल कर गये। लेकिन विषय की जहां तक मैं समझ रहा हूँ बुनियादी टेक ये है कि कला और विचारधारा के मसले पे इनके उपन्यासों के बाबत बात की जानी है। दो उपन्यास हैं राग केदार और क्या पता कामरेड मोहन। राग केदार मैंने पढ़ा नहीं है और क्या पता कामरेड मोहन पढ़ने के क्रम में केदार नाम का चरित्र आता है। मुझे ऐसा लग रहा था कि संभव है कि ये केदार जो है वो राग केदार से निकल कर आया है। और अरुणेश की बात से इसकी तस्दीक होती है कि ये उसका एक्सटेंशन है। अब दो बातें हैं कि कला और विचारधारा के संदर्भ में विचार करते हुए इस उपन्यास की खूबियों पर और कमियों पर बात की जाए। वक्त कम है तो किसी एक ही पक्ष के साथ न्याय किया जा सकता है। अब मौका है तो उपन्यास क्यों पढ़ा जाना चाहिए उसके कुछ बिन्दुओं की ओर से कुछ बातें निवेदित करूँगा। मुझे इस उपन्यास को पढ़ने की जो चार वजहें मिली वो चार मुद्दे थे।

एक तो भोपाल गैस त्रासदी जो इसका एक हिस्सा है। उस हिस्से को पढ़ें हम तो कई चीजें हमें मिलती हैं। हालांकि अभी-अभी एक फिल्म भी आई 'भोपाल आफ्टर फुल रेन'। इस फिल्म को जब देखेंगे और उपन्यास को जब देखेंगे तो कुछ अंतर्विरोध भी दिखते हैं। इन अंतर्विरोधों की मैं चर्चा नहीं करूँगा। मैं कहना सिर्फ ये चाहता हूँ कि भोपाल गैस त्रासदी के संदर्भ में जो हमारे कला रूप हैं उसमें कम चीजें मिलती हैं और इस उपन्यास में वो है। इसके अलावा भोपाल के इतिहास पर एक अलग ढंग से रोशनी भी पड़ती है। इमारतों के निर्माण से लेकर दूसरी चीजों पर भी जो एक दूसरे स्तर पर हमें समृद्ध करती है। उस लिहाज से भी इसको पढ़ना

क्या पता कॉमरेड मोहन पर अपना वक्तव्य रखते हुए राहुल सिंह

एक अच्छा अनुभव है। राजेश जोशी ने भी अपनी किताब 'किस्सा कोताह' में कुछ इस तरह की चीजों को शामिल किया है। लेकिन एक बात जो महत्त्वपूर्ण है इस इतिहास के संदर्भ में वो ये कि संतोष चौबे बताते हैं कि, वो जो एक परम्परा रही है भोपाल में, वे एक लाइन लिखते हैं और इसका उदाहरण वो देते हैं कि नवाब भले ही यहाँ मुसलमान होते रहे हों लेकिन दीवान जो हैं हिन्दू रहते आये हैं। तो ये जो परम्परा रही, जिस गंगा जमुनी तहजीब या सामासिकता की संस्कृति की हम बात कहते हैं, उसकी एक परिपाटी को वो लक्ष्य करते हैं। और जो सबसे महत्त्वपूर्ण कारण लगता है मुझे इस उपन्यास के संदर्भ में वो है हमारी जो वामपंथी पार्टी है उस पार्टी की जो कार्य संस्कृति है उसको लेकर जो एक संवादधर्मिता पैदा करने की कोशिश या संवाद की जो कोशिश इन्होंने की है। वो संवाद किसी संवादहीनता से उपजा है। उसको जब वहाँ संबोधित नहीं किया जा सका, वहाँ बात नहीं की जा सकी तब इस रूप में उन चीजों को सामने रखा गया और मैं इस हिस्से के कारण जो है इस उपन्यास को पढ़ने का निवेदन आपसे करता हूँ कि इस कारण से इसे जरूर पढ़ा जाना चाहिए। खास कर के जो हमारे वामपंथी मोर्चे हैं वो एक पार्टी लाइन के नाम पर या अपने पार्टीगत संस्कार के कारण बहुत सी चीजों को जोड़ पाने में या जोड़ने को इच्छुक नहीं है। उसको लेकर जो लगातार संवादहीनता की स्थिति है, उसको जिस ढंग से वो रखते हैं मैं उसी पर अपनी बात केंद्रित कर रहा हूं।

वे कहते हैं कि नई तकनीकें जो विकसित हो रही हैं उन तकनीकों के बारे में हम किस ढंग से सोच रहे हैं। पार्टी किस ढंग से सोच रही है। उसके बारे में उसकी राय क्या है। वो क्लास के स्ट्रक्चर पे किस ढंग से सोच रही है। उससे इतर जा के सोचने के दरवाजे ये खोलते हैं, ये कहते हैं एक जगह पर ग्रामीण क्षेत्रों में कारीगरों की जरूरत के अनुसार तकनीक की तलाश की जानी चाहिए। जोर देते हैं कि जो

पारंपरिक ज्ञान बिखरा पड़ा है हमारे गाँव में उनको संकलित किये जाने की जरूरत है और पारंपरिक ज्ञान को अगर हम संकलित करें तो उसका अपना शास्त्र निर्मित हो सकता है। वो हमारे लिए उपयोगी साबित हो सकता है। उसमें वो बताते हैं कि इसमें जो वनस्पतियाँ हैं, जिसके उपयोग के बारे में ग्रामीणों के पास एक बेहतर समझदारी मौजूद है। उसका डाक्यूमेंटेशन किया जाना चाहिए। कृषि की तकनीकें जो उनके पास मौजूद हैं उस पर काम किया जाना चाहिए। और उनकी अपनी जो पूरी जीवन पद्धति है उसमें प्रकृति के चक्र को जिस ढंग से उन्होंने संरक्षित किया है उसे देखा जाना चाहिए। आज जब सस्टनेबल डेवलपमेंट और दूसरी चीजों की बात हम करते हैं। उस संदर्भ में उस पूरे परिवर्तन को वे रखते हैं। कि इन सब के बारे में पार्टी सोचती क्या है। इसको कैसे हम समावेशित करें कि हमारा दायरा बड़ा हो। इससे आगे वो विज्ञान को शामिल करना चाहते हैं कि वैज्ञानिक नजरिये को किस ढंग से पार्टी के कार्यक्रमों का हिस्सा बनाया जाये। वो मानते हैं कि विज्ञान एक अलग अनुशासन है और उसको बरतने की तमीज विज्ञान से जो जुड़े हुए लोग हैं, ज्यादा बेहतर तरीके से कर सकते हैं। लेकिन वो बताते हैं कि पार्टी में हर ऐसे अवसर पर चाहे वो विज्ञान का मसला हो, या संस्कृति का मसला हो या कोई भी मसला हो। कुछ ही लोग हैं जो उन मसलों को संबोधित करते हैं उसमें जो विशेषज्ञ हैं उनको शामिल किया जाना चाहिए। दूसरा सवाल वो इसके साथ जोड़ कर उठाते हैं कि आखिर ये विचारधारा जो है वो टेक्नोक्रेट या साइंटिस्ट या दूसरे वैसे लोगों को क्यों नहीं क्यों आकर्षित कर पा रही है! क्यों नहीं उसका दायरा फैल रहा है? वो कौन से मोर्चे हैं जिसके कारण हम नाकामयाब हो रहे हैं? कि अगर हम उसी जमीन पर खड़ा रह कर अपने आंदोलन को बड़ा करने की चाहत रखेंगे तो उसमें कामयाब होना मुश्किल है। क्योंकि वो करके हमने देख लिया है जरूरत इस बात की है कि उसके नये सवाल उसके नये दरवाजे खोले जाएँ। नई चीजों को शामिल किया जाये और वैज्ञानिक दृष्टिकोण उनका इसलिये है कि ये मानते हैं कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण के बढ़ावे के साथ जो धार्मिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति है उसका प्रतिरोध किया जा सकता है। क्योंकि जैसे वैज्ञानिकता बढ़ेगी वैसे पुनरुत्थान को एड्रेस किया जा सकता है। उसकी कट्टरता पर अंकुश लगाया जा सकता है और ये कहते हैं कि अगर हमें उस आंदोलन के दायरे को बढ़ाना है तो जनता की जरूरतों को पहचानना होगा। स्थानीय जरूरतों को तवज्जो देनी होगी।

जब ये स्थानीय जरूरतों वाली बात आती है तो यहां मुझे गाँधी याद आते हैं क्योंकि उनका सबसे ज्यादा जोर उनके ग्राम स्वराज पर है। हिन्द स्वराज में इस पर बहुत ज्यादा बल लगा है। तो मार्क्स का अगर हम विस्तार करना चाहते हैं तो उसमें कहीं ना कहीं गाँधी को भी शामिल करना पड़ेगा गाँधी एक पीठिका के तौर पे तो मौजूद रहेंगे। दबे ढंग से ये स्वर इसमें विकल्प के तौर पर शामिल है। दूसरा पार्टी कार्यकर्ताओं के संदर्भ से ये सवाल उठाते हैं कि उनके अपने घर हैं जरूरतें

हैं वो घर और उनकी जो जरूरतें हैं उनका जो खर्चा पूरा होना है उसके बारे में जो संदेह की स्थिति है, या जो उनके साथ दिक्कतें हैं उनको कैसे नोटिस किया जाये। ये बहुत बुनियादी बहुत छोटी-छोटी चीजें हैं जिससे उपन्यास का वो हिस्सा बढ़ता जाता है। आगे वो बताते हैं अपनी दिक्कतों के बारे में कि इन सबको वो जब पार्टी फोरम में रखते हैं कार्तिक के मार्फत तो दिक्कतें कौन सी आ रही हैं। कहते हैं कि वामपंथियों की सबसे बड़ी दिक्कत ये है कि वो अपने ही बीच घूमते रहते हैं। और क्रांति करते रहते हैं। दूसरे क्या सोचते हैं उनकी दृष्टि क्या है इसके बारे में उन्हें खबर तक नहीं रहती है। हम असहमत हो सकते हैं, लेकिन एक बड़े हिस्से के साथ ये सच्चाई लागू होती है। दूसरा वो जो अभी तक व्यापक तौर पर एनवायरनमेंट मूवमेंट है उसके बाबत वो सवाल उठाते हैं कि जो आदिवासी आंदोलन है जो पर्यावरण से जुड़े आंदोलन है जो स्त्री प्रश्न हैं, अल्पसंख्यकों के जो सवाल हैं। इन सवालों को उस मार्क्सवाद के खांचे में हम कहाँ रखना चाहते हैं। और अगर हम उसको संबोधित ना करें एडजेस्ट ना करें तो चीजें हम जोड़ेंगे कैसे, अपने दायरे को फैलाएँगे कैसे। जवाब इसका जो है वो हिस्सा मैं कोट करना चाहता हूँ अगर वक्त हो तो थोड़ा ही सा हिस्सा है मैं पढ़ना चाहता हूँ कि जिसमें वो पूछते हैं कि इन सब चीजों में पार्टी की राय क्या है। जवाब है कि पार्टी मूल द्वंद्वों के आधार पर अपना संघर्ष आगे बढ़ाना चाहती है। इस पर सवाल दूसरा होता है कि हमने चार तरह के वैश्विक द्वंद्वों की पहचान की है। हम उन्हीं के आधार पर आगे बढ़ना चाहते हैं। हालाँकि मैं आपकी बात मानता हूँ। नये आंदोलनों के साथ में रिश्ते बनाने चाहिए ये कामरेड का जवाब है। इस पर वो कहते हैं कि आपको नहीं लगता इसमें हमारा थ्योरीटिकल फ्रेमवर्क आड़े आता है न दलित हमारे पास आ रहे हैं ना आदिवासी और माफ कीजिये माइनॉरिटिज भी कोई बहुत आप के साथ नहीं है। इसका कोई जवाब उन्हें नहीं मिलता है। पहले सत्र की लड़की उससे एक सवाल पूछती है कि कामरेड मुझे लगता है कि समाज सिर्फ द्वंद्व के आधार पर नहीं चलता कई अन्य भावनाएँ या जज्बात भी होते हैं जिनके वशीभूत लोग काम करते हैं। जैसे राष्ट्रभक्ति एक जज्बा है। आदमी इसके लिए प्राण भी देता है या प्रेम एक भावना है जो आदमी से बड़े-बड़े काम करवाती है। हम ऐसे स्फुरणों के आधार पर भी तो काम कर सकते हैं। इसका जो जवाब है वो महत्वपूर्ण है कि शायद ये सही हो पर ये सब सुपर स्ट्रक्चर का हिस्सा है। मूल द्वंद्व इकॉनॉमी है।

कहने का आशय ये है कि जिस मूल द्वंद्व के फेर में या जिस मूल द्वंद्व के टेक पे रख कर हम अब भी सोचने के अभ्यस्त हैं अब उससे जो चीजे हैं संबोधित नहीं की जानी है, ना दायरा बढ़ना है। अगर हमें अपने दायरे को बढ़ाना है तो कुछ चीजों को शामिल करना होगा। और फिर सवाल आता है कि इस पर निर्णय कौन लेगा। पार्टी लेगी, पार्टी जो एक अमूर्त संस्था है, लेकिन वो उसके छद्म को भी उजागर करते हुए वहां तक पहुंचते हैं कि आखिर निर्णय जो है एक कमेटी पर निर्भर

है और निर्णय कुछ लोग ही लेते हैं। तो हमें लगता तो है कि एक जनतंत्र तो है निर्णय के स्तर पर लेकिन वो इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह सीमित है। ये बाकायदा उपन्यास में है। वहां है कि ऑल आर इक्वल्स बट सम आर मोर इक्वल। तो ये जो चीजें हैं इस रूप में, मैं उपन्यास के इस हिस्से को ज्यादा महत्त्वपूर्ण पाता हूं। कमियां उपन्यास की हैं। दूसरी कमियाँ भी हैं उनकी भी चर्चा की जानी चाहिए क्योंकि कमियाँ, मुझे लगता है, कि मनुष्य को भी मानवीय बनाती हैं। अगर कमियाँ न रहें तो मनुष्य नहीं रहेगा। मसलन ये कि कुछ हिस्से थे जिनको अगर लोभ संवरण किया जाता और शामिल ना किया जाता तो, उपन्यास ज्यादा कसा हुआ होता। एक जैसे विलियम्स और रति का जो प्रसंग है। तो वो जब अचानक से उपन्यास में आता है तो उसकी बहुत उपयोगिता समझ में नहीं आती। वैसे आज तक मैंने ऐसा कहा नहीं क्योंकि ये कहना रचनाकार का अपमान करना होता है कि ऐसा हुआ होता। इसलिए उसके विस्तार में मैं नहीं जाउँगा। बहरहाल, मैं इतना कहना चाहता हूं कि ये चार नुक्ते हैं और खासकर के जो वामपंथी मोर्चे की चिंताएँ हैं वो चिंताएँ ज्ञान चतुर्वेदी जी वाली चिंताएँ नहीं हैं, कि जिस ढंग से वो कह रहे थे लेखक संगठनों और दूसरे के बारे में। ये चिंता जो है उसको समृद्ध करने से उसको मजबूत करने से जुड़ी चिंताएँ हैं। एक सरोकार से उपजी हुई चिंताएँ हैं। उसको उसी रूप में लिया जाना चाहिए। धन्यवाद!

मुकेश वर्मा

बहुत-बहुत धन्यवाद, राहुल जी! राकेश मिश्र जी हस्तक्षेप करना चाहेंगे। अगर करना चाहें तो पधारें। समय का थोड़ा ध्यान रखेंगे।

राकेश मिश्र

मंच पर उपस्थित आदरणीया चित्रा जी, रोहिणी जी, मुकेश भाई और सभागार में उपस्थित हमारे अग्रज मित्रो, संतोष चौबे जी। मित्रो, ये विषय कला और विचारधारा एक व्यापक परिदृश्य और संदर्भ को समेटे हुए विषय है। और इस संदर्भ में संतोष चौबे जी के उपन्यास की बात करते हैं तो कहीं ना कहीं, वह कई स्तरों पर, उपन्यास के टेक्स्ट के संबंध में भी और उपन्यास के कथ्य के संदर्भ में भी, और उपन्यास में चीजें जिन स्तरों पर चलती हैं उसके संदर्भ में खुलती दिखाई देती हैं। खासकर जब हम इस उपन्यास को पढ़ते हैं और इस उपन्यास के प्रकाशन के समय को देखते हैं तो उस समय एक पूरे हिन्दी प्रदेश में या पूरे हिन्दी हल्के में एक बहुत बेचैनी का समय था। सोवियत संघ के टूटने का समय था और इसके अलग-अलग जवाब तलाश किये जा रहे थे कि आखिर ऐसा क्यों हुआ एक महान स्वप्न हमारे देखते-देखते इस तरह से बिखर गया। एक मोहभंग और हताशा का समय था। बहुत से लोग एक सुविधाजनक जवाब भी तलाश रहे थे। अंतर्राष्ट्रीय एक कहानी है कि सोवियत संघ क्यों टूटा यही शीर्षक है उसका। तो कहता है कि अपने अंतर्विरोधों

से टूटा। यह एक बहुत स्मार्ट सा एक जवाब था। इसके अपने अंतर्विरोध थे लेकिन कुछ लोग थे जो इन सवालों को इसकी गहराई में जाकर समझने की कोशिश कर रहे थे। कि आखिर जो विचारधारा अपने आप को वैज्ञानिक विचारधारा कहती है। वैज्ञानिक समाजवाद इसका नाम है। और वो मानती है कि इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण है उसका वैज्ञानिक होना। यह किसी आस्था या किसी इस तरह की चीजों से संचालित नहीं होती है। लेकिन आखिर वो वैज्ञानिक विचारधारा बन कर रह गई थी। जब हम उस समय के मार्क्सवाद की बात करते हैं तो कुछ खास पदावलियों, शब्दावलियों की बात करते हैं। बुर्जुआ, पेटीबुर्जुआ, बेस, स्ट्रक्चर इसकी बात करना ही क्या केवल मार्क्सवाद था। वह जो एक चेतना बननी चाहिए थी जिस वैज्ञानिक चेतना की बात करनी चाहिए थी मार्क्सवाद को, वह वहाँ जाकर के रुक जा रही थी। जैसा कि राहुल ने कई बातों की तरफ इशारा किया, कई तरह के पूर्वाग्रहों की ओर। जब हम उनमें फँसते हैं तो दुराग्रहों में फँसते हैं। यह वो उपन्यास नहीं है कि जो सिर्फ सेल्फ क्रिटिसिज्म का सवाल उठाता है कि हम अपने अंतर्विरोधों को खोजें बल्कि वो जानना चाहता है कि अंतर्विरोधों में कौन से तत्त्व हो सकते हैं, उसकी कौन सी चीजें हो सकती हैं जिस पर हमको खुल कर बात करनी चाहिए थी। खासकर कला और विचारधारा के संदर्भ में। वहाँ सिर्फ उसमें एक पात्र आता है जिसको, हम रास्ते में चर्चा भी कर रहे थे विनोद तिवारी सर से, कि अपूर्वानन्द नाम का एक पात्र है जो इस तरह के कलारूपों को देखता है। उससे जब पूछा जाता है कि कैसा लगा आपको तो वह कहता है, शुद्ध चूतियापा है। मतलब इस तरह से वो देखता है और एक फतवा जारी कर देता है। उपन्यास के एक चलते हुए हिस्से में आता है कि ऐतिहासिक भौतिक वाद यदि मार्क्सवाद का एक सत्य है, यदि सबकुछ नियति ही है तो मनुष्य की उपस्थिति क्यों है यदि सबको समाजवाद की तरफ जाना ही है ऐतिहासिक नियतिवाद के तारतम्य में तो व्यक्ति करेगा क्या? इस सवाल को दार्शनिक स्तर पर कई लोगों ने पहले भी उठाया है। हेमिंग्वे ने बड़े दूसरे संदर्भों में उठाया कि आखिर मनुष्य की ये पूरी ताकत क्या करती है। वह स्थिति में किस तरह से हस्तक्षेप करती है। उसकी अपनी दूसरी कौन सी चीजें ऐसी होती हैं, जैसे राहुल ने कहा कि वह देशभक्ति या दूसरी ऐसी चीजें हैं, उसको भी दार्शनिकों ने अलग-अलग तरीके से उठाया। लेकिन जब हम सिर्फ एक विचारधारा को इस तरह की कुछ सीमित शब्दावलियों में समेटकर बात करते हैं तो न्याय नहीं कर रहे होते। पार्टी में ये सवाल बहुत द्वंद्वात्मक होना चाहिए। तो यह कोई अचानक का सवाल नहीं था। सवाल है कि हमने अपनी उन परम्पराओं से ऐसे सवाल उठाने वालों को नजरअंदाज भी किया था। ये सवाल आपको याद होगा कि 'मैला आँचल' में या 'परती परिकथा' में रेणु बहुत मजबूती से उठाते हैं। अपनी कहानियों में उनके कई इस तरह के संदर्भ मिलते हैं। संतोष चौबे के बाद के कई रचनाकारों ने भी इन्हें उठाया है। अखिलेश भाई की एक कहानी है- 'यक्षगान'। उसमें जब एक लड़की अपहरित होती है और वो अपने

पार्टी के सेक्रेटरी के पास जाती है कि हमको इस पर काम करना चाहिए उसकी कोई खोज खबर लेनी चाहिए तो वह कहता है कि इसमें आर्थिक मामला कहाँ है। पार्टी केवल आर्थिक सवालों पर ही बात कर सकती है। यह तो लड़की के अपहरण का मामला है। तो हमने जिस तरीके से उसको यांत्रिक बनाया, अपनी समझ को यांत्रिक बनाया, पार्टी को यंत्रिक बनाया। उसकी अपनी स्थितियों को जिस तरीके से एक नेतृत्व और उसमें काम करने वाले कार्यकर्ताओं के बीच एक दूरी पैदा की उससे इस तरह की हताशा पैदा हुई थी और आज जिसकी बात अलग-अलग संदर्भों में ज्ञान चतुर्वेदी कर रहे थे या अरूणेश कर रहे थे कि यह जो एक दूरी बन गई है। अब यह उपन्यास जिस समय आया था उससे ज्यादा प्रासंगिक अब इस समय है। इस उपन्यास के, ठीक है कि चौबे जी की षष्टिपूर्ति के अवसर पर ही सही, पुनर्पाठ की आवश्यकता है। इस उपन्यास के पुनर्पाठ का संदर्भ यह भी है कि ये उपन्यास आज ज्यादा प्रासंगिक और ज्यादा जरूरी तरीके से पढ़े जाने की माँग करता है। मुझे हस्तक्षेप ही करना था आलोचकीय वक्तव्य नहीं देना था। धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

ये राकेश मिश्र थे जिनका परिचय मैं आपको कराना भूल गया था। राकेश मिश्र वर्धा महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से पधारे हैं। वहाँ पर वो सहायक प्राध्यापक हैं और इनके दो कथा संग्रह हैं जिनमें 'लाल बहादुर का इंजन' इनका बड़ा चर्चित कथा संग्रह रहा है। बहुत बहुत धन्यवाद। अब मैं बहुत आदर से 'पक्षधर' के संपादक श्री विनोद तिवारी को आमंत्रित करता हूँ। वो दिल्ली विश्वविद्यालय से आये हुए हैं। वहाँ एसोसिएट प्रोफेसर हैं। आपको देवीशंकर अवस्थी आलोचना सम्मान जैसा महत्त्वपूर्ण सम्मान मिल चुका है। और एक बार इनके स्वागत में आप ताली जरूर बजायें आलोचना की दो किताबें हैं श्री विनोद तिवारी की। श्री विनोद तिवारी...

विनोद तिवारी

धन्यवाद मुकेश जी! आदरणीय मंच जो मेरे लिए कला और विचारधारा के दो मूर्तिमान रूप हैं, सभागार में उपस्थित सभी विद्वत् जन, छात्र, छात्राओं और जिनके निमित्त हम आज यहां उपस्थित हुए हैं आदरणीय संतोष चौबे जी, नमस्कार बहुत बहुत शुभकामनाएँ कि वो शतायु हों। मित्रों मैं अपनी बात शुरू करने के पहले दो शपथ लेना चाहता हूँ। पहली तो ये कि मैं मन की बात करूँगा और दूसरी बात ये कि मैं जो कहूँगा सच कहूँगा सच के सिवा कुछ न कहूँगा। समय कम है और राकेश को हस्तक्षेप के लिये बुलाया गया था हालाँकि वो हस्तक्षेप नहीं था। हस्तक्षेप तो इधर से है। फिर भी मैं कोशिश करूँगा कि दस मिनट में कुछ कह पाऊँ। दरअसल ये जो बातचीत का विषय रखा गया है कला और विचारधारा संदर्भ में संतोष चौबे जी का उपन्यास, उस पर कुछ कुछ बातें यहाँ हुई हैं। असल में यह एक बहस जो

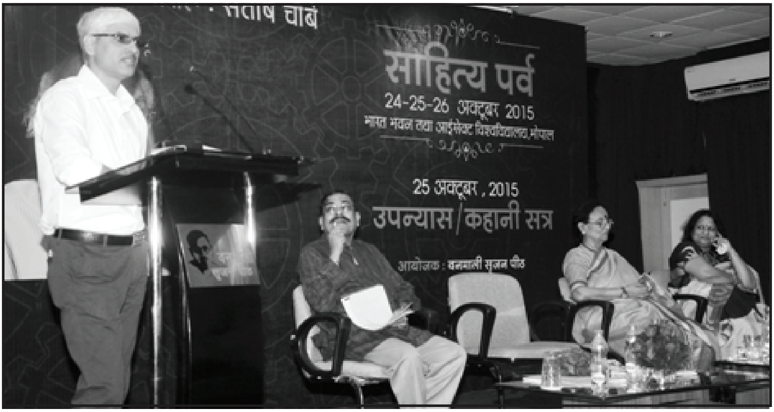

वक्तव्य देते विनोद तिवारी

है, खासकर रचनात्मकता को ले के, यह बहस बनाई हुई है या कला के साथ कहीं से आती है? क्योंकि कला बिना दृष्टि के कैसे संभव है, कोई भी कला, वह जहां से हमने बोलना सीखा है, वहां से लेकर के और आज जब हम यहाँ बोल रहे है उसमें एक भूत है विचारधारा के नाम पर जिसको कि हमने एक बहुत बड़े सुपरमैन के समान महाशक्तिमान मान लिया और उसी को एक विचारधारा के नाम पर मानते रहे। लेकिन जिन लोगों के नाम पर विचारधारा है, उन लोगों ने भी साहित्य पर बहुत कम लिखा है। लेकिन जो लिखा है उसमें कहीं भी कला को विचारधारा से सीमित करने की बात नहीं लिखते। खुद मार्क्स ने तीन लोगों पर लिखे, नाटक, लासाल, सुई लासाल पर लिखते हुए कहा है कि सबसे महत्त्वपूर्ण है कि दरअसल, चरित्र को किसी भी रचना में प्रवक्ता बन कर नहीं आना चाहिए। ये वाक्य है उनका। ममता जी बैठी हुई हैं। ये सब बड़े कलाकार हैं। और रचना की प्रक्रिया में जिस कला की बात को मैं कहना चाहता हूँ दरअसल दो तीन दृष्टियाँ हैं जिसको बनाया गया है एक तो यह है कि जो धारणा है कि कला बिना विचारधारा के दृष्टिहीन होती है। दूसरी जो धारणा है कला विचारधारा की चेरी नहीं होती है ओर जो तीसरी धारणा है कला और विचारधारा की संगत क्या है। पहले जो हम बहुत पहले से जानते हैं छात्र बैठे हुए हैं वो भी जानते हैं कि ये कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण है तो यह जो रिफ्लेक्शन थ्योरी है विचारधारा की पहले मैंने कहा कि कला विचारधारा के बिना संभव नहीं है। ये रिफ्लेक्शन थ्योरी है प्रतिबिंबन का सिद्धांत है मार्क्सवाद जिसमें विश्वास करता है और जिसको यथार्थवाद के रूप में विकसित किया गया। जो दूसरी बात है जिसमें ये कहा गया कि कला विचारधारा के रूप में कला विचारधारा की चेरी नहीं है। अब ये ऐसा भी नहीं है। बर्तोल्त ब्रेख्त का तो मशहूर कथन है कि ''विचारधारा का विरोध भी एक तरह की विचारधारा है।'' इसलिए जब कला की स्वायत्तता की बात की गई दूसरी धारणा में कि वो चेरी नहीं होती है तो सवाल ये

उठता है क्या कलाओं में कोई पूर्ण सत्य हो सकता है कभी। यहाँ तक मैं तो यह कह रहा हूँ कि मनुष्य ने जो ईजाद किये हैं। ईश्वर मनुष्य का ईजाद किया हुआ अपना संदर्भ है, धर्म मनुष्य का ईजाद किया हुआ अपना संदर्भ है, कला भी इजाद है। क्या वो पूर्ण सत्य हो सकती है और कैसे हो सकती है? इसीलिए वो दृष्टियाँ जिनकी हम बात कर रहे हैं दरअसल रचनात्मक प्रक्रिया में कहना क्या चाहती हैं? इसीलिए उपन्यास के संदर्भ में तो बहुत ही दिलचस्प है, खासकर के यहाँ कई सारे रचनाकार वरिष्ठ से लेकर के युवा पीढ़ी तक के बैठे हुए हैं, तीन बातों का होना। रचना प्रक्रिया में कला की तीन चीजें हैं जो महत्त्वपूर्ण है। इन्हें कथ्य, कथानक और कथावस्तु कहा जाता है। और सामान्य सी बात है कि पहले क्या कहना है यह तय होता है। ठीक है कि कथानक के बुनने की प्रक्रिया में बहुत जद्दोजहद होती है, बातचीत होती है संवाद होता है। तो तीन जो महत्त्वपूर्ण चीजें हैं कि क्या कहना है क्यों कहा जा रहा है और कैसे कहा जा रहा है ये तीन चीजें हैं। इसीलिये जब हम उस पर बातचीत कर रहे हैं तो यह जो एक मुक्तिबोधीय संदर्भ है, अगर आप सब को याद हो और अरुणेश ने कोट भी किया है एक वाक्य, और ये नई लड़ाई नहीं है कला विचारधारा की सदियों से चली आ रही है रूप और वस्तु की लड़ाई, उसमें वो कहते हैं कि कथ्य खुद ही अपना रूप लेकर आता है। ये मुक्तिबोध का कोट है। दो शब्द मुक्तिबोध के संवेदनात्मक हेतु और संवेदनात्मक अभिप्राय, ये कला रचना विचारधारा या जो कुछ भी उसको नाम दीजिए, ये दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं किसी भी रचना प्रक्रिया के, चाहे वो कविता हो कहानी हो या उपन्यास हो या अन्य रचना हो व्यंग्य हो उसमें दरअसल संवेदनात्मक हेतु, जिसकी बात वो कर रहे हैं, वो है क्या जिसे आप परिवेश कहते हैं अंतर्द्वंद्व कहते है। जिसे आप अंतर्विरोध कहते हैं। तो हमारे अपने अंदर अंतर्विरोध बहुत सारे भरे पड़े हैं। विचारधारा तो ऐसे कई अंतर्विरोधों का एक समुच्चय है क्योंकि एक मत एक विचारधारा का होना संभव नहीं हैं। इसीलिए उसकी लोकतांत्रिक अवधारणा भी होती है। तो यह अंतर्विरोध है। दरअसल विरोध से ही तो कला का रिश्ता बनता है। दरअसल कई बार विचारधारा को फ्लेवर की तरह भी उपयोग किया जाता है तो वह तो देखियेगा ठीक उसी तरह से जिस तरह से विचारधारा का विरोध किया जाता है। इसीलिए जो कथानक है वो ऐसी चीज नहीं है वो बाहर से दिखने वाली चीज है। यह तो उसके पूरे ही कथा विन्यास में उसके पूरे ही रूप रचना में उसकी भाषा में उसकी शैली में उसकी टेक्नीक में उसकी अंतर्वस्तु में और इन सबसे मिलकर के उसके समुच्चय से वो बाहर आयेगी। संतोष जी ने कई अनुवाद भी किये हैं और इस उपन्यास में भी केदार कहता है कार्तिक को कि तुम्हारा मित्र मिला था, लेकिन वो एक नावेलेस्टिक आर्ट के संबंध में उदाहरण देता है आर्केस्ट्रा का, जो पूरी संरचना के संबंध में महत्त्वपूर्ण है। टेरी इगल्टन का अनुवाद किया है संतोष जी ने। दरअसल विचारधारा सत्य को उद्घाटित करती है और सत्य को छुपाती भी है। अब ये बहुत महत्त्वपूर्ण सवाल है क्योंकि आज हम

भारत में ये कह सकते हैं कि समाजवाद टूट गया, मार्क्सवाद नहीं रहा, उत्तर आधुनिकता का प्रभाव है। दरअसल हमने अपनी पूरी एकेडमिक समझ में भी मार्क्सवाद को पूरी तरह विकसित ही नहीं किया है। पाश्चात्य में तो खूब हुआ है और बाकायदा लड़कर हुआ है। बावजूद इसके वो एंटीमार्क्ससिस्ट लोग नहीं है जिन्होंने इस तरह की थ्योरी व मार्क्सवाद को विकसित किया है। अब यह जो छिपाना या उद्घाटित करना ये कौन तय करता है। बहुत सारे रचनाकार लेखक यहाँ बैठे हुए हैं मैं उनसे पूछता हूँ कि ये कौन निश्चित करता है और किस दृष्टि से निश्चित करता है? इसीलिये कहा क्या जा रहा है और पहले हमने जो तय कर लिया क्या कहना है उसके बीच की यह कड़ी है, इसीलिए शिल्प इतना आसान भी नहीं है और इस दृष्टि से आप देखते हैं कि बहुत सारी चीजें नेचुरल ढंग से, क्योंकि मैंने भी एक ही उपन्यास पढ़ा है 'क्या पता कॉमरेड मोहन', और मेरे एक मित्र है केरल में वी जी गोपालकृष्णन उन्होंने ये सूचना दी कि ये मलयालम में भी अनूदित है, ये उपन्यास अभी हाल ही में अनूदित हुआ है, निश्चित ही ये विचारधारा से विरोध का उपन्यास नहीं है। लेकिन विचारधारा से एक अंतर्द्वंद्व, एक असंतोष, टकराहट और खासकर के जिसे हम कला कह रहे हैं उससे बेचैनी इस उपन्यास में है। मुझे तो नहीं लगता कि पार्टी लाइन के नाम पर, उस धारणा में पार्टी की क्या पहल है इससे एक रचनाकार बहुत प्रभावित होता है। क्योंकि अभी ये कहा गया कि बहुत ही साहस के साथ ये उपन्यास संतोष जी ने लिखा, रागदरबारी का उन्होंने जिक्र किया। श्रीलाल शुक्ल को बाकायदा राग दरबारी के लिए अनुमति लेनी पड़ी थी। उसमें तो ऐसा कुछ नहीं है। यह तो हमारा संवाद है क्योंकि कार्तिक को मैं मानता हूँ कि वह पहले से चला आ रहा है। कहा जाता है कि प्रत्येक उपन्यास आत्मकथात्मक होता है तो इससे वह ज्यादा स्पष्ट होता है। इस दृष्टि से आप देखते हैं तो इस अंतर्विरोध से खुद संतोष जी का अनुभव और गहरा होगा कि वह कहां से कैसे बनता है उसकी क्या क्या कमियां हैं। लेकिन वो क्या कोई ऐसी विचारधारा तलाशेंगे जो पूर्ण सत्य के लिए गारंटी देती है, वह तो कलाकार को ढूंढना पड़ेगा। वो उपन्यास केदार से शुरू होकर केदार पर ही खत्म होता है और सांची में जा के खत्म होता है तो इस सिंबल को ही समझे जाने की जरूरत है कि हम कहाँ से और किस तरह से किस हायर स्थान से देखने की कोशिश करते हैं। करुणा मानवीयता ये हर लेखक की हर कला की प्राथमिक और अनिवार्य शर्त होती है। विचारधारा इसका कोई विरोध नहीं करती है फिर भी विचारधारा जब भी हम चाहें हमें विवेकवान बनाती है। कोई भी इस तरह से कटघरे नहीं बनाता है। और यही तो आपका विवेक है। लेकिन मुझे तो नहीं लगता कि कोई भी विचारधारा कला को बाधित करती है। अगर आप वास्तविक रूप से कला के मूल्यों को पूरी ईमानदारी के साथ जीते हैं। कला सबको लोकतांत्रिक बनाती है धन्यवाद।

मुकेश वर्मा

बहुत बहुत धन्यवाद विनोद जी, उन्होंने कुछ बातों को बहुत रेशा-रेशा साफ किया है और ये बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही कि ये जो उपन्यास है वो विचारधारा के विरोध का तो नहीं है। बहरहाल, बातचीत तो अभी और बहुत आगे चलेगी। मैं बहुत आग्रह के साथ अपने प्रिय मित्र, प्रिय लेखक, महेश कटारे जी को आमंत्रित कर रहा हू। आप ग्वालियर से पधारे हैं। श्री महेश कटारे।

महेश कटारे

मंच पर बैठी हमारी अग्रज कथाकर चित्रा जी, मित्र मुकेश जी और मित्रो! दरअसल ये बड़ा कठिन है कि आलोचक के बाद में किसी लेखक को बुला लेना फिर ये कहना कि वो उस पर बात करे। स्वाद लेने वाले दूसरे होते हैं बनाने वाले दूसरे होते हैं तो बड़ा मुश्किल हो जाता है। मैंने दोनों उपन्यास पढ़े हैं। दिक्कत ये हुई कि मुझे बजाय कहानी के, उपन्यास में इन्होंने डाल दिया। मैं सोचता रहता था कि अगर मैं लिखता इन्हीं चीजों को तो कैसे लिखता, दरअसल कला और विचारधारा संतोष चौबे के उपन्यास के संदर्भ में इसकी एक सीमा है। कई बार जब हम कला की बात करते हैं तो पहले हमें ये जान लेना चाहिए कि कला है क्या, और एक लेखक उस कला को कैसे समझता है। जोनाथन कलर हैं संरचनावादी समझे जाते हैं, प्रभु जी यहां बैठे हुए हैं, शायद वो आर्ट क्रिटिक भी हैं। उन्होंने कहा है कि अगर कोई कथा लिखी जाती है तो उसकी अभिरचना संरचनावादी होती है। एक विचार ये था कि एमिल जोला कहते हैं कि रूप विधान बहुत अच्छा होना चाहिए। ये सब उपन्यास के विषय में, मतलब क्या हुआ? तीसरी बात मैं जोड़ूँगा। जब मैं अपने लेखक के तौर पर सोचता हूँ तो मुझे लगता है कि उपन्यास कला एक सम्मिश्र विधा कला है। जैसे चित्रकला से उन्होंने अभिरचना को ले लिया रूपविधान कविता से आया है ये दोनों चीजें उसमें समाहित हो जाती हैं। एक तीसरी चीज जिसे मैं मानता हूँ हमारी देशज है भारतीय है उसका बड़ा जबरदस्त महत्त्व है और बाणभट्ट से अब तक चली आ रही है। वो है लय जो संगीत से यहां पर आती है। क्योंकि लय ही वह चीज है जो रचना में एक किस्म की नवीनता, आश्चर्य, प्रसन्नता और आगे जाकर के वैचारिक विकलता भी उत्पन्न करती है। इसीलिए हम जब बात करते हैं तो एक लेखक के रूप में हमें इन बातों का ध्यान रखना चाहिए। विचारधारा की बात आती है तो एक बात और है। जब हम इन उपन्यासों की बात करते हैं तो इन्हीं में से एक अंश है, राग केदार का है, ''सब कुछ उतना ही सुंदर है आज भी धरती पर, क्यों नहीं चमकता आज वह पूरी ताकत से और करता मेरे दिल के कोने कोने को रोशन क्यों एक सन्नाटा सा है मेरे दिल में मित्रो''। यह कविता नहीं है। यह गद्य का अंश है जो कविता की तरह से उपन्यास में आता है? ये किस तरह से वहाँ पर जाकर के अपना प्रभाव पैदा करता है? एक वाक्यांश या कहना चाहिए कुछ वाक्य,

किस तरह से कला उसमे आती है। इसका एक उदाहरण मैने आपको यहां पर दिया है। विचारधारा के बारे में जब बात उठी थी तो अब देखिये कि राग केदार, जब राग ही उसका नाम है, तो मुझे लगा कि राग केदार बहुत साफ-साफ तौर पर सुरताल में निबद्ध है, जब राग केदार है तो तीन ताल हैं उसमे। उसमें पहला है कार्तिक का बयान, दूसरा है केदार की डायरी, तीसरा हैं मित्रों की बातचीत।

जब हमारे पहले आने वाले मित्र बता चुके हैं कि 'क्या पता कॉमरेड मोहन' 'राग केदार' का विस्तार है तो उस पर भी देखिये, उसमें सात सुर हैं। विस्तार मे नही जाऊँगा, नही तो समय चला जायेगा। इन दोनों की एक संगति है केदार वहां भी है केदार आता है। केदार से बातचीत होती है, एक जिसको हम जादुई यथार्थ कहते हैं। उसका वहाँ पर आगमन होता है उसके जरिये हम केदार को पाते हैं, दो जगह पर पाते हैं।

मृत केदार वहाँ पर आकर के बातचीत करता है कार्तिक के मित्रों से। मित्रो! एक बात और है जो मै कहना चाहूँगा कि जब हम इन दोनों उपन्यासों को पढ़ते हैं तो कहीं-कहीं हमे लगता है कि ये आत्मकथा है, कहीं-कहीं और घोषित रूप से उपन्यास है। कभी कभी होता ये है कि कोई कोई आत्मकथा उपन्यास जैसी रोचक हो जाती है, और कोई-कोई उपन्यास आत्मकथा जैसा प्रमाणित हो जाता है। इन दोनों चीजों की जो काबिलियत है उसको भी हमें ध्यान में रखना बहुत ज़रूरी है।

जब हम इस उपन्यास को या इन उपन्यासों को पढ़ते हैं तब अगर हम लेखक का ध्यान करते हैं तो एक व्यक्ति हमारे सामने आ जाता है लेखक यानी संतोष चौबे। एक संज्ञा हमारे सामने होती है। महत्त्वपूर्ण यह है कि वह संज्ञा क्या सर्वनाम मे बदलती है अपनी रचना के माध्यम से? यदि वह संज्ञा रचना में सर्वनाम में बदल जाती है तो वह बड़ी चीज हो जाती है। हमें इस नजरिये से भी उन उपन्यासों को देखना होगा। विचारधारा की बात आयी तो विचारधारा के बारे में मेरे पूर्व वक्ता ने कहा ही था। वो मै आपको फिर बता देता हूँ।

''वामपंथियों की सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि वह अपने ही देश में रहते है और क्रांति करते रहते है। दूसरे क्या सोचते हैं उनकी दृष्टि क्या हैं? इसके बारे में उन्हें खबर तक नही रहती और वह पूरा संसार बदल डालने की बात करते हैं''।

सत्य की बात आ रही थी। मित्रो, यह भी एक और अर्धसत्य है। ऐसा नही है कि वामपंथी आस-पड़ोस की और दूसरे संसार की खबर नहीं रखते हैं। कुछ लोग होंगे जो नही रखते होंगे, ये सही भी है कि कॉमरेड मोहन भी जब कविता लिखते थे तब दूसरे संसार की खबर रखते थे। कामरेड मोहन जब से सचिव बन गये, सेक्रेटरी बन गये, तब से उन्होंने कम बोलना शुरू किया लोगों से। उन्हें ऐसा लगा कि वह किसी मीनार के ऊपर बैठ गये हैं। लोगों से वो कट गये हैं। सारी चीजें तब शुरू हुईं जब वो जीवन से अलग हो गये। जब रचना होती है तो रचना जीवन को प्रतिबिंबित करती है और उपन्यास के अन्त में कार्तिक जब लौटता है तो मित्रो बहुत

सही कहा गया हैं कि विचार से नही भागता है।

विचार को तो, विचार धारा को तो, वह जीवन की टेबिल पर एक प्रकार से डिसेक्सन के लिये रखता है। आप देख लीजिये कि इसमें क्या क्या है? इसमें क्या-क्या किया जा सकता है? क्या कमियाँ हैं? उनको निकालिये नही निकालते वह आपकी गलतियाँ हैं। वो वहां से जब लौटता है तो जीवन की ओर लौटता है।

सबसे महत्वपूर्ण बात जो उपन्यास में मुझे लगी वो पुन: जीवन की ओर आता है। कई चीज़ें हैं जैसे फादर विलियम्स का जो प्रसंग है। रति का रति प्रसंग है। प्रेम प्रसंग का जिसको नाम दिया गया, वो कई चीजें हैं जो जीवन में लौटती हैं।

विचारधारा की जो बात की गई है, जिस तरह से विचार का एक प्रवाह चलता है, उसमें कई धाराएँ आकर के मिलती जाती है। तब वह प्रवाह आगे बढ़ता जाता है। अगर एक ही विचार दूर तक चलेगा तो कुछ दूर जाकर वह सुख जायेगा। स्थानीय विचार प्रवाह, विचारों के स्रोत वहां उससे मिलते जाने चाहिये। मित्रो! इसी के साथ मैं अपनी बात को समाप्त करता हूँ। मुझे लगता है कि इस उपन्यास को देखना चाहिये और फिर पढ़ा जाना चाहिए। धन्यवाद।।

मुकेश वर्मा

महेश भाई बहुत-बहुत धन्यवाद।

हम लोग चाहेंगे कि अब हम रोहिणी अग्रवाल जी को बुलायें और इन दोनो उपन्यासों की बेहतर और विस्तृत चर्चा उनसे करें। अब मै बहुत सम्मान के साथ सुश्री रोहिणी अग्रवाल जी को बुलाता हूँ। वो रोहतक से आई हैं वहाँ कालेज में प्रोफेसर हैं और यहां, जो पत्र-पत्रिकाएँ लगातार पढ़ता रहता है, वो जानता है कि उनका सतत् हस्तक्षेप चलता रहता है। बहुत ही प्रख्यात और महत्त्वपूर्ण आलोचक हैं। आदरणीया रोहिणी जी।

रोहिणी अग्रवाल

मंच और सभागार में उपस्थित सभी विद्वत् जन और साथियो! अंत तक आते-आते वक्ता के सामने बहुत सी वास्तविक परेशानियां आ जाती हैं। उसकी मंजुषा में जो कुछ होता है वह धीरे-धीरे रीतता चलता है क्योंकि विषय पर, रचना पर, रचनाकार पर, क्रमिक ढंग से सधे भाव से इतना कुछ धीरे-धीरे इतना कुछ उद्घाटित किया जाता है कि लगता है अरे! अब मै क्या बोलूँ?

ठीक उसी तरह से मै रिक्त हस्ता, बोलने के लिये खड़ी तो हुई हूँ। और द्रोपदी की तरह अपने पात्रों को पलटने लगी हूँ अन्न का एक दाना भी दिख जाये तो मै बच जाऊँ। बात शुरू करूँगी उसी स्वीकार के साथ कि मैने भी एक उपन्यास पढ़ा है 'क्या पता कॉमरेड मोहन'। इस उपन्यास को कला और विचारधारा के संदर्भ में गुनने, बुनने मूल्यांकित करने या अपना पुनर्पाठ करने से पहले मै बलपूर्वक इस तथ्य को रेखांकित कर देना चाहती हूँ कि कला और विचारधारा को मैं दो परस्पर बिन्दुओ

की अवधारणाओं के रूप में नही लेती हूँ।

बेशक दोनों की अपनी अलग अलग स्वायत्तता है, दोनों का अलग-अलग व्यक्तित्व है लेकिन एक दूसरे की सार्थक सहभागिता के बिना दोनों अपने अस्तित्व को बचा ही नहीं सकते। दूसरों के हृदय स्थल पर पैठने की तो बात ही बहुत दूर की बात है।

मैं एक शब्द में व्याख्यायित करूँ तो कला मेरे सामने एक उत्कट भावोच्छवास के रूप में आती है। विचारधारा एक बौद्धिक हुंकार के रूप में। कला में आप्लावनकारी आवेग है। हर तरह के बंधन का अतिक्रमण करके बहुत कुछ नया रच डालने की स्वप्नशीलता, सृजनशीलता, एक व्याकुलता, उद्विग्नता। यथार्थ के बंधनों को तोड़कर यथार्थ के गुरूत्वाकर्षण से मुक्त होकर जीवन को नये सिरे से रचने की एक स्वप्नशीलता, एक बेताबी। यह कलाकार की कला को एक वैयक्तिक्ता देती है।

कला में तरलता को भरती है। और जब मैं विचारधारा की तरफ जाती हूं तो मुझे लगता है कि जो नहीं कहा गया कला में वह विचारधारा है। विचारधारा जीवन के समानान्तर जीवन के यथार्थ को गढ़ने की कवायद है, उसमे बौद्धिकता है, उसमे अनुशासन है, नेतृत्व क्षमता है, उसमें सांगठनिकता है।

वह विश्लेषण को अपना एक महत्त्वपूर्ण टूल बनाती है। तो क्या यह कला विचारधारा के बिना रची जा सकती है? बहुत सी बात हुई ये हो ही नहीं सकता। मुझे क्या रचना है? जब तक मेरे सामने कोई रूप ही स्पष्ट नहीं होगा मैं कुछ भी नहीं कर सकती और विचारधारा को लोगों के हृदय तक पैठ फैलाने के लिए संवाद का, माध्यम का, आश्रय लेना ही होगा। चाहे वो नौटंकी हो, नुक्कड़ नाटक हो, गीत हो यानी कला के लिए कोई न कोई फार्म यानी उसमें वह आवेग वह मनुष्य लायेगा।

कला हमें बहुत ज्यादा मनुष्य बनाती है और विचारधारा हमारी दिशाओं को निर्देशित करती है। मैं इस उपन्यास को 'क्या पता कॉमरेड मोहन' को, इस संदर्भ में ही देखना चाहूंगी कि क्या यहाँ कला और विचारधारा दोनों आपस में घुलमिल गये हैं। ठीक वैसे ही, जैसे गोर्की के 'माँ' उपन्यास में, टैगोर के 'गोरा' में या जॉर्ज ओरवेल के 'एनिमल फार्म' में।

एनिमल फार्म तो हम जानते हैं जो विचारधारा लेकर ही लिखा गया था। उसके प्रति असंतोष को, विद्रोह को, व्यक्त करने वाला बहुत ही लीजेंड्री उपन्यास रहा या मैं इस पक्ष को दूसरी तरह से उठा कर देखूँ कि कहीं ये दोनों तत्व इतने अघुलनशील तो नही हो गये हैं जो हमे प्रेमचंद के 'गबन' उपन्यास जैसी रचना दे रहे हैं या महुआ माजी का 'मरंगगोड़ा जो नीलकंठ हुआ' या रणेंद्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता'।

मै चूँकि कृति आधारित बात करती हूँ, मैं कृति के भीतर से गुजरना चाह रही हूं और जब मै पाठ करती हूं तो मै देख रही हूं कार्तिक को। कार्तिक, जो एक कमेटी के सामने 'शो काज नोटिस' का जवाब देने के लिये उपस्थित हुआ है। बारह लोग उसको घेर कर बैठे हैं। एक अपराधी के तौर पर कार्तिक वहाँ है। फिर वो निकला

है पार्टी से यह सोचते हुए कि नताशा उससे प्यार करती है या नहीं करती, नताशा है भी या नहीं है, नताशा पर विश्वास किया जाये या नहीं। टू बी, आर नाट टू बी, मुझे कार्तिक बहुत पसंद आया है।

हेमलेट है वह, कितना संवेदनशील द्वंद्व। द्वंद्व ही तो मनुष्य को मनुष्य बनाता है अपने अंतर्विरोध को देखने की ताकत देता है। परिवेश के साथ अपने संबंध को निरंतर संतुलित करने की एक बहुत बड़ी रुहानी ताकत हमें यह द्वंद्व ग्रस्तता देती है। हमें यहाँ कार्तिक को पूरे नंबर देना पड़ता है। हमें कार्तिक इसीलिए पंसद आया है कि उसमें द्वंद्वग्रस्तता है।

मै देख रही हूं उपन्यास नाटकीय गति के साथ शुरू हुआ है। नाटक की तीसरी गति चरमोत्कर्ष पर। शो कॉज़ नोटिस का जवाब देना है कार्तिक को। संगठन ने जो उस पर आरोप लगाये हैं? क्या वो उन आरोपों को स्वीकारता हैं? वो उन्हें कैसे खारिज करेगा? क्या उसे क्लीनचिट मिलेगी?

मेरा कौतूहल सातवें आसमान पर पहुँच गया है, जिज्ञासा बढ़ी है। आशंका उद्विग्नता से मेरी मुठि्यां बंद हो गयी हैं। मै जल्दी-जल्दी पन्ने पलट लेना चाहती हूं क्या हुआ? इस मीटिंग का रिजल्ट क्या हुआ? मुझे कामरेड मोहन पसंद नही आये? क्यों नहीं आये मैं नहीं जानती? लेकिन मेरी गट् फिलिंग है कि शुरू में पात्रों के बारे मे घटनाओं के बारे में थोड़ा लेखक ने बताया है बहुत कुछ छुपाया है।

उस बताने और छुपाने के बीच में मेरा कौतूहल मेरी रुचि और मेरी आशंकाएँ और रचना के साथ मेरा रिश्ता, उत्तरोत्तर और गाढ़ा होता जा रहा है। लेकिन उत्कर्ष पर ले जाने का मतलब अंत पर ले जाना नही होता। उत्कर्ष पर ले जाने का मतलब है। आपको एक्जिट सीढ़ियाँ चढ़नी हैं लेकिन एक पड़ाव नीचे ठहरना है और मुझे लगता है यह कार्तिक के साथ एक पड़ाव नीचे रहूँ।

अपनी मंजिल से एक पड़ाव नीचे रहूँ। मुझे अभी ऊपर जाने की इजाज़त नहीं है और मैं नीचे देख रही हूँ तलहटी में। जहाँ से वो मैंने लम्बी यात्रा शुरू की है वो खड़ी ऊँचाईयाँ मुझे डरा रही हैं। बहुत ज्यादा डरा रही हैं। अरे कार्तिक के साथ मैं दम साधकर इतना ऊपर आ गयी हूँ मैं खुद सोच रही हूं। ऊपर बैठे कार्तिक को ऊपर चढ़ते देख रही हूं और मैं कार्तिक के साथ दम साधकर उन चढ़ाईयों को भी चढ़ रही हूँ क्योंकि मुझे लोभ कार्तिक के व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया को हर छोटे बड़े रूपों को अपनी आँख से और अपनी सांस से देखने का है और महसूस रही हूं। मैं देखती हूं कार्तिक के व्यक्तित्व निर्माण में दो शख्सियतें बहुत महत्त्वपूर्ण रोल अदा कर रही हैं। कार्तिक के पिता और केदार। कार्तिक के पिता का एक वाक्य है- 'कभी कभी खुद को देखने के लिए अपने से बहुत दूर जाना पड़ता है' और जब कार्तिक के पिता किशोर कार्तिक को बताते हैं कि अपने परिवेश को जानना, अपने को जानने के पहले ज्यादा जरूरी है परिवेश के साथ अपने संबंध को जानना, संबंध के भी संबंध को बनाने वाले उन बारीक तन्तुओं को जानना और अपने आप को

जानना मुकम्मल भी हो सकता है और इसलिए इतिहास और भूगोल की यात्रा के साथ वह इस सृष्टि के साथ अपने संबंध की पहली शुरुआत करता है।

भोपाल, यह भोपाल नहीं है। उसकी जगह भोपाल नामक जगह नहीं है। यह भोपाल कैसे बना दोस्त मोहम्मद के साथ यात्रा शुरू करके जगदीश नगर कैसे इस्लाम नगर बना किस तरह से धीरे धीरे एक गंगा जमुनी तहजीब इकठ्ठी होती गयी, आपसी वैमनस्य नही, सौमनस्य है हमारी भारतीय संस्कृति हमारी मिट्टी की पहचान वह द्वेष और असहिष्णुता की राजनीति के तंतुओ को उखाड़ फेंक कर मनुष्य को मनुष्यत्व को एक डोर में बाँधने की एक पहचान, कार्तिक के व्यक्तित्व का यह बुनियादी घटक है। और उसी के साथ कार्तिक, अपने पिता से ट्यूटर्ड कार्तिक, साँची के स्तूप में जब जाता है तो वह साँची के स्तूप- अभी विनोद जी ने भी कहा कि स्तूपों का यहां बहुत महत्त्व है- मुझे लगता है कि वाकई इस पूरे के पूरे उपन्यास के टोन को समझने के लिये हमें साँची के स्तूपों का इस्तेमाल समझना होगा। ये यहाँ के आर्किटेक्चर को बताने के लिए या कुछ एक पृष्ठों को घेरने के लिए नहीं है। ये कार्तिक के व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं।

ये स्तूप सौहार्द के प्रतीक हैं, कई कई धर्म एक साथ रह सकते हैं। ब्राह्मत्व पर विजय के बाद बौद्ध धर्म आया है लेकिन ब्राह्मणत्व के साथ सामंजस्य में ही बौद्ध धर्म है। वह हमारी थाती है, वह हमें समृद्ध करता है, वैचारिक तौर पर। वह शांति का अहिंसा का समन्वय का प्रतीक है लेकिन यह इस संसार की निस्सारता को भी स्थापित करने का प्रतीक है। स्तूपों के नीचे बौद्ध भिक्षुओ की अस्थियाँ और राख हैं।

ये जो वितण्डावाद विचारधारा के नाम पर अपनी महत्वाकांक्षाओं के नाम पर खड़ा किया जा रहा है उसका आत्यंतिक उद्देश्य लक्ष्य, अन्ततः है क्या? ये निस्सारता और अब मनुष्य उस मनुष्यता को पूर्ण करे, लगा रहे बहुत ही अकिंचन भाव से। तब वह इस सृष्टि को नई गढ़त दे सकता है। तो इस तरह तरह की एक ट्यूटरिंग के साथ और इस तरह की एक दीक्षा के साथ कार्तिक के व्यक्तित्व का विकास होता है और मेरी अपेक्षा इससे बहुत बढ़ जाती हैं।

उन अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए प्रक्रिया और अधिक बढ़ावा देती है। अब उसकी अंतःचेतना का प्रतीक उभर कर आता है उपन्यास में। केदार मृत है। उसकी मेमरीज हैं लेकिन वह एक मित्र के उपन्यास के रूप में। उसने मुझे कहा कभी नहीं लगा जबकि अंतः चेतना है जिससे वह रूबरू होता है एकान्त मे जाकर और वो कहता है कि अपने आप अपने अनुभवों के आधार पर तुम लिखो, लिखे हुये में खुद को तलाशो और तब अपने आपको पाओ।

यह अपने पूरे के पूरे जीवन के साथ इंट्रोस्पेक्शन करना आत्मसाक्षात्कार करना एक बहुत बड़ी गुणवत्ता है। जो आज के युग मे प्रायः लुप्त हो गयी है और यही ऐसी चीज़ है जो विचारधारा को आत्मसाक्षात्कार करने से बचाती है।

संतोष चौबे जी ने यहाँ व्यंग का सहारा नहीं लिया लेकिन वो सारा प्रकरण मेरे पास व्यंग की तरह आता है, जब रामनारायण कार्तिक से कहता है कि हमारे आत्मालोचन का मतलब दूसरे की आलोचना करना होता है। तो यहा अंतश्चेतना के प्रतीक के रूप मे केदार विचारधारा के उन नायकों के विरोध में अपना एक बहुत बड़ा चांस लेकर अपना पक्ष यहाँ प्रस्तुत कर रहा है और कार्तिक के व्यक्तित्व के बुनियाद मे कहीं बार-बार अपने आप को समय के साथ, समाज के साथ, संदर्भो के साथ, संबंधो के साथ, और हर गतिविधि के साथ, पहचानने, जानने और निखारने की एक वृत्ति है जो उसको गतिशील पात्र बनाती है।

परिचर्चा का संचालन करते हुए मुकेश वर्मा

लेखक की बहुत बड़ी खासियत ये है- चेप्टराईजेशन। मुझे लगता है इस उपन्यास में उन्होने कार्तिक को नहीं कार्तिक के अलावा और भी बहुत से पात्रों को जगह देने की कोशिश की है किसी भी उपन्यास का शीर्षक देखें। कार्तिक और उमा नताशा कार्तिक और उमा, नताशा, कार्तिक और रामनारायण, कार्तिक और लक्ष्मण यानी जितने भी उपन्यास के पात्र हैं उन सबको देखा गया है, उन सब पर अलग-अलग फोकस करने की कोशिश की है लेकिन यहाँ मेरे हाथ मायूसी लगती है।

मेरे पास पात्रों की लिस्ट है सरफराज, लक्ष्मण, नताशा, विजय सक्सेना, कामरेड मोहन, कामरेड श्याम। इनके चरित्र की कुछ रेखाएँ मेरे पास नहीं हैं क्यूँ नहीं हैं? क्यूँ लेखकीय फतवे इन पात्रों के बारे मे मुझे अपने राय बनाने के लिए विवश कर रहे हैं।

लक्ष्मण सिंह भ्रष्ट है, यह स्वीकार करना है। सरफराज एजेंट है सत्ता का है, वह कार्तिक को बैलेंस करने के लिए बनाया गया है और ऐसे ही एजेंट, ऐसे जासूसी करने वाले लोगो के सहारे ही संगठन चलता है। ये सूचना है, नताशा उमा के बारे मे सूचना है, कामरेड मोहन के बारे मे सूचना है। निर्णय नही लिये जाते कमेटी में। इन्क्वायरी के बाद निर्णय नहीं लिये जाते। निर्णय पहले से ही लिये जाते हैं। भाषण में उन्हें सुनाने की औरचारिकता की जाती है। ये पात्र इस रूप में क्यों आये हैं।

मैं स्पष्ट में सोचती हूँ और जब मै सोचती हूँ तो मुझे अपने उपन्यास पढ़ने का नज़रिया पूरे का पूरे बदल लेना पड़ता है। मुझे लगता है कि यह उपन्यास एक

परंपरागत उपन्यास की तरह नहीं रचा गया है, जहाँ लेखक और पात्रों के साथ टकराते हुये घटना को याद करते हुये मै अपनी अपेक्षाओं के अनुरूप कथा को आगे लेकर जाऊं।

लेखक बार-बार मुझे बरज रहा है कि नही यह मोहभंग का उपन्यास है। यह कार्तिक को आगे बढ़ने से रोकने के लिये सोची समझी साजिशों का उपन्यास है। इस आग्रह के साथ रचा गया उपन्यास इसलिए किसी भी पात्र चरित्र का चित्रण, सही सही चरित्र का विकास नही कर पा रहा है।

मैं यहां से आगे चलती हूँ। देखती हूँ उपन्यास में ये दो विषय, मुद्दे महत्त्वपूर्ण हैं, भोपाल गैस ट्रेजडी और दूसरा वर्तमान शिक्षा पद्धति की समीक्षा और तीसरा इसी के साथ जोड़ने की बजाय अलग कर सकते हैं, साक्षरता अभियान।

भोपाल गैस ट्रेजडी की जब बात करती हूँ। मेरे सामने तीन साढ़े तीन पृष्ठ की छोटी सी कहानी 'विनाशदूत' आ जाती है। मृदुला गर्ग की ये कहानी है उस कहानी को पढ़ने के बाद मुझे लगता है कि वह कलाकार जो गैस ट्रेजडी का शिकार हुआ उसे पता ही नही आ रहे है मेघ आ रहे हैं, मेघदूत की परंपरा में लिखी गयी मेघदूत परंपरा के विरोध में जाकर एक बहुत बड़े सांस्कृतिक सामाजिक हस्तक्षेप की कथा कहते हुई वह एक छोटी कहानी गैस ट्रेजडी की विभीषिका को जिस रूप में विन्यस्त करती है इस उपन्यास में मुझे वह डाटा के रूप में मिलता है।

बहुत सारी रिपोर्टें, त्रासदी, पीयूष, कार्तिक की बहन उसका परिवार और बहुत से लोगों के परिवार किस तरह से जैसे कार्तिक, रामनारायण, सरफराज कई डाक्टर्स मिलकर पीड़ितों की मदद कर रहे हैं। किस तरह से फण्ड रेज़ किया जा रहा है? किस तरह से क्लिनिक्स चलाये जा रहे हैं? किस तरह से किस तरह से रिर्पोटर्स आ रहे हैं? लोगों की मदद हो रही है? किस किस तरह के कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं? यह बहुत ही ज्यादा प्रमाणिक जानकारियां मै इस उपन्यास में बटोर लेती हूँ।

लेकिन क्या तथ्यों को पात्रों के साथ जोड़े बिना उन्हे असंबद्ध तैरा देना, क्या ये कला है? यह प्रश्न मेरे सामने खड़ा है? कला ऐसीमिलेशन है, कला में समन्वयात्मकता है, कला विचार को जिन्दगी मे ढालने का एक गुण है और ज़िन्दगी मे ढालने के लिए हमे मनुष्य दिखना चाहिए, मनुष्य अपनी पूर्णता में। वह मनुष्य अपने नाम के, अपने लिंग के अपने प्रवृत्तिगत वैशिष्टय को सब भुलाकर वह बढ़ते हुए मैं बन जाऊँ।

गैस ट्रेजडी के दौरान कार्तिक की दौड़ धूप के साथ, मै दौड़-धूप करती हूं लेकिन मै गैस ट्रेजेडी को मन के तौर पर, दिमाग के तौर पर, एक भावनात्मक अघात के तौर और सत्ता के एक बहुत बड़े फेल्योर और षड़यंत्र के तौर पर नही ले पाती हूं।

मै साक्षरता अभियान की बात करती हूँ और मुझे फिर उसी तरह के तथ्य मिलते है हालाँकि यहाँ मुझे लगता है कि जब मै अपना स्टाईल बदलती हूं उपन्यास

पढ़ने का, तो मुझे लगता है कि यहां लेखक जानबूझकर पाठक के मन मे विक्षोभ पैदा कर रहा है, प्रश्न पैदा कर रहा है? क्योंकि वह चाहता है कि ये सब चीजें.ना हों और शायद यह कार्तिक की शिनाख्त की कहानी है।

कार्तिक की अपनी क्षमताओं के शिनाख्त की ये कहानी है यह संगठन के यांत्रिक स्वरूप की पहचान तो है ही लेकिन उसके साथ साथ कार्तिक जुड़ा हुआ क्यों है? क्या मजबूरियाँ हैं। कार्तिक की? क्या कार्तिक एक बड़ी उछाल लेगा? एक बड़ी फ्लाईट लेगा और यहां से निकलेगा? यह प्रश्न बना रहता है?

और मुझे लगता है कि हाँ कार्तिक में वह उद्विग्नता है जब वो आई. ए. एस. छोड़कर आया है। हालांकि प्रश्न यहाँ पर भी एक मौजूद है कि आई ए एस. इसीलिए छोड़कर आया है कि वह कहता है कि ज़मीनी तथ्यों को जानने के लिए मुझे ज़मीन पर उतरना होगा। मेरा भी एक पक्ष होगा लेकिन क्या आई ए. एस. की परिवेश के बीच मे वह यथार्थ के साथ मुठभेड़ करते हुए ब्यूरोक्रेसी को एक नया रूप नहीं दे सकता था? जैसे अशोक खेमका या संजीव चतुर्वेदी दे रहे हैं।

तो यह कार्तिक का आदर्शवाद है उसके व्यक्तित्व में औदात्त भरने की चेष्टा है या ये उसका पलायन है। मुझे इन सब पर विचार करना है। साक्षरता अभियान के लिए बहुत ही रिर्पोटें बहुत से कांर्फेसेस, बहुत ही नुक्कड़ नाटक, जुलूस धरने, बहुत से अभियान चलाये जा रहे हैं लेकिन मै एक पाठक के तौर पर उपन्यास में अपने आपसे पूछती रही? वह साक्षरता अभियान जो अस्सी के दशक में चला अब हमारे सामने पढ़े लिखे अनपढ़ों की एक बड़ी जमात क्यों पैदा कर रहा है?

क्यों ये साक्षरता अभियान आज आँकड़ों मे सफल हो गया है? लेकिन वैचारिक तौर पर यह हमारी आने वाली पीढी को हमारी पीढी को हमें हमारी छोटी पीढ़ी के बीच में उनकी इतनी मेंटल फेकल्टीज को तीव्र नहीं कर पाया है। कि वह अपने कट्टरता पर, कठमुल्लेपन पर, साम्प्रदायिकता पर, द्वेष और नफरत की राजनीति पर अपने विचार रख सकें। क्यों वह बेजान चीजों की तरह उस लहर में बह जाता है?

अभी राहुल ने कहा कि- मेरी नहीं, राहुल की मान्यता है- कि आलोचक और कुछ नहीं है रचना का पाठक है कि उसे अपने लेखक से अपनी अपेक्षाओं को कहने का अधिकार नहीं है। उसे नहीं कहना चाहिए।

मैं ये मानती हूँ कि जब पाठक रचना को पढ़ता है तो वह रचना की पुनर्सृजन करने की प्रक्रिया में कदम बढ़ा चुका है। वह उसका पाठ करता है और उसके भीतर जो प्रश्न उठ रहे हैं उन तथ्यों का जवाब वह तलाश रहा है क्योंकि उसका एक अपना आदर्शवाद या उसकी अपनी विचारधारा उसे प्रेरित कर रही है और मुझे ये लगता है कि क्योंकि मेरी अपेक्षा कार्तिक से बहुत ज्यादा हो गयी है तो मुझे यह लग रहा था कि कार्तिक कामरेड मोहन की यान्त्रिक और बंद शैली को यानी संगठन की उस बंद शैली को ध्वस्त करके, कहीं न कहीं एक खिड़की खोलने का काम करे।

पूरा उपन्यास पढ़ने के बाद मुझे ये लगा कि हाँ ये अपेक्षायें मेरी पूरी हो सकती हैं, होंगी। अभी तो कार्तिक अपनी अंतश्चेतना यानी केदार की बात मानकर अपने आप को तौल रहा है अपने को, अपने जीवनानुभव को, वह आधे से ज्यादा तो गुज़ार रहा है कि क्या क्या हुआ लिखने के क्रम मे वह विश्लेषण करेगा और विश्लेषण करने के क्रम में उसे अपनी उत्तरदायित्व को अपने एकाउन्टबिल्टी को भी समझेगा। क्या वो पलायन कर गया? क्या वह कमजोर पड़ गया? उसने समझौता किया क्या? उसने भी संवादहीनता की। सरफराज को बहुत बड़ी चिट्ठी लिखता है पाँच पेज की कि तुम क्यों पार्टी को सेबोटाज कर रहे हो? क्यों पार्टी कार्यक्रम को नष्ट और ध्वस्त कर रहे हो।

उस पर यह आरोप लगाता है कि संवादहीनता क्यों है? लेकिन यही प्रश्न कार्तिक को पलटकर अपने आप से पूछना होगा कि वह भी तो सरफराज से संवादहीनता ही कर रहा है। वह पत्र के तौर पर औपचारिक ढंग से कही गयी बात अपना प्रभाव नही डालती जो इस आमने सामने के संवाद के साथ संबंध स्थापित करने की सफल या असफल कोशिश में की जाती है।

शिक्षा पर, यानी बहुत से मुद्दे हैं, यानी बहुत से मुद्दे उठाये गये हैं, इस उपन्यास में, मुझे हर बार यह लगता है कि इतनी ज्यादा छटपटाहट पाठक के भीतर इसीलिए भरी गयी है ताकि हम कार्तिक की छटपटाहट को कार्तिक की दिशाओं को अवरूद्ध कर देने वाले मेकेनिज्म को पकड़ सकें और विचारधारा को एक व्हिप के तौर पर ना समझें।

विचारधारा जब फतवा बन जाये जब चाबुक बन जाये, तब हमारे लिये दिशाएँ नहीं रहतीं। मनुष्य भेड़ या जानवर बन जाया करता है, जिसे हांककर ले जाया जाता है। इसके लिये एक संवाद की आवश्यकता है, इन्ट्रोस्पेक्शन की आवश्यकता है, आलोचना की नही, आत्मलोचन की।

मुझे लगता है कि अभी उपन्यास को वास्तव मे लिखा जाना शेष है दो उपन्यास लिखे गये हैं- ट्रायोलॉजी। यह तो उपन्यास की वृहतत्रयी, कई मान्यताएँ हैं। एक तीसरा उपन्यास कि कामरेड मोहन के एक्सप्लेनेशन के बाद, पार्टी संगठन से निकाले जाने के बाद, कार्तिक ने अपनी किन दिशाओं को खोजा? कहाँ से अपनी यात्रा शुरू की? कि उसे अपनी इन यात्राओं को अपनी पत्नी के बिना शुरू नहीं करना है? आखिर में लेखक हिंट्स ही शायद इसीलिए दे रहा है। आखिर में माँ और नीति का आगमन अनायास नहीं हुआ है। पूरे उपन्यास मे माँ कहीं नहीं है।

माँ के माध्यम से हमारे परिवारों की सांस्कृतिक संरचना को, एक भावनात्मक संबंधों को दर्शाया गया है। और नीति इस उपन्यास में ये कहती है, हयवदन के नाटक को देखते हुए कि मैं अपने पुरूष को उसकी तमाम दुर्बलताओं के साथ स्वीकार करना चाहती हूँ। और अंत में वह कार्तिक से कहती है कि तुमने कभी मुझे समझा नहीं, मैं तुमसे तुम्हारे इस काम में तुम्हारी संगी होकर चलना चाहती थी। तुमने मुझे मौका

नहीं दिया।

मुझे लगता है कि बहुत सी दिशाएँ खुली हैं और इन पर आने वाला तीसरा उपन्यास एक बहुत बेहतर उपन्यास होगा। कला और विचारधारा दो अलग-अलग चीजें.नहीं हैं जो शुरू में मैंने कहा था। लेकिन मुझे एक लोभ हो रहा है एक ही मिनट के लिये एक कलावादी कवि की कविता मैं पढ़ना चाहती हूँ, हम अपने अपने ढ़ंग से उसकी व्याख्या कर सकते हैं। विचारधारा वाले लोगों को किस तरह से कला को साथ लेकर चलना जरूरी है और कलावादी लोग विचारधारा से परहेज न करके उस कला विचारधारा को साथ में ले।

विनोद कुमार शुक्ल की कविता- ''जो मेरे घर कभी नही आएँगे/मैं उनसे मिलने उनके पास चला जाऊंगा/ एक उफनती नदी कभी नही आयेगी मेरे घर/ नदी जैसे लोगों से मिलने नदी किनारे जाऊँगा/ कुछ तैरूँगा और डूब जाऊँगा/ पहाड़, टीले, चट्टानें, तालाब, असंख्य पेड़, खेत, कभी नही आएँगे मेरे घर/ खेत खलिहानो वाले लोगों से मिलने गाँव-गाँव, जंगल-जंगल जाऊँगा / जो लगातार काम में लगी हैं, मै फुरसत से नहीं/ उनसे जरूरी काम की तरह मिलता रहूंगा / इसे मैं अकेली आखिरी इच्छा की तरह, सबसे पहली इच्छा रखना चाहूंगा।।''

तो मेरा यही निवेदन है कि साहित्य समन्वय स्थल है, कला और विचारधारा का इनके बीच की बहसें इनकी आपसी प्रतिद्वन्दिता को बढ़ाकर कहीं न कहीं गुमराह करती हैं। धन्यवाद।।

मुकेश वर्मा

रोहिणी जी बहुत बहुत धन्यवाद!

पूरा हाल आपको मंत्रमुग्ध होकर सुन रहा था लेकिन मुझे क्षमा करें थोड़ा समय की बाधा रही। बहरहाल, बहुत ही आदर से इस सत्र की अध्यक्ष सुश्री चित्रा मुदगल जी को आमंत्रित कर रहा हूँ। उनका परिचय देने की ज़रूरत नही है। वो श्रेष्ठ उपन्यासकार और महत्त्वपूर्ण कहानीकार रही हैं। वे संस्कृतिकर्मी और समाजकर्मी हैं और कथालेखन में और उपन्यास लेखन में कई वर्षो से सतत सक्रिय रही हैं बहुत से सम्मान पाये हैं। मैं बहुत आदर से सुश्री चित्रा जी को आमंत्रित करता हूँ।

चित्रा मुदगल

सम्मानीय मंच और मित्रो,

इस विषय के बहाने मुझे लगता है जहाँ इस विषय से लेकर के कभी-कभी लोग हिम्मत जुटाते रहे हैं कि वो अपनी असहमतियों को सांगठनिक शक्तियों के सामने दर्ज करें और कहीं उसे आत्मविश्लेषण के लिये प्रेरित करें और स्वयं अपने आत्म विश्लेषण को भी देखें और अलग-अलग संदर्भ में देखें। जो चौखटें हैं, उससे खुलें। निश्चय ही विचारधारा और कला, विचारधारा कला और जीवन, मनुष्य का जीवन। कभी शायद मार्क्स ने नहीं सोचा होगा कि वो जिन बातों को विश्व समाज

अध्यक्षीय वक्तव्य देते हुए चित्रा मुद्‌गल

के व्यापक हक में उठा रहे हैं उसके ठेकेदार पैदा हो जाएँगे और जब जब चाहे धर्म के, बुद्ध के, अहिंसा के ठेकेदार पैदा हुए, उन्होंने उसका नुकसान ही किया। और विचारधारा के ठेकेदारों ने भी उसके लिये जिस तरह से बंदिशे कायम का। उसके साथ वो भूल गये कि गंगा का स्रोत क्या था। और जब गंगा आगे बढ़ी तो गंगा वही नहीं थी जो अपने स्रोत से निकली थी। अपने समयकाल के तमाम नदियों का पानी कहीं-कहीं गंगा को परिष्कृत करता और विस्तार देता रहा। और एक खुलेपन के साथ उसे गंगा का जल ही बनाता रहा।

मुझे लगता है कि आज जिस तरह से खुलकर बातचीत हुई है, हालाँकि कहीं मुझे लगता है, कुछ लोगों ने बड़ी सतर्कता से मन की बात कही और शपथ लेने के साथ बड़ी सतर्कता से अपनी सीमाओं में ही बंधे रहकर उस चौखट से ही इंकार किया जिस चौखट से निकलने का वायदा किया गया था।

ये सतर्कता क्यूँ किसके लिये? कार्तिक के जो संकोच हैं। वो अपने संकोचों को तोड़कर जहाँ अपने मत को रखना चाहता है वहीं मुझे लगता है पार्टी सुप्रीमो या कामरेड मोहन इस तरह की किसी चीज को सुनना ही नहीं चाहते। ये जब भी जहाँ भी अपने छोटे बड़े स्वरूप मे पैदा होता है, हम ये मान लें कि ये सांगठनिक शक्तियों का कहीं अपहरण करता है उसे तोड़ता है।

उपन्यास के संदर्भ में, उपन्यास एक ऐसी गुफा में हमें प्रवेश कराता है कि जहां हलचल हैं, जहाँ विनाश है, जहाँ जीवन है, जहाँ प्रेम है, जहाँ ऐतिहासिकता है, शहरों के बनने बिगड़ने की जन्म पत्रियाँ हैं, और उसके साथ-साथ, एक साझी संस्कृति का उद्‌भव है और वो सांझापन कहाँ तक चल पाता है? किस तरह चल

पाता है? उन सब की अपनी तरह से व्याख्या और द्वंद्व है? क्या चाहता है कार्तिक?

कार्तिक कोई बडा विचारक बन के पैदा नहीं हुआ है। अपने समय की गढ़न में गढ़ता हुआ अपने उस चयन को। तो इस गढ़ने को, अपने को गढ़ते हुये, युवक के सामने जो इस तरह कि बातें हैं आती हैं वो 'क्या पता कॉमरेड मोहन' के बहाने एक बहुत बड़े स्तर पर कहीं न कहीं हमें बाध्य करती हैं कि हम सोचें।

हम सुरंग में दाखिल होते ही और सुरंगें बनाते चले जाते हैं। उन सुरंगों को ऐसी ऐसी चौखटें देनी हैं जहाँ हमें भरपूर प्रकाश मिलें और हम सच देख सकें और सच के निदानों को भी अन्वेशित कर सकें और उसके साथ जीवन को क्या चाहिए, क्या नहीं चाहिए?

भूमंडलीकरण का दौर तो पहले नहीं आया था लेकिन जिस तरह से हमारी राजनीति में, आर्थिकता को एक व्यापकता देने के लिये विश्व से जोड़ने के लिए, जिस तरह की चीजों को भरी बस्ती में स्थापित करने के लिए, जिस तरह गैस त्रासदी के अपराधी को सुविधा दी और फिर अपनी ही आत्मकथा में उसे उद्घाटित भी किया यहाँ की राजनीति के शीर्ष पर बैठे हुए एक मुख्यमंत्री ने उसे हम सब जानते हैं।

आप देखिये क्या कहता है? वो कहीं कार्तिक से नहीं जुड़ता है जाकर के? वो क्या कहता है? किस तरह से वो रातों-रात इन चीज़ों को ढ़कने की कोशिश करता है? अगर वो प्रश्न भी एक सामान्य जन के लिये न सही एक प्रतिबद्ध युवा के लिये विषय बनता है तो मुझे लगता है कि वह विषय कहीं आम व्यक्ति की जिज्ञासा के साथ भी जुड़ता है।

जो मर गये वो कौन थे? किस की थी वह जिंदगी? फिर भी जीवन साँसें ले रहा है, जीवन इस शहर में जिन्दा है, वे लोग कौन हैं? केवल एक दृष्टि से ही उनके समाधान को आप सोचेंगे और वो है राजनीतिक चश्मे से। तो उनके चश्मों के तो रंग बदलते रहते हैं।

एक ऐसी सार्थक बहस यह उपन्यास करता है, 'क्या पता कॉमरेड मोहन' करता है। मुझे लगता है कि उपन्यास के अन्दर से ये बहस उभरती है। मुझे एक बात की पीड़ा भी है कि किसी ने इसे पहले क्यों नहीं पढ़ा? जो बात अभी यहाँ आयी कि मैला आंचल में रेणु ने भी, कहीं न कहीं इस बात को उठाया है और उसी जन सामान्य के बीच से उठाया है। उसी संघर्ष और पीड़ा के बीच उठाया है। 'रागदरबारी' में भी जिस तंज के साथ इसको उठाया है। लेकिन क्या ऐसा हुआ कि इस उपन्यास को हाशिये पर जाने के लिये मजबूर किया गया? मैं बहुत पढ़ती हूँ, और ये प्रश्न जो कहीं कार्तिक के द्वंद्व हैं?

ये बहुत बहुत पहले कही मेरे भीतर भी द्वंद्व थे। उन द्वंद्वों को न देखकर उसकी अवहेलना करना एक अपराध जैसा लगता है। मेरे जैसे बहुत से लोग थे, बहुत से लोगों के मन में वो प्रश्न होता है। लेकिन कहता कौन है? कहने की हिम्मत करता कौन है? जवाब देने की बात तो छोड़ ही दीजिये।

तो आज मुझे लगता है कि इस उपन्यास को इसीलिए सबको पढ़ने की जरूरत है कि जो कार्तिक के भीतर के अपने द्वंद्व हैं और जो उसे उत्तर पाने के लिये कहीं बाध्य करते हैं वह उन्हें पूछने की हिम्मत करता है। पलायन वो करता है, मैं नहीं मानती हूँ। पलायन का संजाल रचना या उसका हिस्सा बनना भी वो नहीं चाहता।

ये इतना जरूरी प्रश्न है। ये जरूरी प्रश्न जब तक नही उठता है, नहीं उठाया जाता है, एक अनुसरण की कामना, अनुयायी बने और बनाये रखने की कामना बनी रहती है। हम एक ऐसे मोहभंग से गुज़र चुके हैं या गुज़र रहे हैं जो हमे नहीं होना चाहिये। ऐसा करना हमें एक बहुत बड़े सामाजिक प्रश्न से अलग कर देता है।

द्वंद्व ये है कि किस तरह हम उन्हीं आंदोलनो को व्यापक रूप से जनान्दोलन बना सकते हैं लोगों को समर्थ बनाते हुये जिनकी बात कार्तिक कर रहा है।

वो कैसे हो सकता है इस तरह से हो सकता है या उस तरह से हो सकता है या उसका और भी कोई रास्ता है, या कुछ और दरवाजे हैं जिन्हे खोलना है या विकल्प समाप्त होने के बाद भी हम उसका रोना रोकर बैठे हैं। हम बाते करेंगे रूस की। रूस में जो कछ हुआ उस टूटते रूस की कभी हमने कल्पना नहीं की थी। हम जानते हैं कि हम दूसरे रास्ते से कुछ नहीं कर सकते।

हम जानते हैं कि वहाँ पे ठेकेदार, कितने भयानक ठेकेदार हैं। वो तो समस्या का समाधान नहीं, समस्या को ही खत्म कर देने में विश्वास करते हैं। तब हम लेखक वर्ग में उसको देखें। जिस विचार ने या विचारधारा ने आपको छुआ-छूत और अस्पृश्यता की सौगात सौंपी है, हम उससे कहाँ अलग हैं भाई? किसी के मन मे कोई द्वंद्व या कोई सोच आई कि गुरिल्ला वार की तरह सही चीजों के लिए लड़ा जाना चाहिये और उसके लिए खुद को तैयार हमको करना चाहिये ताकि हम अपने आपको ही जी सकें? अपने आप को ही जीने का अर्थ है कि ये ना कहें कि विचारधारा और कला और जीवन इन तीनों के एक साथ में समाहित साझा मंच हम अपने भीतर में पैदा नहीं कर सकते हैं। मेरे अनुभव में ऐसा गुजरता रहा है।

तो भाई मुझे ये कहना है कि ये वक्त काम करने का है। अब वो समय गया जब हम सब बातें करने के लिए थे। आप बातें ही करते रहे, बातें ही करते रहे हैं, और बाते ही करते रहेंगे। वहाँ भी जहाँ काम की ज़रूरत थी वहां पर भी सिर्फ बातें ही जाकर की हैं।

उन बातों को उठाना भी बहुत ज़रूरी था आवाज़ उठाना भी बहुत ज़रूरी था लेकिन केवल आवाज से ही काम नही चलता है। लेकिन ये जो कुछ प्रश्न उठे हैं उन पर गंभीरता से विचार करना चाहिये। मुझे लगता है कि अब किसी भी कृति को हाशिये पर, तमाम उपन्यासिक कलाओं के विरोध में खड़ा कर उसको किनारे फेंककर अपनी मंशा तो पूर्ण कर सकते हैं लेकिन आप बहुतों के इस द्वंद्व को कोने में फेंककर नहीं जिंदा रह सकते हैं। इसलिये हमको इन आत्मघाती स्थितियों से बचने की जरूरत है। अगर हम कहते हैं कि हम काम करना चाहते थे तो सचमुच हम कर सकते थे,

क्योंकि जब काम करना होता है तो किसी भी गैस त्रासदी से मर रहे लोगों से कभी मोहन भी नही पूछ सकते थे और कार्तिक भी नहीं पूछ सकता था कि भाई मैं तुम्हारी मरणासन्न हालत को लेकर अस्पताल दौड़ सकता हूं या नहीं? तुम पिछली बार किसको वोट देने गये थे? किस विचारधारा से? जब आप लोगों के लिए दौड़ते हैं तो यह नहीं सोचते कि भइया उन लोगों को छोड़ो और इन बस्तियों, दस घर के इन लोगों को तो, उनके साथ जुड़िये क्योंकि यह हमारे लिये खड़े होने वालो में से हैं। हमाारे लिये वोट करने वालो में से हैं। वोट की राजनीति जिस तरह से यहाँ पर भी समा गयी है उसे तोड़ना होगा।

और अब जितनी जनता जनार्दन है अब उस वोट के लिये सूप की राई की तरह ढरकते और ढरगाते हुये नज़र आते हैं और ढरगते हैं। सत्य, अर्धसत्य और मन की बात और सतर्कता से चीजों के कपाट खोलने के बाद और उद्धरणों से चीजों को बार-बार स्पष्ट करने की बात, मन की बात नहीं होती है।

मित्रो इसे जरा सा सोचने की जरूरत है। क्योंकि जो कहा गया वो आज और इतना कहने वालों का सत्य है। सत्य से सत्य जुड़ता है लेकिन सत्य, अपने समय में चाहे वो विचार का हो, चाहे वो काम का हो, कहने से अन्य समस्यायें उपजती हैं। अन्य-अन्य संक्रमण उपजते हैं और उन अन्य में हम पिछले संक्रमणों से तो ठीक से लड़.नहीं पाते हैं, और नये संक्रमणो की चुनौती हमारे सामने होती है। और हमें लड़ना होता है जो आज का सबक है। तो ये जो ये विचार उत्तेजकता आज इस सत्र मे पैदा हुई है मुझे लगता है दूर तलक उसकी ध्वनि जायेगी।

कार्तिक अपने तरह से चीजों की जो पड़ताल कर रहे हैं उसमें उनकी अपनी कमजोरियाँ भी नजर आती हैं लेकिन एक जो ऐसी ख्वाहिश है उसकी लड़ने की वो किसी भी युवा के मन मे होती है। हम वह ख्वाहिश समझ सकते हैं, सपना समझ सकते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि की बात करते है उसको अपने उपन्यास में व्यक्त करते हैं। उसको देखने की कोशिश भी है। पर आज अगर इस संदर्भ मे इस तरह से कहने पर एक चर्चा उठी है तो कहीं से सब तरह की अस्पर्शता को तो दूर करिये। फिर एक साझा मंच बना कर संवाद कायम कीजिये। धन्यवाद।!

मुकेश वर्मा

चित्रा जी, बहुत बहुत धन्यवाद।!

ये सत्र अपनी समाप्ति पर है। मैं हमारे इस सत्र मे जितने भी आमंत्रित वक्तागण हैं उनसे अनुरोध करूँगा कि एक ग्रुप फोटो के लिए कृपया मंच पर पधारें हमारे लिए ये स्मृति रहेगी और आप के लिये भी। महेश जी, विनोद जी और ‘पहले पहल’ के प्रबंध संचालक महेन्द्र गगन जी से निवेदन करूँगा वो भी आयें।

संतोष चौबे

मित्रो, कृपया अपना स्थान ग्रहण करें। एक मिनट में एक बात कहना चाह रहा

था। महेशजी भी आ जायें। जितने भी वक्ता हैं, सभी आ जायें। ये जितनी चर्चा हुई है ये मेरे लिए भी उतनी ही उत्तेजक थी जैसे कि आप के लिए रही होगी।

और मैं ये बताऊँ कि पहले साल में इस उपन्यास का दूसरा संस्करण आया था उस पर भी बड़ी चर्चा हुई थी। उसमें उस समय के कई प्रख्यात लेखक और आलोचक और संपादक थे। राजेन्द्र यादव खुद उसमें आये थे। कुँवरपाल सिंह उसमे आये थे। शायद नमिता जी भी थीं, रमेश दवे जी थे और बहुत सारे लोगो की मुझे याद आती है जो उसमे आये थे। और रोहिणी जी ने जो कहा वो राजेन्द्र यादव ने भी कहा था कि ये उपन्यास तीसरे उपन्यास की मांग करता है।

और हालाँकि मैं सहमत हूँ इस बात से, पर बात ये है, कि आप सब लोग रचनाकार हैं और समझ सकते हैं कि कोई तीसरा उपन्यास तभी बनेगा जब रास्ता थोड़ा साफ होगा। मेरी दिक्कत ये है कि, मैंने जैसे कल कहा, कि मैं साईंटिस्ट को भी सोशल एक्टिविस्ट मानता हूँ और राईटर को भी सोशल एक्टिविस्ट मानता हूँ।

रास्ता लगातार खोजने की प्रयास में भी रहता हूं। कुछ जगहों पर मै पहुँचा हूं। सामाजिक उद्यमिता एक स्थान है। समावेशी संस्कृति एक स्थान है। इसमें बहुत सारी और भी चीजें.हो सकती हैं। और वो तलाश जारी है। इस बीच में मैंने दो उपन्यास किये हैं जो उस ट्रायोलॉजी में नहीं है।

उनमें से एक उपन्यास संगीत के ऊपर है और एक उपन्यास शिक्षा के ऊपर है। इन दो थीम्स पर है। इनके भीतर वो सारी चीजें हैं जिन पर मैं बात कर रहा हूँ। तीसरे उपन्यास का जिसको कि ट्रायोलाजी का उपन्यास कहा जा रहा है मैं बहुत शिद्दत से महसूस करता हूँ कि मुझे लिखना है और वो एक वृहद उपन्यास होगा। पर उसके बीच में जो चीज़ें हो रही हैं, वो हो रही हैं और मै आपके इस निष्कर्ष से सहमत हूँ। बाकी जो बहुत सारी बातें आपने कहीं उनके लिये मै बहुत आभारी हूँ। मेरे लिए बहुत सी अंर्दृष्टि उससे निकलती है। बस इतना ही। मैं काम कर रहा हूं उसे जरूर आपके सामने लाऊँगा। बहुत अच्छी जो एक बात महेश जी ने कही, कि संगीत मेरा आधार है। संगीत पर जो उपन्यास मेरा है जो गद्य के भीतर ताल, गद्य के भीतर ख्याल, गद्य के भीतर ध्रुपद और गद्य के भीतर बहुत सारे संगीत के प्रयोगों पर काम करता है। तो आपको ज़रूर मज़ा आयेगा। उसके बाद आगे भी देखेंगे। बहुत बढ़िया, बहुत अच्छा लगा। मैं बहुत आभारी हूँ। धन्यवाद।

अब अपने सभी आमंत्रित वक्ताओं को स्मृति चिन्ह महेन्द्र जी दे रहे हैं।

(समूह चित्र के साथ सत्र समाप्त)

'क्या पता कॉमरेड मोहन' वर्ष 2006 में प्रकाशित हुआ था और उसने देश-भर में वामपन्थ की राजनीति पर एक नयी बहस को जन्म दिया। एक साल के भीतर ही उसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। इस दूसरे संस्करण के प्रकाशन के अवसर पर एक वृहद् विचार-गोष्ठी का आयोजन किया गया। इसमें भाग ले रहे थे सर्वश्री राजेन्द्र यादव, कुँवरपाल सिंह, नमिता सिंह, सुरेश पंडित, मनोहर वर्मा, कमला प्रसाद, राजेन्द्र शर्मा, सन्तोष चौबे, प्रह्लाद अग्रवाल, साधना अग्रवाल, संजय मेहता एवं अरुणेश शुक्ल। गोष्ठी का संचालन बलराम गुमास्ता, रेखा कस्तवार एवं मुकेश वर्मा ने किया।

कला और वैचारिकी के सहमेल का उपन्यास

बलराम गुमास्ता

मैं 'सरोकार' और 'पहले पहल' की तरफ से, करीब बीस-पच्चीस साल से चलने वाले इस आयोजन में, जो कि मित्रों के घर से शुरू हुआ और चलते-चलते आज यहाँ तक आया है, आप सबका स्वागत करता हूँ। बहुत प्रतिष्ठापूर्ण आयोजन 'सरोकार' और 'पहले पहल' ने मिलकर किये हैं इस शहर में, उसी श्रृंखला को आगे बढ़ाते हुए ये आयोजन किया जा रहा है। आज यहाँ देश के महत्वपूर्ण रचनाकार उपस्थित हैं। सबसे पहले मैं 'हंस' के संपादक श्री राजेंद्र यादव से अनुरोध करता हूँ कि वे मंच पर पधारें। महत्त्वपूर्ण रचनाकार, महत्त्वपूर्ण कहानीकार, महत्त्वपूर्ण सम्पादक- एक पत्रिका, जो कि जनवादी और प्रगतिशील विचारों को लेकर आगे चली। समाज में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन की दिशा निर्धारित करने में उनका बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान है, मैं बहुत आदर के साथ उनका स्वागत करता हूँ।

इसी श्रृंखला को आगे बढ़ाते हुए नमिता सिंह, कमला प्रसाद जी, हमारे अपने बीच के प्रोफेसर, सम्पादक, विचारक, समीक्षक, उनका उपस्थित होना हमेशा हमारे कार्यक्रमों को गरिमा प्रदान करता रहा है। एक लम्बे समय से उन्होंने, जो साहित्यिक पर्यावरण मध्यप्रदेश में बना, उसकी अगुवाई की है अपने विचारों से। संतोष चौबे आज के अपने रचनाकार हैं, उनका भी स्वागत करें। एक ऐसा व्यक्तित्व, जिससे आप सभी परिचित हैं, हमारे बीच हैं अपना दोस्त, एक रचनाकार, एक शिक्षाविद्। कई बार तो ईर्ष्या होती है देखकर कि एक आदमी का जीवन! इतने क्षेत्रों में उनका योगदान! बहुत सम्मान और आदर के साथ उनका यहाँ स्वागत है। प्रह्लाद अग्रवाल जी भी यहाँ उपस्थित हैं। मैं उन्हें आमंत्रित करता हूँ, वे मंच पर आयें। सुरेश पण्डित जी और अरुणेश शुक्ल भी हमारे बीच हैं और उनका भी ज़ोरदार स्वागत।

हम अपने मेहमानों का भी स्वागत करते हैं। हम इन मेहमानों के कृतज्ञ हैं। इन अतिथियों के स्वागत की परम्परा में हम फूलों से, गुलदस्तों से उनका स्वागत करते रहे हैं। इस तरह हम अपनी कोमल भावनाएँ उन्हें समर्पित करते रहे हैं, तो इसी श्रृंखला को आगे बढ़ाने के लिए मैं मुकेश वर्मा जी से यहाँ निवेदन करूँगा। वे स्वागत कर रहे हैं श्री राजेंद्र यादव का। रेखा कस्तवार, आप आये दिन उनके लेख

पढ़ते रहते हैं अख़बारों में। एक फैमिनिस्ट आन्दोलन भी है, जिसकी वे अगुवाई करती हैं। मैं उनसे निवेदन करता हूँ नमिता सिंह जी का स्वागत करें। मुकेश वर्मा से फिर निवेदन है कि वे सन्तोष चौबे जी का स्वागत करें। महेन्द्र गगन से निवेदन है कि वे प्रहलाद अग्रवाल जी का स्वागत करें। अमिताभ सक्सेना जी से मैं अनुरोध करूँगा कि वे कुँवरपाल सिंह जी का स्वागत करें। मैं राजेन्द्र शर्मा जी से निवेदन करता हूँ कि वे यहाँ आयें और अपना स्वागत वक्तव्य प्रस्तुत करें।

राजेन्द्र शर्मा

'सरोकार' और 'पहले पहल' के इस आयोजन में, 'रचना समय' में सबसे पहले तो मैं आप सभी सुधी श्रोताओं का, जो मित्र आये हैं, उन सबका स्वागत करता हूँ। सबसे पहले हमारे साथी हैं अरुणेश शुक्ल। ये महात्मा गाँधी यूनीवर्सिटी में रिसर्च कर रहे हैं। वे आलोचक हैं और साहित्य पर लिखी गयीं उनकी जो समीक्षाएँ हैं, खासतौर से उन्होंने लेखकों को केन्द्र में रखकर जो अपनी स्टडीज़ की हैं, उसमें निर्मल वर्मा, प्रियंवद और सन्तोष चौबे भी शामिल हैं, उनका यह काम चर्चित हुआ है और साहित्य प्रेमियों की नज़र में आया है। मैं अरुणेश का स्वागत करता हूँ। हमारे बुजुर्ग साथी सुरेश पण्डित अलवर से आये हैं। हमारे वरिष्ठ बुद्धिजीवी साथी हैं और इनके साथ चर्चा करते हुए, विमर्श करते हुए हमें कई नयी चीज़ों का पता चलता है और उनके साथ बैठना और उनसे बातचीत करना हमेशा सुखद रहा है। उन्हें राजस्थान की साहित्य अकादमी ने विशिष्ट लेखक के रूप में सम्मानित भी किया है। लेकिन इस सबसे परे हम सबके दिल में उनके लिए बहुत सम्मान है। मैं इस अवसर पर उनका स्वागत करता हूँ।

मित्रो! यहाँ प्रह्लाद अग्रवाल भी हैं। वे संगीत, साहित्य और सिनेमा, और संगीत और सिनेमा में साहित्य की तलाश करते हुए बहुत भटके हैं और बहुत गहरा अध्ययन उनका हिन्दी फिल्मों का है। जनकवि शैलेन्द्र पर उन्होंने एक किताब लिखी- 'ज़िन्दगी की जीत में यकीन कर'। तो ऐसे बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी प्रहलाद अग्रवाल हमारे बीच हैं, हमारे दोस्त। मैं उनका स्वागत करता हूँ। अक्सर आपने इन्हें पढ़ा होगा और गम्भीर साहित्यिक विमर्श सम्बन्धी लेखों को लेकर इन्होंने वर्तमान हिन्दी महिला कथालेखन और दाम्पत्य जीवन पर एक अच्छी स्टडी की है। 'साहित्य का सच' नाम की एक किताब इनकी प्रकाशित है और हमारे बीच जो आज मुख्य अतिथि हैं श्री राजेन्द्र यादव, उन पर केन्द्रित एक किताब है, जिसका शीर्षक उन्होंने दिया है- 'हमारे युग का खलनायक राजेन्द्र यादव'। ये भी उन्होंने सम्पादित की है। मैं उनका स्वागत करता हूँ।

हमारे वरिष्ठतम साथी प्रो. के.पी. सिंह और नमिता जी बहुत कृपापूर्वक अलीगढ़ से यात्रा के तमाम कष्ट उठाते हुए यहाँ हमारे बीच दोस्तों के आग्रह पर उपस्थित हुए हैं। कुँवरपाल सिंह जी अलीगढ़ यूनीवर्सिटी में न सिर्फ हैड, हिन्दी

डिपार्टमेण्ट रहे हैं; डीन, आर्ट फेकल्टी रहे हैं, वे बहुत अच्छे कामरेड, बहुत अच्छे दोस्त, बहुत अच्छे बुजुर्ग मार्गदर्शक और 'वर्तमान साहित्य' के सम्पादक हैं। उनकी कई किताबें हिन्दी आलोचना और मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को लेकर प्रकाशित हैं। मैं एक बात खासतौर से बताना चाहता हूँ कि वो राही मासूम रज़ा के बहुत व्यक्तिगत, बहुत पर्सनल फ्रेंड रहे हैं, सहपाठी रहे हैं और राही मासूम रज़ा को जितना भीतर से वो जानते हैं, उतना भीतर से जानने का दावा करने वाला अब शायद हमारे बीच दूसरा और कोई नहीं है। मैं कुँवरपाल जी का यहाँ स्वागत करता हूँ। नमिता जी भी हमारे बीच हैं। नमिता जी हमारी बहुत वरिष्ठ कथा लेखिका हैं। उनके छः या सात कहानी संग्रह प्रकाशित हैं। नमिता जी की कहानियाँ एक ज़माने में हम लोग 'उत्तरार्द्ध' और तमाम वामपंथी पत्रिकाओं में खोज-खोजकर पढ़ा करते थे और उनसे प्रेरणा लिया करते थे। नमिता जी का भी मैं यहाँ स्वागत करता हूँ।

मनोहर वर्मा जी हमारे बीच, ऐसे गम्भीर साथी हैं वरिष्ठ, कि जिनके बिना हम अपने साहित्यिक विमर्शों को, साहित्यिक गोष्ठियों को हमेशा अधूरा मानते हैं। उनकी उपस्थिति, उनके वक्तव्य ही हमें पूर्णता प्रदान करते रहे हैं। मैं उनका भी स्वागत करता हूँ। प्रो. कमला प्रसाद, इन्हें न सिर्फ प्रदेश का बल्कि हिन्दी का, अब तो अखिल भारतीय स्तर का साहित्य जगत, 'कमाण्डर' के रूप में जानता है। प्रख्यात, आलोचक, सम्पादक, प्रगतिशील लेखक संघ के राष्ट्रीय महासचिव, मैं उनका भी स्वागत करता हूँ। और साथ में अब हमारे सन्तोष चौबे, जिनके बारे में मैं जो कुछ भी कहूँगा, वो आप सब पहले से जानते हैं। कवि, कथाकार, शैक्षणिक जगत में एक कुशल प्रशासक, मूलतः इंजीनियर और आधुनिक विचारों को, आधुनिक टेक्नोलॉजी को अपनाने और उसे गाँव-गाँव तक फैलाने, छोटे से छोटे-गरीब से गरीब आदमी के लिए उस टेक्नोलॉजी को उपलब्ध कराने में जो उन्होंने प्रयास किये हैं, वो इतने प्रशंसनीय हैं कि उन्हें इस मामले में कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है। मैं उनका स्वागत करता हूँ।

हमारे बीच में आज के मुख्य अतिथि राजेन्द्र यादव जी हैं। उनके बारे में आप सब जानते हैं। नयी कहानी के प्रमुख स्तम्भ रहे राजेन्द्र यादव जी। 'हंस' के सम्पादक के रूप में आप उनकी प्रखर भूमिका को, उनकी तेजस्वी भूमिका को जानते हैं। और जो 'हंस' नहीं भी पढ़ते, हमारे ऐसे कई मित्र होंगे जो शायद साहित्यिक पत्रिकाओं को बहुत ज़्यादा नहीं पढ़ते, लेकिन अगर वो दूरदर्शन या टीवी देखते हैं तो उन्होंने उसमें फण्डामेन्टेलिस्ट फोर्सेज़ के जो प्रवक्ता हैं, उनकी बोलती बन्द करने, उन्हें लगभग हिस्टीरिया में पहुँचाने वाली स्थिति में राजेन्द्र यादव जी को बार-बार देखा होगा। और वे अपने तेजस्वी व्यक्तित्व से, तेजस्वी कलम से हिन्दुस्तान में फण्डामेन्टेलिज़्म, जातिवाद और धर्म के पाखण्ड के खिलाफ लगातार लड़ रहे हैं और जिसके लिए उन पर मुकद्दमे चलते हैं, धमकियाँ मिलती हैं। ऐसे योद्धा हमारे बीच हैं, मैं उनका स्वागत करता हूँ। एक बार फिर मैं आप सभी का स्वागत करता

हूँ, आत्मीय भागीदारी निभायें। धन्यवाद!

बलराम गुमास्ता

धन्यवाद, राजेन्द्र शर्मा जी। ये जो उपन्यास है, उसके विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ आयीं, जिस तरह से समीक्षाएँ लिखी गयीं, जिस तरह से लोगों ने अपने विचार रखे, उसको संकलित करके, उन समीक्षाओं को संकलित करके एक पुस्तिका का प्रकाशन किया गया है, ताकि एक जगह पर ये सारी जानकारियाँ हमें मिल सकें, उसको पढ़कर ये जाना जा सके कि किस तरह की एक प्रक्रिया को, एक विचार प्रक्रिया को यह उपन्यास जन्म देता है। ये उपन्यास मैंने भी पढा है, जीवन के विभिन्न आयामों को पकड़ने की कोशिश इसमें है। उसकी भाषा, उसका ट्रेक, सभी कुछ नयापन, नवाचार आपको मिलेगा। उसके साथ जीवन, राजनैतिक प्रतिबद्धताएँ, हमारे अपने संस्कार, इस सबके बीच चलते ऊहापोह और उससे निकलने का क्रम, प्रश्नों का लगातार चलता सिलसिला और उनसे जूझने की प्रक्रिया, जो मनुष्य को मनुष्य बनाती है, हमारे तमाम सरोकारों को एक मानवीय स्वरूप प्रदान करती है। इस सारी प्रक्रिया से गुज़रते हुए रचनाकार अपने इस उपन्यास में किस तरह से चीज़ों को देखता हूँ, किस तरह से उसमें ढूँढ़ता है, एक अद्‌भुत प्रयत्न इसमें सन्तोष चौबे ने किया है। इन्हीं सारी बातों को विभिन्न समीक्षाकारों, विभिन्न रचनाकारों ने अपनी अलग-अलग टिप्पणियों में, अलग-अलग समीक्षाओं में किस तरह से रखा है, इसको जानने के लिए हमने एक समीक्षा पुस्तिका प्रकाशित की है, उसके विमोचन के लिए मैं बहुत आदर के साथ यहाँ राजेन्द्र जी और कुँवरपाल जी से निवेदन करूँगा और महेन्द्र गगन जी हमारे बीच हैं। महेन्द्र जी! आपसे निवेदन है कि 'समीक्षा पुस्तिका' के विमोचन के लिए कृपया राजेन्द्र जी और कुँवरपाल जी से आशीर्वाद प्राप्त करें।

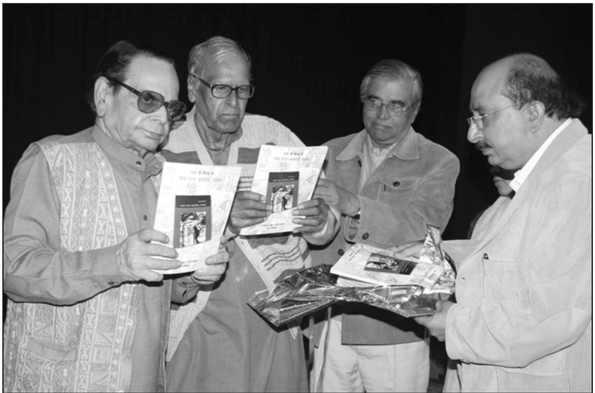

(समीक्षा पुस्तिका का विमोचन करते हुये राजेंद्र यादव, कुँवरपाल सिंह, कमला प्रसाद और महेंद्र गगन)

ये उपन्यास हमारी आज की विचार प्रक्रिया का एक आधार बनेगा। आगे

कार्यक्रम को बढ़ायें, इसके पहले उपन्यास के बारे में एक संक्षिप्त भूमिका, एक आधारभूत भूमिका के लिए संजय मेहता जी से मेरा निवेदन है।

संजय मेहता

जिन दो चीज़ों ने आज के यथार्थ की पहचान को मुश्किल बनाया है वे हैं सूचना और जानकारी का विस्फोट तथा जीवन की बढ़ी या बढ़ती हुई गति। अचानक हमें लगने लगा है जैसे जीवन को जानने पहचानने की जो हमारी शक्तियाँ थीं, हमारी संवेदना थी, हमारी इंद्रियाँ थीं, वे अपर्याप्त सी हो गई हैं। कि सूचना का, जानकारी का एक कुहासा सा हमारे चारों ओर घिर आया है, एक वृत्त है जिसके भीतर हम घिरे हुए हैं, वह घूम रहा है हमारे साथ-साथ, हमारे चारों ओर, और उसने जैसे हमारी देख पाने की, सोचने समझने की, शक्ति को कुंद सा कर दिया है। या कि तीव्र गति से चलने वाली एक रेलगाड़ी है जो इतनी तेजी से हमारे सामने से गुज़र रही है कि उसकी खिड़कियों के भीतर घट रहा यथार्थ हमें ठीक-ठीक दिख नहीं पाता। और अगर प्लेटफार्म भी गाड़ी के साथ-साथ भाग रहा है तो फिर सब कुछ रुका हुआ है, स्टैटिक है, इतना कि हम जड़वत् हो गये हैं, हस्तक्षेप नहीं कर पा रहे।

यथार्थ से घिर जाने या उसकी गतिशीलता के समकालीन (समगतिशील) न होने पाने की जो हमारी अक्षमता है, वह कितनी सच है और कितनी सिर्फ प्रतीति? क्या ऐसा तो नहीं कि हमने अपनी उस आलोचनात्मक दूरी को खो दिया है, जो यथार्थ को देखने की दृष्टि हमें प्रदान करती थी?

संतोष चौबे का नया उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' इसी पृष्ठभूमि में सच की तलाश करता नज़र आता है। उपन्यास का नायक कार्तिक स्वप्नजीवी है और अपने जीवन के प्रारंभ में हासिल की गई इतिहास दृष्टि के साथ समाज को बदलने का स्वप्न देखता है वह अपने इसी स्वप्न के साथ जीवन की उड़ान पर निकलता है। स्थापित सामाजिक मान्यताओं तथा कैरियर और प्रगति के बहुत प्रचलित मॉडल्स को पीछे छोड़ते हुए, वो अपने लिए वामपंथी राजनीति और आन्दोलन का कठोर रास्ता चुनता है, जहाँ धीरे-धीरे पार्टी आन्दोलन और सामाजिक रिश्तों की सच्चाईयाँ उजागर होती हैं और कार्तिक को नये धरातल पर सोचने को मजबूर करती हैं।

उपन्यास में दो कथाएँ समानान्तर रूप से चलती हैं- एक में कार्तिक है, उसकी पत्नी नीति है और अम्मा हैं तथा दूसरे में उसके सहयोगी रामनारायण, सरफराज तथा लक्ष्मण सिंह, नताशा, उमा तथा कामरेड मोहन हैं, जो पार्टी और आन्दोलन के उसके साथी हैं। एक में कार्तिक का व्यक्तिगत जीवन है और दूसरे में सामाजिक, जो कहीं साथ-साथ चलता है, कहीं एक-दूसरे से टकराते हुए दिखता है। नये दृश्य बनते हैं, बिगड़ते हैं, नये विचार जन्म लेते हैं, मरते हैं। जीवन, खुशी, प्रेम और मान्यता के दार्शनिक सवाल खड़े होते हैं और उत्तर पाते हैं। इन्हीं के बीच से उपन्यास का फलक विस्तार पाता है और वामपंथी राजनीति की वर्तमान समस्याओं से जूझता नज़र आता

है। एक ओर तो वो उत्तरभारतीय सन्दर्भों में नवजागरण या क्रान्ति, रेडिकल या रिफॉर्म, क्षुद्र राजनीतिक लाभ या व्यवसायिक नैतिकता, जनवादी केन्द्रीयता या लोकतांत्रिक खुलापन जैसे सवालों को उठाता है, तो दूसरी ओर अन्य विचारधाराओं जैसे गाँधीवाद या हिन्दू राष्ट्रवाद की समालोचना भी करता है।

उपन्यास का ताना-बाना कुछ इस तरह से बुना गया है कि उसमें रोशनी और हवा लगातार आती रहती है। वह एक ऐसे खुले हुए घर की तरह है, जिसमें लोगों और विचारों की आवाजाही लगातार बनी रहती है। रेडिकल रिफॉर्म में जो कि कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं तथा भोपाल गैस त्रासदी की पृष्ठभूमि ने इस पूरी बहस को जीवन्त बनाने में मदद की है। टैक्स्ट के स्तर पर उपन्यास नये ढाँचों का प्रयोग करता है और भाषा तथा प्रस्तुति के नये उपकरणों का इस्तेमाल करता है। कहानियों के भीतर कहानियाँ, अध्यायों के भीतर अन्वितियाँ तथा आखिरी अध्याय में रेज़ोनेन्स, उपन्यास पर उत्तर-आधुनिक प्रभावों की ओर इशारा करते हैं। उपन्यास के सबसे खूबसूरत प्रसंगों में से कुछ प्रसंग वे हैं, जहाँ लेखक ने मानवीय प्रेम तथा करुणा जैसी अनुभूतियों का चित्रण किया है। चाहे वो रति एवं फादर विलियम्स का प्रेम हो या कार्तिक तथा नीति या फिर अम्मा और कार्तिक के बीच माँ-बेटे का प्यार।

उपन्यास का एक रोचक बिन्दु वो है, जहाँ कथा नायक कार्तिक प्रसिद्ध वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन की आत्मकथा से टकराता है। डार्विन अपनी आत्मकथा में कहते हैं, 'लगभग तीस वर्षों की उम्र तक मुझे कविता बेहद पसन्द थी। स्कूल के समय मुझे शेक्सपियर, विशेषकर उनके ऐतिहासिक नाटक बहुत अच्छे लगते थे। मुझे चित्र देखने में आनन्द आता था और संगीत सुनने में तो उससे भी कहीं अधिक मज़ा मिलता था, लेकिन पिछले कई सालों से मुझसे कविता की एक लाइन बर्दाश्त नहीं होती। शेक्सपियर मुझे भयानक बोरियत से भर देते हैं। चित्रों और संगीत से मुझे कोई आनन्द नहीं मिलता। मेरा दिमाग़ एक ऐसी मशीन की तरह हो गया है, जिसके सामने अगर ढेरों तथ्य रख दिये जायें तो वो तुरन्त निष्कर्ष निकाल लेगी। मैं समझ नहीं पाता कि संगीत, साहित्य और उच्चतर आनन्द के लिए ज़िम्मेदार दिमाग़ का मेरा वही हिस्सा क्यों कुन्द हो गया है। मैं इतना समझ पाता हूँ कि दिमाग़ के उस हिस्से के कुन्द होने से मेरे जीवन से खुशी गायब हो गयी है और इससे शायद मेरी बुद्धि एवं नैतिक चरित्र पर भी फर्क पड़ रहा है।' ये उपन्यास में सतत् चलती बहस का वो मोड़ है जहाँ कार्तिक अपने आपको सोच के नये धरातल पर पाता है और कामरेड मोहन से सवाल पूछता है। कहा जा सकता है कि सन्तोष का यह नया उपन्यास नयी ज़मीन तोड़ता है और पाठकों से एक नये ज्ञानात्मक मानचित्र की माँग करता है। धन्यवाद!

बलराम गुमास्ता

धन्यवाद, संजय। उपन्यास के बहुत सारे पक्षों को यहाँ संजय ने अपने संक्षिप्त

आधार वक्तव्य में रखा है। उनके कई बिन्दुओं पर हम यहाँ अपने वक्ताओं से उनके विचार सुनेंगे। मैं बहुत आदर के साथ नमिता जी का स्वागत करता हूँ।

नमिता सिंह

धन्यवाद, गुमास्ता जी। यहाँ मंच पर उपस्थित हमारे सभी वरिष्ठ साथी, विद्वत्तजन एवं यहाँ उपस्थित सभी मित्रो! गुमास्ता जी को पहले मैं यह बात साफ कर दूँ अभी तक इस उपन्यास की समीक्षा मैं नहीं लिख पायी बहुत चाहते हुए भी, क्योंकि हमारे यहाँ बहस थी कि कौन लिखेगा। और अक्सर ऐसा होता है कि इत्तिफाक से हम दोनों जने होते हैं तो लोग दोनों को एक इकाई मान लेते हैं और मानकर के चलते हैं कि एक ने नहीं किया तो दूसरे ने कर दिया। तो इसलिए समीक्षा मैंने नहीं लिखी।

मैं ये बात कहना चाहूँगी कि ये उपन्यास मुझे बहुत अच्छा लगा और दिलचस्प बात ये है कि इस उपन्यास पर अगर राय ली जाये तो ऐसे बहुत कम उपन्यास होंगे, जिनके बारे में बहुत-अलग-अलग तरह की राय हमको मिलेगी। इसका एक कारण ये भी है कि विचारधारा एक होती है, एक राजनीति होती है। बहुत से लोग एक वैचारिकता अपने अन्दर रखते हैं। जीवन के लिए वैचारिकता होती है, राजनीति के लिए होती है, लेकिन उसके साथ ही साथ जिन्होंने सक्रिय रूप से संगठन में, संगठन के काम में अपने को झोंक दिया, संगठन के काम को जिन्होंने एक अपने जीवन का ध्येय बना दिया और एक अपनी ज़िन्दगी का रास्ता बना लिया, उद्देश्य बना लिया, मेरा ख्याल यह है कि शायद वे इस उपन्यास को ज़्यादा बेहतर समझ पायेंगे और ज़्यादा बेहतर तरीके से एप्रिशियेट कर पायेंगे या ज़्यादा बेहतर तरीके से उसकी विवेचना कर पायेंगे, उसके प्लस-माइनस, देख पायेंगे। इसलिए, क्योंकि खुद मैं, जिस पूरे शिक्षा अभियान या जनविज्ञान अभियान, जो कि एक पूरा आधार है इस उपन्यास का और जिसकी शुरुआत मैं कहूँगी मध्यप्रदेश से हुई, और जिसमें दूसरे बहुत अन्य साथियों के साथ, मेरे और भी साथी यहाँ बैठे हैं, आशा है और नरेन्द्र जी हैं, खुद मैं उसमें रही हूँ, मुझे ये उपन्यास बहुत अपील किया। पूरी प्रक्रिया को जिस प्रकार से बहुत बारीकी के साथ देखा गया और उसके पॉजीटिव भी, और कहाँ पर कमी है वह भी, यह बात मुझे बहुत अपील करती है।

दरअसल, आपके सामने उपन्यास के बारे में जो वक्तव्य रखा गया, उससे मुझे तो लगता है कि ये उपन्यास पूरी नौजवान पीढ़ी का वक्तव्य है, जिनके सामने एक समाज को बदलने का सपना है, एक बेहतर समाज बनाने का सपना है। और एक हमारी पूरी पीढ़ी, आज़ादी के बाद की पूरी एक पीढ़ी इस आदर्श के साथ आयी और आज़ादी के बाद की जो नौजवान पीढ़ी थी, उसके सामने एक सपना था, एक बेहतर समाज का सपना था और किस तरह से, किस उत्साह से, किस ज़ोश से और किस आस्था से वे लोग इन आन्दोलनों में आये और धीरे-धीरे क्या परिणति होती

है, वो प्रक्रिया किस रूप में आगे बढ़ती है, इतिहास की ये जो प्रक्रिया है, इसको इस उपन्यास ने अपने में समेटा है।

ये उपन्यास बहुत नये सवाल खड़े करता है। बहुत सारे 'नयी कहानी' के ज़माने के उपन्यास हैं, उसके बाद के उपन्यास हैं, बहुत सारे सामाजिक सवाल उठाये गये हैं, विमर्श बहुत सारे उठाये गये हैं लेकिन ये उपन्यास बहुत नये सवाल खड़े करता है। वो राजनीति के सम्बन्ध में उतने सवाल नहीं, बल्कि राजनीति के भीतर की राजनीति के सवाल खड़े करता है। उसके अलावा जो एक हम ये मानते हैं, हम लोग वैज्ञानिक खोज की बात करते हैं, वैज्ञानिक आन्दोलन की बात करते हैं, जनविज्ञान के आन्दोलन की हम बात करते हैं, उसके सामाजिक स्वरूप की हम बात करते हैं; लेकिन शायद उसके व्यवहारिक रूप से बहुत लोग परिचित नहीं हैं। किस तरह से वह स्वरूप बनता है? विज्ञान की सामाजिक भूमिका क्या हो सकती है? कैसे सामाजिक बदलाव में वो एक बहुत बड़ा रास्ता बनाता है? ये उस सम्बन्ध में भी नये सवाल खड़े करता है। ये संस्कृति के, कला रूपों के, विभिन्न कला रूपों के इस्तेमाल के, उनके सामाजिक रूपों से जोड़ने के जो सवाल हैं उस पर भी नये सवाल खड़े करता है। और जहाँ पर संगठन है, जहाँ राजनीति है, जहाँ समाज है, जहाँ एक बेहतर समाज बनाने का सपना है लेकिन उसके आगे का रास्ता क्या है, कैसे वो आगे बढ़ेगा- इस तरह के सवाल और ये बहुत महत्त्वपूर्ण सवाल हैं। मैं समझती हूँ कि हम लोग जो यहाँ बैठे हुए हैं, हम लोग जो लेखन से जुड़े हुए हैं, साहित्य से जुड़े हुए हैं, विचार से जुड़े हुए हैं अल्टीमेटली हमारा एक उद्देश्य है, एक उद्देश्यपरक साहित्य की हम बात करते हैं, उसके उन सवालों से ये जुड़ा हुआ है। इसलिए मुझे ये उपन्यास बहुत महत्त्वपूर्ण लगता है।

दरअसल, 'क्या पता कामरेड मोहन' पर अगर हम बात करें, तो मुझे ऐसा लगता है कि ये बात लगभग अधूरी-सी रह जाती है जब तक हम इसका जो पहले का उपन्यास है 'राग केदार', उसकी बात न करें। दरअसल, मुझे तो लगता है कि 'राग केदार' ने कुछ सवाल उठाये, 'राग केदार' ने उस पीढ़ी के सवाल उठाये, उस जो बहुत प्रतिभाशाली हैं, जिसके यहाँ अन्याय के खिलाफ लड़ने की एक ललक है, प्रतिरोध करने का एक जज़्बा है और इसके लिए एक नौजवान के भीतर का जो अन्तर्द्वंद्व है, जहाँ वो जो करना चाहता है, वो कर नहीं सकता है क्योंकि उसकी अपनी पारिवारिक सीमाएँ हैं, सामाजिक सीमाएँ हैं, उसके बावजूद एक अन्याय के खिलाफ लड़ने की जो उसकी कोशिश है और एक वलवला है उसके अन्दर, एक जज़्बा है उसके साथ में। उसकी क्या परिणति है? वो परिणति अगर है 'राग केदार' में तो वहाँ है जहाँ पर केदार अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है लेकिन वो एक अनवरत बजने वाले राग की तरह लगातार चलता है। तो ये 'राग केदार', ये पीछे पृष्ठभूमि में क्यों चला गया? ये केवल ध्वनि बन्द करके, केदार जैसा चरित्र, केवल एक राग के रूप में प्रतिध्वनित होता हुआ क्यों रह गया- ये उसके उन सवालों के आगे का

अपना वक्तव्य रखते हुए नमिता सिंह

जवाब है। जहाँ 'राग केदार' में व्यवस्था का जो जाल है, उसे केदार तोड़ नहीं पाता, उसमें व्यावहारिकता की कमी है। इसलिए उसकी जो परिणति है, वो इस रूप में है कि उसे मरना पड़ता है और वो नेपथ्य में चला जाता है। उसके आगे का विस्तार हमको कार्तिक के चरित्र से कामरेड मोहन में दिखायी देता है। इसलिए जो सवाल 'राग केदार' ने खड़े किये थे, जहाँ पर वो समाप्त हुआ, उसके आगे का विस्तार या उसका जवाब हमको कामरेड मोहन में मिलता है।

बहुत से लोगों ने ये कहा, मैंने देखा भी था कुछ पत्रिकाओं में, कि शायद यह कामरेड के मोहभंग का उपन्यास है। दरअसल, खासतौर से यू.एस.एस.आर.- सोवियत रूस के विखण्डन के बाद, एक समूह में कुछ लोगों में यह बड़ी हर्ष की लहर पैदा हुई, एक बड़ी यह खुशी मानी गयी कि साहब! देखिये, समाजवाद जैसा भी विचार था, उसका अन्त हो गया। अब उसकी आवश्यकता दुनिया को नहीं रही। उनके लिए ये ऐसा लग सकता है कि शायद यह मोहभंग का उपन्यास है, लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि ये आगे के रास्ते की खोज है, कार्तिक निरन्तर एक नया रास्ता खोज रहा है और ये जो हमारा यथार्थ है, हमारे युग का यथार्थ है, हमारी उस एक पीढ़ी का यथार्थ है, उसे पहचानने की कोशिश कर रहा है। तो फिर वही बात है, उसके सामने एक बड़ा सपना है, समाज को बदलने का सपना है।

हम आज वैश्वीकरण की बात कर रहे हैं, हम आज उन मूल्यों की बात कर रहे हैं जहाँ पर कि मानवीय मूल्य खत्म हैं या जहाँ पर कि केवल पैसे की एक अंधी दौड़ है, एक बाज़ारवाद हावी है; लेकिन उसके बरक्स कार्तिक और उसके साथी और उनका पूरा जनसंगठन, उनके सामाजिक सरोकार से उसका जवाब देते हैं, उसके खिलाफ खड़े होते हैं और एक रास्ता बताते हैं। यह पहली बार बताते हैं कि विज्ञान

की भूमिका समाज को बदलने में किस रूप में है, उसको लागू किया जा सकता है। किस प्रकार से एक शिक्षित समाज के बिना हम समाज को बदलने की बात ही नहीं कर सकते। हम कितने ही विमर्श करें, हम कितने ही नारी विमर्श करें, हम कितने ही दलित विमर्श करें; लेकिन जब तक हम अपने पूरे समाज को शिक्षित नहीं करेंगे, साक्षर नहीं बनायेंगे, पढ़ने-लिखने लायक नहीं बनायेंगे, लोगों को समझने लायक ही नहीं बनायेंगे, तब तक ये सारी बातें खोखली बनकर केवल सैद्धान्तिक और किताबी बनकर रह जायेंगी और इस रणनीति को किस प्रकार से संगठन के द्वारा लागू किया जाये, ये उपन्यास हमको यह बताता है।

और ज़ाहिर सी बात है कि जहाँ पर इतनी बड़ी यात्रा है, वहाँ पर उसके अन्तर्विरोध भी हैं, उसकी कमियाँ भी हैं, उसके छेद भी हैं; लेकिन इसका मतलब ये कतई नहीं होगा कि ये विचार ही समाप्तप्राय है या यह विचार ही अर्थहीन है, विचार के परे है। आज भी हमें समाज को बदलने की बात सामने रखनी चाहिए और ये उपन्यास इसे सामने रखता भी है। इसीलिए उपन्यास इतना महत्त्वपूर्ण है। और जैसा कि मैंने कहा कि ये पूरे संगठन के ढाँचे पर बात करता है। मैं समझती हूँ कि सोवियत रूस में जो हुआ, उसके पीछे भी शायद यही कारण थे और हम समझते हैं कि अगर कहीं पर कोई इस तरह के जो छेद बनते हैं, इस तरह के कारण बनते हैं तो बजाय इसको ढँकने के अगर उनका खुलासा करके, उनको एक्सपोज़ करके, उन कमियों को केन्द्रित करके उनको ठीक किया जाये तभी वो यात्रा आगे बढ़ेगी और आगे एक सार्थक रास्ता हम निकाल पायेंगे। बहुत सारी चीज़ें इसमें हैं।

अभी-अभी मैं वो वक्तव्य पढ़ रही थी, जिसमें कहा कि कहानी एक स्तर पर चलती है, जहाँ पर नीति है, कार्तिक और उनकी अम्मा हैं। मैं समझती हूँ मेरे सामने ये चीज़ इस रूप में नहीं है कि दो अलग-अलग धाराएँ हैं बल्कि वो यह सवाल खड़े करती है कि क्या अगर एक बड़े उद्देश्य के लिए, अगर एक बड़े राजनीतिक उद्देश्य के लिए जहाँ पर कि एक बड़े समाज को ऊपर उठाने की बात हो, समतामूलक समाज की जहाँ बात हो, रही हो वहाँ क्या मानवीय सम्बन्ध लुप्त हो जाते हैं? क्या परिवार, क्या परिवार के बीच के सम्बन्ध, क्या पति-पत्नी के सम्बन्ध, माँ-बेटे के सम्बन्ध, इस तरह के जो परिवार के बीच के एक जो भावनात्मक सम्बन्ध होते हैं, क्या वो समाप्त हो जाते हैं? या उनको तिलांजलि देकर ही क्या हम बड़े सामाजिक सरोकारों की बात कर सकते हैं? क्या तभी वो सफल हो सकता है? इस पर भी उपन्यास प्रतिप्रश्न खड़े करता है। हम लोग भी लगातार इस तरह के सवालों से रूबरू होते रहे हैं।

इसलिए एक बहुत अच्छा प्रसंग आखिरी में है जहाँ पर कि कामरेड मोहन की आत्महत्या के बाद उसकी पत्नी बहुत बुरी हालत में है। उसकी एक मित्र आती है, कॉमरेड मोहन की अन्तिम यात्रा चल रही है और सब लोग उसकी जय-जयकार कर रहे हैं कि 'कामरेड मोहन अमर रहे'। उस वक्त जो दूसरी साथी है उसकी पत्नी

की, हाथ पकड़कर उसे उठा रही है और उसे यह कह रही है कि तुम भी नारा लगाओ। उस वक्त बहुत अच्छा वाक्य है उपन्यास में कि भाई, गले लगाओ उसको, इस वक्त दु:ख के क्षणों में। उस पत्नी को जो बेहाल है, उसको गले से लगाओ, बजाय इसके कि वहाँ पर नारा लगाओ। ये अपने आपमें बहुत बड़ा तंज़ है। ये बहुत महत्त्वपूर्ण तंज़ है।

मैं एक बात और भी कहना चाहूँगी, संगठनों में जो लोग काम करते हैं, और मुझे लगता है कि शायद सभी संगठनों में यह है, मैं उस बात को ज़रूर कहना चाहूँगी कि जब कार्तिक और डॉ. रामनारायण, जो कि शिक्षा के क्षेत्र में काम रहे हैं- साक्षरता के, उसमें बहुत बड़े आन्दोलन बना रहे हैं, काम कर रहे हैं तो उन्हें बहुत सारे अंदरूनी विरोधों को भी झेलना पड़ता है। उपन्यास में इस पर बहुत अच्छा व्यंग्य है जहाँ डॉ. नारायण ये कहते हैं कि 'हमें पार्टी के भीतर अपने विरोधी को अगर मारना है तो हमारे पास तीन हथियार हैं। एक, या तो उसे सी.आई.ए. का एजेन्ट घोषित कर; दो, या उसको भ्रष्ट घोषित कर दो और तीसरा एक वूमेनाइज़र के रूप में, उसका ठप्पा उस पर लगा दो। इस तरह से हम अपने संगठन के भीतर अपने विरोधी को मार सकते हैं। ये जो टेक्टिक्स हैं, ये जो एक व्यक्तिवादी, राजनीति के भीतर, राजनैतिक संगठन के भीतर की जो राजनीति होती है, हम लोग रोज़ अक्सर इन चीज़ों को देखते रहते हैं, तो इसलिए उपन्यास जिस तरह के सवाल उठाता है वे बहुत मौजूँ हैं। मुझे लगता है कि अभी भी जिस तरह से केदार की मृत्यु के बाद उसके आगे का रास्ता कार्तिक तय करता है और खुद नये सवालों से जूझ रहा है, नये प्रश्नों से जूझ रहा है, नयी समस्याओं से जूझ रहा है, वो पूरे सवाल अभी भी चिंतन के लिए छोड़ रहा है। वो अभी भी छोड़ रहा है सवाल निरन्तर मंथन के लिए और ये अनवरत खोज अभी जारी है।

ये खोज अपने भीतर की है। ये खोज संगठन के भीतर कैसे काम किया जाये, उसकी है। ये समाज के साथ किस तरह के हम रिश्ते बनायें, ये खोज उसके लिए भी है। ये राजनीति की पड़ताल की खोज है। ये मानव-सम्बन्धों के सामाजिक काम और राजनीति और उसके साथ-साथ में जो मानवीय सम्बन्ध हैं, उनके सम्बन्धों की खोज है और ये भविष्य का रास्ता तय करने के लिए भी एक खोज है; लेकिन साथ में यह आश्वस्ति का भाव है कि अभी ये खोज जारी रहेगी। और मैं उम्मीद करती हूँ कि एक और उपन्यास इसके आगे लिखा जायेगा। धन्यवाद!

बलराम गुमास्ता

धन्यवाद, नमिता जी। आपने उपन्यास के विभिन्न पक्षों को बहुत सुन्दर ढंग से यहाँ मित्रों के बीच रखा और बहुत सारी बातें उससे निकलकर सामने आयीं। ये भी निकलकर आया कि किस तरह से साम्यवादी अगर विचारधारा है तो उसके मानवीकरण की, या यूँ कहिये कि भारतीयकरण की एक छटपटाहट, एक प्रयत्न, एक लगातार इच्छा रचनाकार की लगती है और ये लगता है कि उसकी प्रतिबद्धता कहाँ

गयी? सवाल आते हैं कि भई! ये क्या उसके खिलाफ है विचारधारा के? जबकि मुझे लगता है कि ये पवित्रता की बात है। इसमें बहुत गहरे सरोकार रचनाकार अपनी विचारधारा से जोड़ने का प्रयत्न करता है। सवाल सिर्फ इतना है कि उसमें मानवीय जगह, वह चाहता है, उसका एक मानवीयकरण चाहता है। राजनीति या विचारों में जहाँ-जहाँ अमानवीय होते गये हैं हम, वो चाहता है कि राजनीति एक मानवीय धर्म की तरह हो और शायद यही एक छटपटाहट, यही एक सवाल, एक शाश्वत सवाल जो कि आज की ज़रूरत है, इस उपन्यास के पीछे लगातार चलता है।

अब मैं अरुणेश नीरन शुक्ल जी को यहाँ आदर के साथ आमंत्रित करता हूँ, बहुत संक्षिप्त में वो अपनी बात रखें। अरुणेश शुक्ल, नये युवा रचनाकार हमारे बीच हैं और उनका विचार हमारे लिए महत्त्वपूर्ण होगा। मैं उनका स्वागत करता हूँ।

अरुणेश शुक्ल

सम्मानीय मंच एवं मित्रो! पिछले पाँच वर्षों के हिन्दी उपन्यास लेखन पर अगर निगाह डाली जाये तो उस पर इतिहास का दबाव, जिसको कहा जा सकता है कि उत्तरआधुनिक सन्दर्भों में समय को समझने के लिए जिसकी आवश्यकता महसूस की जाती है और अस्मितापरक लेखन, दोनों का दबाव बहुत साफ दृष्टिगत होता है। चाहे वो अलका सरावगी का उपन्यास हो या असगर वज़ाहत का हो या 'पहला गिरमिटिया' हो या ऐसे उपन्यास। तब सवाल ये उठता है कि ये इतिहास का एक अतिवादी दबाव क्यों? क्या उपन्यास जिसको कहा जाता है, वो अपने समय को महाकाव्यात्मक चेतना में पकड़ता है? क्या हमारे समय की रचनाशीलता इस लायक नहीं रह गयी है? या इसमें असफल हो गयी है कि नब्बे के बाद बहुत तेजी से बदलते हुए यथार्थ को वो अपनी रचनात्मकता में पकड़ सके?

ऐसे में 'क्या पता कामरेड मोहन' और 'हलफ़नामे' राजू शर्मा का, दो उपन्यास ऐसे आये हैं, जिनको देखकर एक तरह से आश्वस्त हुआ जा सकता है कि नहीं, ऐसा नहीं है। इसको अपनी समीक्षा में मैंने विमर्शों का उपन्यास कहा, क्योंकि एक साथ कई तरह के विमर्श ये उपन्यास उठाता है। सबसे बड़ा विमर्श यह विज्ञान की पक्षधरता को लेकर के खड़ा करता है, मार्क्सवाद के वेरीफिकेशन की बात करता है और प्रकृति को 'अदर' मानने से जिस तरह से उपनिवेशवाद पनपा, उसकी तरफ भी हमारा ध्यान ये उपन्यास दिलाता है। इसका नायक कामरेड कार्तिक जब पार्टी की मीटिंग से बाहर आता है तो एक बहुत घायल दिलोदिमाग़ के साथ होता है, क्योंकि जहाँ किंवदन्तियाँ यंत्रणा में बदल गयी हैं और जहाँ आत्मालोचन का मतलब आत्मालोचन नहीं, बल्कि दूसरे की आलोचना ही होता है। ऐसे में यह उपन्यास भोपाल गैस त्रासदी की उस घटना से विस्तारित होता है, जिसकी हम लोग अभी कुछ दिन पहले तेईसवीं बरसी मना चुके हैं, जिसको कहा जाये, तेईस साल पूरे हुए उस दुर्घटना को।

इस उपन्यास में कामरेड कार्तिक अपने प्रयासों से, जो कि एक इंजीनियर था,

जिसका चयन होता है प्रशासनिक सेवा के लिए, उसको छोड़कर वो पार्टी के कामकाज देखता है। जिसके प्रयास से विज्ञान का आन्दोलन, पार्टी का आन्दोलन पूरे प्रदेश में फैलता है। उसको कारण बताओ नोटिस जारी किया जाता है। उसकी पहली चिन्ता ये होती है कि कैसे विज्ञान का, वैज्ञानिक दृष्टि का प्रसार लोगों में किया जाये, क्योंकि विज्ञान अपने आप में बहुत निरपेक्ष दृष्टि है। लेकिन उसके विकसित होने के क्रम में जिस तकनीकी का विकास हुआ, वह बहुत सापेक्ष हुआ; पूँजीवाद के सापेक्ष उसका विकास होता है। और इस तरह से विज्ञान में भी वो पूँजीवाद का गुण, जिसमें कि मुनाफा बहुत केन्द्र में है, अन्तर्विन्यस्त हो गया। इसीलिए उत्पादों तक तो हमारी पहुँच हुई, लेकिन विज्ञान के माध्यम से जो सूत्र हैं, वह बहुत ही एक खास वर्ग के पास हैं और उन तक हमारी पहुँच नहीं हो पायी और उनने कभी कोशिश भी नहीं की कि बहुत आमजन के बीच में इस दृष्टि का प्रसार हो।

भारतीय मार्क्सवाद का जैसा इतिहास रहा है जो लगातार वर्ग संघर्ष के नाम पर तमाम अवधारणाओं को खारिज़ करता रहता है, जैसे कि दलित विमर्श हो या स्त्री विमर्श हो। इसको एक जमाने में कहा गया था कि यह बाज़ार का षड़यन्त्र है, जो कि सब छोटे-छोटे अस्मितापरक आन्दोलन खड़ा करके वर्गीय चेतना को बाधित करने का प्रयास करता है। लेकिन मित्रो! ये उपन्यास इस हकीकत की ओर इशारा करता है, याद दिलाता है कि जब मार्क्सवाद को भारतीय सन्दर्भों में देखना होगा, उसको दलित विमर्श, स्त्री विमर्श या ऐसे तमाम विमर्श जिनकी बात वनवासी स्कूलों के माध्यम से या और चीज़ों के माध्यम से कामरेड कार्तिक करता है, उनकी तरफ लौटना होगा। उनको इग्नोर करके आप आगे नहीं बढ़ सकते। अब ऐसे तमाम प्रश्नों से गुज़रना ही होगा।

और कार्ल मार्क्स 'पैम्फलेट्स' लिख रहे थे। जहाँ एक तरफ 'पूँजी' जैसा जटिल ग्रन्थ लिख रहे थे, जो अच्छे-अच्छे अर्थशास्त्रियों की समझ में नहीं आता है, वहीं वो 'पैम्फलेट्स' भी लिख रहे थे। अपने विचारों के जन-प्रसार के महत्त्व को वो समझ रहे थे। भारतीय मार्क्सवादी पार्टियों या कि इस तरह के सामाजिक आन्दोलनों को इस तथ्य को जानना होगा, इससे रूबरू होना होगा कि आपको जहाँ तक पहुँचना है, वहाँ तक आपका सम्प्रेषण होना चाहिए। एक समय नवजागरण का था जब नाटक बहुत केन्द्रीय विधा हुआ था हिन्दी साहित्य की, क्योंकि सम्प्रेषणीयता में अपनी दृश्यात्मकता के चलते समाज सुधारों में इसकी एक महती भूमिका बनती थी। इस उपन्यास में भी जब कामरेड कार्तिक और तमाम बुद्धिजीवी उस तरह के निश्चय करते हैं कि विज्ञान, वैज्ञानिक विचारों का जनप्रसार करना है या कि मुआवजा दिलाने के लिए लड़ाई लड़नी है तो उसके लिए वह नाटक को ही अपना माध्यम बनाते हैं। और उसमें जिस तरह से अंग्रेज़ी उपनिवेशवाद के विरुद्ध नवजागरणकालीन नाटकों ने एक बड़ा प्रतिरोध किया था और नवजागरण की शुरुआत की थी, उसी तरह से इस उपन्यास में भी कई अस्त्रों से नवजागरण शुरू होता है। चाहे वो भारतीय

(बायें से) संतोष चौबे, मनोहर वर्मा एवं नमिता सिंह

लोकतंत्र को संचालित करने वाले उस पूँजीवादी क्रूर चेहरे के खिलाफ हो, जो कि पच्चीस हज़ार की जमानत पर एंडरसन को छोड़ देता है जो हज़ारों लोगों का कातिल है या मार्क्सवादी कहने वाले डिस्कशन के सन्दर्भ में हो या कि पीड़ितों को मुआवजा दिलाने के सन्दर्भ में हो- एक साथ इतने सारे विमर्श ये उपन्यास खड़े करता है।

जब भी हम देखते हैं अपने दौर के इस उपन्यास को, जिसमें कि बड़ा आख्यान लिखा जा रहा है, तो हमें एम. फॉस्टर याद आते हैं। एम. फॉस्टर ने कहा था कि 'एक व्यक्ति का जीवन जितनी सम्पूर्णता में चित्रित हो सकता है, वैसा उपन्यास को करना चाहिए।' सवाल उठता है कि एक व्यक्ति के माध्यम से आप कैसे महाआख्यान की तरह तमाम चीज़ें उठा सकते हैं? और उपन्यास, जो कि सबसे मजबूत और सबसे उपयोगी विधा माना जाता है, जिसमें ये सारी चीज़ें आ सकती हैं; तब हम देखते हैं कि एक साथ इतने सारे विमर्श, खासकर के मार्क्सवाद के सन्दर्भ में जो विमर्श हैं, जिस पर कि लगातार पिछले बहुत सालों से चिन्ता बनी हुई है- यह उपन्यास उठाता है। जैसे इसमें प्रसंग आता है कि हिन्दी प्रदेश से आये हुए पार्टी का क्लास लेने के लिए जो महोदय हैं, वो हिन्दी नहीं बोलते। यही चिन्ता रामविलास शर्मा के यहाँ भी है हिन्दी न बोले जाने की, यही चिन्ता 'कामरेड का कोट' में सृंजय के यहाँ भी है।

क्रान्ति को बाधित करने वाले जिन तत्त्वों की तरफ ये इशारा 'क्या पता कामरेड मोहन' कर रहा है, उसी की तरफ इशारा करते हुए 'हलफ़नामे' में भी उसका लेखक लिखता है कि--'क्रान्ति का रंग अब लाल नहीं रहा, अब वो बैंगनी हो गया है या

किसी और रंग का हो गया है।' जिसमें दो ही स्थितियाँ हैं कि अगर आप ईमानदार हैं तो आपको खरीदा जायेगा और अगर आप दोस्त हैं तो आपको बेच दिया जायेगा। कामरेड कार्तिक के साथ यही होता है। उसको कारण बताओ नोटिस दिया जाता है, क्योंकि कामरेड मोहन को प्रतिक्रान्ति उसी के क्रियाकलापों में दिखायी देती है, क्योंकि वो ऐसी तमाम आधारभूत चीज़ों से घबराते रहे हैं, उससे दूर हटते रहे हैं, उसी तरह से उनको यह चीज़ भी नज़र आती है। जैसे अखिलेश की 'यक्षगान' कहानी में पार्टी के जो जिला सचिव हैं, उनको हर तरफ ही आर्थिक पहलू की तलाश रहती है। एक लड़की का बलात्कार होता है और इस तरह की स्थितियाँ होती हैं, उसके सन्दर्भ में भी वो यही कहते हैं कि इसका कोई आर्थिक पहलू तो बनता ही नहीं। तो जब भी कोई मार्क्सवाद की बात करता है तो वह वर्गीय चेतना के नाम पर आर्थिक आधारों की बात करेगा और कहेगा कि इसका कोई आर्थिक आधार जुड़ा होना चाहिए, कोई सीधा-सबूत दिखना चाहिए। जबकि ऐसी तमाम चीज़ें हैं इस पूरे उपन्यास में अन्तर्विन्यस्त हैं, जो कि बात करती हैं लगातार इसको कि अपने समय को समझने के लिए, उसको महाकाव्यात्मक स्वरूप में समझने के लिए हमें यथार्थ को समग्रता में देखना होगा। जिस तरह से उपन्यास में चीज़ों को लाया है उससे हम यथार्थ से रूबरू होते हुए बाहर निकलते हैं। 'ग्रेट भोपाल टूर' के माध्यम से जो इतिहास इसमें आता है, वो समकालीन सन्दर्भों को समझने के लिए बहुत ज़रूरी है कि हिन्दू रानियों का दखल कैसे था, कैसे राजा भोज ने बाँध बनवाया था, किस तरह से भोपाल में मेडिकल कॉलेज खड़ा हुआ है, कैसे इतिहास वर्तमान के विकसित होने में अपनी भूमिका अदा कर रहा है जिसको मिशेल फूको उठाते हैं, या कैसे और सारी चीज़ें हैं जिनसे आपको आगे बढ़ते हुए ही क्रान्ति की तरफ बढ़ना होगा; तब कोई एक नया रास्ता निकल सकेगा।

इस उपन्यास के बारे में जो सबसे विचारणीय पहलू है और जो इसकी कमजोरी भी लगती है हमको, वो यह है कि इसमें जितनी भी स्त्री पात्रों का चित्रण हुआ है, हालाँकि एक बौद्धिकता उनको प्रदान करने की कोशिश की गयी है, चाहे वो कामरेड कार्तिक की पत्नी हो या कि नताशा, उमा; लेकिन इन सबका काम जो रहा है वो एक तरीके से स्टीरियोटाइप को मजबूत करने वाला रहा है जो कि पितृसत्ता द्वारा गढ़ा गया है, या कि जहाँ भी कामरेड कार्तिक की पत्नी आयी है, वो कामरेड कार्तिक के तर्कों को पुष्ट करने के लिए आयी है, या कि फादर विलियम्स के साथ प्रणय दृश्यों की प्रधानता बरत दी गयी है, या कि जहाँ फिर उमा और नताशा के बीच में कामरेड कार्तिक पर अपना आधिपत्य जमाने का दौर है- उनके चरित्रों के स्वतंत्र विस्तार का मौका इस उपन्यास में नहीं दिया गया है। ये इस उपन्यास की एक कमज़ोरी दिखती है, बाकी ये उपन्यास जिस तरह से तमाम विमर्शों को खड़ा करता है, उस लिहाज़ से सराहनीय है और ऐसे वैज्ञानिक दृष्टिसम्पन्न उपन्यासों का स्वागत किया जाना चाहिए। धन्यवाद!

बलराम गुमास्ता

अरुणेश शुक्ल को सुनकर यहाँ यह लगा कि हमारी जो आने वाली पीढ़ी है, जो रचनाकार, लेखक हैं, जो पढ़ने वाले लोग हैं; इस तरह से रचना के मर्म में जाकर उसको विश्लेषित कर सकते हैं, उसको समझते हैं। मेरे ख्याल से ये सार्थकता है रचनाकार की, उपन्यास की सार्थकता है जिसने इतना उद्वेलित किया अरुणेश नीरन शुक्ल को, लगभग इसी तरह से हम सभी मित्रों को। खासतौर से हम लोगों को इसलिए कि इस पूरे कालखण्ड में, जिसमें ये रचना रची गयी, ये 'कामरेड मोहन' उपन्यास, उस सबके हम साक्षी हैं। हम सारे मित्र कहीं न कहीं उस यात्रा के सहभागी हैं, इसीलिए वह बहुत गहरे तक हमारे बीच उतरती है और एक रास्ता उसमें से हमें खोजना है। सुरेश पण्डित जी और मनोहर वर्मा जी, दो वक्ता हमारे बीच हैं। सुरेश पण्डित जी से यहाँ बहुत संक्षिप्त टिप्पणी के लिए अब मैं निवेदन करूँगा, उसके बाद मनोहर वर्मा से कि वो इसको समराइज़ करें। इन टिप्पणियों पर वो अपनी संक्षिप्त बात कहेंगे। बहुत आदर के साथ सुरेश पण्डित जी, मैं उनका स्वागत करता हूँ।

सुरेश पण्डित

मंच पर बैठे मेरे सभी आदरणीय मित्रो और मेरे सामने बैठे हुए परमप्रिय मित्रगण! मैं बहुत संक्षेप में ही बात करूँगा, और अपनी बात सन्तोष चौबे की एक कहानी से शुरू करता हूँ। सन्तोष चौबे की एक कहानी है 'लेखक बनाने वाले', इस कहानी को पढ़ते हुए मुझे लगा कि इसमें अनजाने ही सन्तोष ऐसी बात कह जाते हैं, जो आगे चलकर इस उपन्यास की एक मार्गदर्शक पंक्ति बन जाती है। वो जो कहानी है, उस कहानी में किस तरीके से लेखक बना जा सकता है, इसके कुछ गुण, तकनीकी गुण सिखाये गये हैं कि कम्प्यूटर के माध्यम से इस कहानी को मैन्युफेक्चर किया जा सकता है। तो आखिर में उसमें एक पात्र है 'सुकान्त' जो लेखक बनना चाहता था, वो वहाँ गया था, उसको बताता है, देखिये! सुकान्त कहता है कि 'लेखक बनने के लिए यह पहली शर्त है कि वो लिखना शुरू करे और दूसरी शर्त है पढ़ना शुरू करे। बिना पढ़े, बिना जाने आपकी बात में घनत्व नहीं आ सकता, गहराई नहीं आ सकती।' अब वो कहता है कि 'तुम कहोगे कि किस चीज़ के बारे में लिखूँ, तो मैं कहूँगा कि जीवन के बारे में लिखिये। जैसा तुमने उसे देखा, सुना, समझा वैसा ही लिखिये। अगर सच्चा लिखोगे तो भाषा और कहन तलाश लोगे, नहीं तो बाकी सब टोटका ही टोटका है। उसमें जीवन नहीं होगा।' यही बात प्रकारान्तर से अंग्रेज़ी के एक समीक्षक राल्फ फॉक्स ने भी कही है। वो भी यही बात कहते हैं कि आप जीवन से अलग होकर या अपने दौर की जो चिन्ताएँ हैं, उनसे अलग होकर अगर कुछ लिखते हैं तो वो लेखन कोई मायने नहीं रखता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए ही सार्थकता उसको मिल सकती है। कार्तिक जानता है कि अगर सार्थकता उसको मिल सकती है तो वो जनता के कामों में, इस तरह के कामों

में जुड़ने के बाद ही मिल सकती है और वो इसी रास्ते को पकड़ता है।

उस कार्तिक की जो सकर्मक यात्रा है, वो यात्रा भोपाल गैस त्रासदी से शुरू होती है और जनविज्ञान आन्दोलन से निकलते हुए वो साक्षरता आन्दोलन तक जाती है। मुझे बहुत अपील यह बात इसलिए कर रही है कि मुझे लगता है कि जिस बात को उन्होंने कहा था कि जीवन को सोचना-समझना और उससे नज़दीकी रिश्ते कायम करना। यह बात इसलिए ज़्यादा बढ़िया बन पायी कि सन्तोष चौबे का भी इन तीनों ही आन्दोलनों से, तीनों ही परिघटनाओं से बहुत ही गहरा, बहुत ही आन्तरिक सम्बन्ध रहा है। और यही वजह है, उनके जो वर्णन हैं, वो बिल्कुल जीवन्त वर्णन हैं और उनके जो परिणाम सामने आये हैं, वो परिणाम भी उनके अनुभव से निकले हुए परिणाम हैं। मैं उनका साक्षी इसलिए हूँ कि मैं उस आन्दोलन से जुड़ा हुआ रहा हूँ और जो हश्र मध्यप्रदेश में हुआ है तकरीबन वैसा ही राजस्थान में भी हुआ है।

एक आश्चर्यजनक बात यह है कि ये तीनों के तीनों जो आन्दोलन हैं या तीनों के तीनों के जो आयोजन हैं, इन आयोजनों में जिस तरीके से युवा वर्ग इनकी तरफ आकर्षित होता है और आकर्षित होकर सहभागिता पूरी-पूरी जोश और पूरी ऊर्जा के साथ, जितनी अच्छी अपनी सहभागिता उसमें प्रदर्शित करता है, अफसोस की बात है कि वामपार्टियाँ, वामदल जो हैं, वो उसको उतने महत्त्व से नहीं समझ पाते। कार्तिक का बार-बार ये कहना कि भई! इन आन्दोलनों से आप सक्रिय होकर जुड़िये, क्योंकि ये एक ऐसा पैटर्न है, जिसके आधार पर हम एक ऐसा बेस तैयार कर सकते हैं जो गाँव-गाँव में हम लोगों के लिए कार्यकर्ता के रूप में काम कर सके। एम.पी. परमेश्वरन्, जो भारत ज्ञान-विज्ञान समिति के अध्यक्ष थे, जिनको सन्तोष ने 'डॉ. नारायणन्' के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया है, वो परमेश्वरन् बार-बार ये कहा करते थे कि 'ये हमारे लिए एक बहुत अच्छा मौका है कि हम इन आन्दोलनों के माध्यम से गाँव-गाँव तक जाकर अपने लोग, अपने कार्यकर्ता तैयार कर सकते हैं और ये साक्षरता का काम तो पूरा होगा ही या जितना भी हो सके, हो; लेकिन एक हमारा ऐसा नेटवर्क बन जाये जो आगे चलकर हमारे और दूसरे जो कार्यक्रम हैं, उन कार्यक्रमों में ज़्यादा सक्रियता के साथ भाग ले सके।' लेकिन अफसोस है कि वामपार्टियाँ इस तरह की बात सोच नहीं पायीं। उनसे जब बार-बार ये बात कही जाती है कि इनके महत्त्व को समझा जाये तो वो बहुत छोटी और बहुत थोथी दलीलें देते हैं। जैसे ये कहते हैं कि 'भई! ये तो रिफॉर्म है, इससे क्रान्ति नहीं हो सकती।' आश्चर्य की बात है कि हम ये देखते हैं कि जनचेतना को जागृत करने वाला जनविज्ञान आन्दोलन या लोगों को साक्षर करने वाला साक्षरता आन्दोलन तो हमारी बात को, मतलब वामपंथ की बात को आगे बढ़ाने वाले आन्दोलन हैं, इस बात को क्यों नहीं समझा जाता! ये हो सकता था कि दूसरी पार्टियाँ, जो प्रतिगामी पार्टियाँ हैं या जो मध्यवर्गीय पार्टियाँ हैं, वो ये सोचें कि इससे हमारा क्या लेना-देना है। वहाँ तक तो ठीक है, क्योंकि उन लोगों के लिए तो अंधविश्वास और परम्पराएँ और इस

तरह की चीज़ें फैलाने में ही या रामसेतु के बारे में इतिहास को एक तरफ रखकर और मिथकों पर ही लोगों को भ्रमित करते रहने में ही सार्थकता है, क्योंकि इससे ही उनका वोट-बैंक बना रह सकता है। लेकिन हमारे लिए तो ये बहुत ज़्यादा ज़रूरी था और उसे वो नहीं स्वीकार कर पाते और ये कहते हैं कि भई! जो चीज़ें हैं, ये शहर के लिए हैं। हमारा काम तो किसान और मजदूर से है। किसान और मजदूर का इनसे कोई रिश्ता नहीं है। ये बातें करना उन्हें बहुत अच्छा नहीं लगा।

एक बात जो अभी अरुणेश ने भी कही कि वामपंथी पार्टियों का चरित्र भी धीरे-धीरे वैसा ही बनता जा रहा है जैसा और दूसरी पार्टियों का बनता जा रहा है। वहाँ पर भी केन्द्रीय नेतृत्व ऐसा नेतृत्व होता है जो आम कार्यकर्ता की बात को सुनने की बजाय केवल प्रान्तों में या राज्यों के जो प्रतिनिधि हैं या राज्यों का जो नेतृत्व वर्ग है, उस नेतृत्व वर्ग की बात को सुनता है। वो यह पता लगाने की कोशिश ही नहीं करता कि ये लोग बायस भी हो सकते हैं। और एक सबसे बड़ी बात ये भी आती है कि ये वामपंथी पार्टियाँ जो हैं, ये बाहर से तो दुश्मन के खिलाफ लड़ती हैं लेकिन अन्दर वो अपने वर्चस्व को बनाये रखने के लिए, जो जहाँ पर पहुँच गया, उस जगह को बनाये रखने और ऊपर जाने के लिए, उसी तरह के कामों में लगा रहता है। ये जो एक तरीका है, यह मैं मानता हूँ कि दूसरी पार्टियों का तरीका है और उन दूसरी पार्टियों का तरीका यहाँ भी आता जा रहा है।

ये सारा कुछ होने से हुआ यह है कि आखिर में चलकर कामरेड मोहन और कार्तिक, दोनों ही अपने-अपने तरीके से हताशा के वाहक होते हैं और आप देखेंगे कि उस हताशा का जो परिणाम आता है, वो दोनों में अलग-अलग तरीके से आता है। कार्तिक दुबारा से ऊर्जा प्राप्त करके अपने आपको फिर से ओजस्वी महसूस करता है और फिर काम करने, दूसरे तरीके से काम करने के लिए तत्पर होता है। लेकिन दूसरी तरफ कामरेड मोहन जो है, हालाँकि वो अपनी लड़ाई में जीतता है, लेकिन उसके बावजूद उसे कहीं न कहीं ये लगता है कि उसने जो कुछ किया है वो गलत किया है और वो गलत करने का ही अपराधबोध उससे आत्महत्या करवाता है। ऐसा करके संतोष ने कॉमरेड मोहन में इससे जुड़ी हुई रही और उसने उसमें भावात्मकता को कहीं न कहीं जगाये रखा है। नहीं तो, आज तो अमरमणि जैसे लोग हैं जो सब काम करके भी जी रहे हैं और आगे बढ़ रहे हैं। उनको कहीं शर्म और कहीं पश्चात्ताप दिखाई नहीं दे रहा है।

इसके साथ मैं आखिरी दो बातें और कहना चाहूँगा, बस। एक बात जो अरुणेश ने कही, मुझे भी यह लगा कि इस उपन्यास में जहाँ तक स्त्री पात्रों का सवाल है, सन्तोष चौबे का लेखन ज़्यादा पुरुषवादी लेखन है। मुझे यह लगा कि तीनों-चारों पात्र हैं, स्त्री पात्र हैं, वो चारों स्त्री पात्र, वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए दिखाई देते हैं। आप ये देखें कि उमा और नताशा दोनों पढ़ी-लिखीं और एक ऐसे संगठन में काम कर रही हैं, जिस संगठन में बहुत बौद्धिकता की ज़रूरत

होती है। वो ऐसे काम करती हैं जैसे वो नौकरी बचा रही हों। उनका उस संगठन से या उन सिद्धान्तों से कहीं लगाव ही दिखाई नहीं देता और वो उनमें कहीं अगर लड़ाई है तो वो कार्तिक पर किसका वर्चस्व बैठता है, होता है इस बात की लड़ाई है या आपस की ईर्ष्या की लड़ाई है, बाकी कुछ नहीं है। इसी तरीके से रति की पृष्ठभूमि बहुत क्रान्तिकारी पृष्ठभूमि दिखायी गयी है, लेकिन रति का भी जो परिणाम है, वो कोई बहुत अच्छा दिखायी नहीं देता। और सबसे आखिर में जो नीति की बात है नीति में मुझे लगता है, बहुत सम्भावनाएँ हैं। विवाह से पहले और विवाह के तुरन्त बाद तक उसका जितना सा भी चरित्र हमारे सामने आता है, उससे यह लगता है कि यह लड़की या ये स्त्री अगर इसको कहीं सम्बल मिलता, कुछ प्रोत्साहन मिलता तो ये बहुत कुछ कर सकती थी। लेकिन वो भी कुछ नहीं कर पाती है और केवल एक समर्पित गृहिणी मात्र ही बनकर रह जाती है। सन्तोष ने ये न्याय क्यों नहीं किया, मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। शायद वो अपनी बात करते हुए बतायें।

एक बात और यह मैं कहना चाह रहा था कि ये विलियम्स और रति प्रसंग जो है, ये क्यों है? इसका मुझे सारे कथानक में कहीं कोई औचित्य नहीं दिखाई देता। न तो ये किसी पात्र के चरित्र को विकसित करता है या उद्घाटित करता है और न ही ये कथा को कहीं आगे बढ़ाने में मदद करता है। फिर ये क्यों है, ये भी सन्तोष जी ज़्यादा अच्छी तरह से बता सकेंगे। मेरे मन की शंकाएँ हैं, वो मैंने आपको बतायी हैं। और आखिरी बात ये है कि इस सबके बावजूद ये उपन्यास मुझे बहुत पठनीय और अच्छा लगा। धन्यवाद!

बलराम गुमास्ता

बहुत-बहुत धन्यवाद। यह हमारे आयोजन का पहला सत्र जो है, अब समाप्ति की तरफ है और ये बात बार-बार सामने आ रही है, जैसा कि अभी पण्डितजी ने भी कहा कि इस उपन्यास के महिला चरित्रों को लेकर बात होनी चाहिये। महिला सशक्तीकरण को लेकर बहुत बात होती है। स्त्री विमर्श के अगर कोई पुरोधा हैं, जिन्हें हम जानते हैं, जिनकी बहुत स्थायी और बहुत मजबूत भूमिका स्त्री विमर्श को लेकर रही है, तो राजेन्द्र यादव हमारे बीच उपस्थित हैं। तो यह पहला सत्र यहीं समाप्त करते हुये मैं बलराम गुमास्ता आपसे विदा लूँगा। ये जो हमारे तीन रचनाकारों ने बात कही, उस पर संक्षिप्त टिप्पणी के रूप में मनोहर वर्मा जी यहाँ बात रखें और रेखा जी को मैं यहाँ, आमंत्रित कर रहा हूँ कि आगे का संचालन वो जारी रखेंगी, तो बहुत-बहुत धन्यवाद।

मनोहर वर्मा

आप घबराना नहीं, पढ़ूँगा नहीं मैं। पढ़ने से कोई कॉम्बीनेशन नहीं बनता। आदरणीय कुँवरपाल सिंह जी और आदरणीय यादव साहब और नमिता सिंह जी, और मंच पर बैठे हुए सब मित्रो एवं आप सब लोग! ये कुछ रूल्स हमने तैयार

किये थे इसके लिए। लेकिन मुझको बिल्कुल उम्मीद नहीं थी कि कुँवरपाल साहब यहाँ पर तशरीफ़ लायेंगे। मैं खासतौर से उनकी उपस्थिति से और राजेन्द्र यादव साहब की उपस्थिति से बेहद खुशी महसूस कर रहा हूँ। बहुत आदरणीय लेखकों में रहे हैं, वैसे मेरी उम्र भी काफी हो गयी है, मैं पिचहत्तर पार कर चुका हूँ। लोग कहते हैं कि मैं दिखता नहीं हूँ वैसा। लेकिन मैं कुँवरपाल साहब को विश्वविद्यालय के ज़माने से पढ़ रहा हूँ। हालाँकि पहली बार मैं उनसे मिल रहा हूँ। और राजेन्द्र यादव साहब से भी दो-तीन मुलाकातें हुई होंगी, लेकिन उनके लेखन के जरिये उन्हें जानता हूँ। एक विचारों का जो सिलसिला बना रहता है, उससे आदमी बहुत बड़ी प्रेरणा ग्रहण करता है सम्पर्क से भी उतनी प्रेरणा नहीं होती।

इस उपन्यास के सन्दर्भ में पिछले दिनों यहाँ बहुत सारी बातें होती रही हैं और मैं इस उपन्यास की कुछ बातें, कि मुझको ये उपन्यास क्यों अच्छा लगा, ये दो-तीन-चार बातें आपके सामने रखूँगा। साथ ही वो केन्द्रीय बातें भी रखने की कोशिश करूँगा, जिनके कारण कहा जा रहा है कि ये उपन्यास बहुत विवादास्पद हो रहा है या इसके पहले कभी जो विमोचन हुआ था, उसमें ये कहा गया कि पहली-पहली बार एक ऐसी राजनीतिक पार्टी की बारीक-अन्दरूनी बातों को यहाँ पर सामने लाया गया और बड़ी बोल्डनेस के साथ सामने लाया गया, जो कि पहले शायद कभी नहीं हुआ। हिन्दी में तो नहीं हुआ और कहीं कुछ हुआ हो तो मुझे उसकी जानकारी नहीं है। मतलब यूँ कि अगर है तो बहुत ज़्यादा हमने पढ़ा नहीं है। ये ज़रूर मालूम है कि दूसरी जगह, फ्रांस में या कोरिया में या और दूसरे देशों में जहाँ पर ये साम्यवादी विचारधारा रही है, इससे बढ़कर बहुत ज़्यादा आलोचनाएँ होती रही हैं। मुझको इस बात से ताज्जुब हुआ कि इस ज़रा से खुलेपन को,-इसको बहुत बोल्ड कहा जा रहा है, बहुत बड़ी बात कही जा रही है।

मुझको लगता है कि इसमें इस तरह की कोई बोल्डनेस या बड़ी बात की गुंजाइश कहीं पर नहीं है। जो बात है, अभी तक ये बात कही नहीं गयी थी। ये बात नये ढँग से संतोष सामने लाये हैं बस इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। जितनी सारी आपकी राजनैतिक संस्थाएँ हैं इस तरह की कहिये, पार्टीज़ होती हैं सबमें कहिए, भीतर-भीतर कई विचार-विमर्श होते ही हैं। सब ये जानते हैं कि विचार कहीं कोई बुरा नहीं होता। मैं तो ये कहता हूँ पार्टी भी बुरी नहीं होती। उसमें जो होने वाले आदमी हैं, जो उसका क्रियान्वयन करते हैं, वो अच्छे-भले हो सकते हैं। आदमी अच्छा भी होता है, बुरा भी होता है। एक प्रॉब्लम जो सबसे बड़ा होता है, ईगो का प्रॉब्लम है और जहाँ आप दूसरे व्यक्ति से जुड़ते हैं तो उससे कैसे आप अपना सम्बन्ध बनायें, किस तरह बना पायेंगे, इसके आधार पर फिर बहुत सारी चीज़ें सामने आने लगती हैं, जिसका कि उल्लेख इस उपन्यास में भी हुआ है।

तो मुझको लगा कि इतनी बड़ी एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की यह पार्टी है। बहुत-बहुत जगहों में बहुत कुछ उसने किया है और बहुत बड़ी एक पृष्ठभूमि का

एक दर्शन है उसके पास में। उसके बारे में अगर ये सोचा जाये कि कहीं, अगर ये कह दिया गया या लिख दिया गया तो लोगों पर प्रभाव क्या पड़ेगा ये बात मुझको बड़ी हास्यास्पद लगी। कोई बच्चों जैसा मामला नहीं है कि आप कुछ कह देंगे, वो होने लग जायेगा। आखिर आप पार्टी को, सिर्फ अपने भोपाल की पार्टी या अपने प्रदेश की पार्टी के रूप में देखें या पार्टी को उसके वृहद् रूप में, जिसमें वस्तुत: वह है, जिसमें आपका सम्बन्ध न सिर्फ अपने देश से बल्कि देश के बाहर के बहुत सारे नेशन्स से भी है, बहुत सारे लोगों से विराट सन्दर्भ में है, जो बड़े सन्दर्भ में ये बात सोचते हैं। मुझको लगता है कि अगर उस तरह से सोचा जाये तो ये बहुत छोटी-सी बात थी।

बात जो थी, वो ये कि ये राजनीतिपरक उपन्यास है। पहली-पहली बार लिखा गया। यूँ यशपाल ने लिखा था 'दादा कामरेड' और वैसे आप कहें उल्लेख कोई नहीं करता लेकिन जैनेन्द्र ने भी लिखे हैं। जैनेन्द्र के बहुत-से पात्र क्रान्तिकारी हैं और उसके आगे अमृतलाल नागर ने भी लिखे हैं। अगर देखने आप जायेंगे तो रिजल्ट कोई स्कॉलर बहुत सारे निकाल देगा। अभी तक हमारे एक मित्र ने उल्लेख किया कुछ कहानियों का, अखिलेश की कहानियों का और सृंजय के 'कामरेड का कोट' का और इस तरह से दो-तीन-चार कहानियों का अभी-अभी उल्लेख भी किया गया तो ये राजनीतिक चेतना कहानियों की रही है, लेकिन ये मानना होगा कि हमारे यहाँ हिन्दी उपन्यास में ये बड़ी विरल चीज़ है और शायद यह पहली बार लिखी जा रही है।

मुझको ये उपन्यास क्यों अच्छा लगा, इसकी पहली विशेषता मैं आपके सामने रख रहा हूँ और वह है व्यक्ति एवं समूह का रिश्ता, वो कैसा और किस रूप में बनना चाहिए इसकी बातचीत उसमें है। और खासतौर पर कि व्यक्ति के रूप में समूह के साथ जब आप काम करने लगते हैं आपके मन की जो धारणाएँ हैं, उन धारणाओं का आप एक-दूसरे से आदान-प्रदान करते हैं। उन धारणाओं में कहीं मतभेद भी होते हैं। इस मतभेद को आप कैसे, किस रूप में रखें, वो आप लेकर आये हैं। आप करते क्या हैं? कि विचार के साथ में लड़ रहे हैं, आप व्यक्ति के साथ में नहीं लड़ रहे हैं। लेकिन होता क्या है? व्यक्ति-व्यक्ति लड़ना शुरू कर देता है। विचार से तो कोई लड़ाई है नहीं। जो विचार आपने धारण किया है, हो सकता है कि उसकी व्याख्या में आपकी थोड़ा-बहुत फर्क हो रहा हो; लेकिन विचार से आपकी लड़ाई नहीं है, आपकी लड़ाई व्यक्ति से हो जाती है और अन्तत: उसका एक रूप होता है जिसको कि कथा में एक रूपक में बताया गया है एक तरफ कामरेड मोहन है और एक तरफ हमारा कथा नायक कार्तिक। एक बात तो ये हुई।

और दूसरी बात ये है कि ये उपन्यास अपने संरचनात्मक रूप में मुझको लगा कि बहुत नया-सा है। वो जिस तरह का उपन्यास लिखने का एक रूढ़ चलन हमें दिखाई देता है, वो इसमें नहीं है। कथा को कैसे आप बाँधे, कथा को आप कैसे कहें और जो उसका एक अनफोल्डमेंट है, वह बहुत साइक्लॉजिकल किस्म का है, बहुत

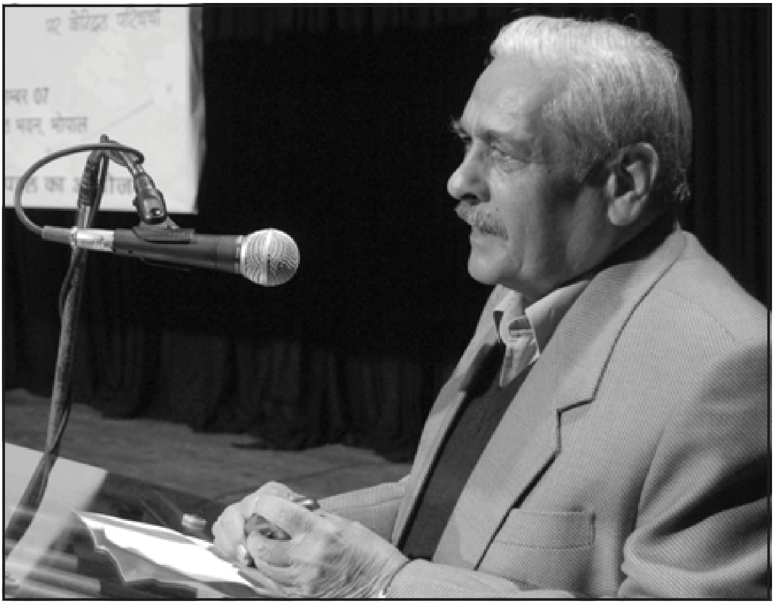

क्या पता कॉमरेड मोहन पर वक्तव्य रखते हुए मनोहर वर्मा

मनोवैज्ञानिक है। बहुत बारीकी के साथ आप एक घटना से दु:खी होते हैं, एक घटना का आघात आपके मन में लगता है गैस त्रासदी। उसमें आप काम करना शुरू करते हैं और देखते हैं कि उसका रास्ता क्या हो सकता है। वो रास्ता आपको साक्षरता में या जनविज्ञान में आपको मिलता है और आप आगे बढ़ते हैं, और आपको थोड़ी-बहुत सफलता भी मिलती है। लोग आपके साथ हैं, इकट्ठे हो जाते हैं और यहाँ फिर से वो ही द्वंद्व शुरू हो जाता है जो कि स्वाभाविक है होगा।

तो मैं आपसे जो कह रहा था, वो ये कि जो नयी ज़मीन तोड़ने वाली बात की है वह है इसकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि। मुझको ये बहुत अच्छा लगा कि कार्तिक का डेवलपमेन्ट जिस तरह से होता है, वह किसी राजनैतिक चेतना से सम्पन्न व्यक्ति के रूप में आता है या जिस रूप में विकसित होता है उसका बहुत अच्छा, लगभग एक ग्राफिक किस्म का वर्णन वहाँ पर है। दूसरी बात ये है कि कार्तिक जो है, बहुत सारी चीज़ों को पीछे छोड़कर आया है, यह हमें बताया जाता है, वह बहुत ही प्रखर बौद्धिक और दृढ़ है और वो प्रशासनिक परीक्षा में आ चुका है, और हो सकता है कि वो बहुत अच्छा अफसर बनता, उसके सामने ज़िन्दगी के बहुत अच्छे मौके थे; लेकिन इन सबको खत्म करते हुए वह तय करता है कि वो वामपंथी राजनीति में आयेगा और इस प्रकार से ये काम करेगा। उसका कैरियर दूसरा रास्ता ले लेता है। उसके लिए वो कभी दु:खी नहीं है। उपन्यास का अन्त भी आशापरक ही है। उपन्यास के अन्त में किसी प्रकार की निराशा नहीं है बावजूद इसके कि उसका अन्त होता है,

जैसा कि किसी ने कहा भी है 'मक़बरे से दूसरे मक़बरे तक'। मक़बरे से तो वह नहीं चलता लेकिन मक़बरे तक पहुँचता ज़रूर है। तो दूसरी बात ये है कि नयी ज़मीन को तोड़ने की बात उपन्यास का स्ट्रेक्चर आप देखेंगे, सात चेप्टर्स में बँटा हुआ है। जैसे एक-एक कैरेक्टर को सामने लाकर उसका आत्मालाप जैसा चल रहा है।

दरअसल, ये पूरी की पूरी कहानी सिर्फ कार्तिक पर फोकस्ड है और इसलिए बार-बार जो बात कही जा रही है कि इसमें स्त्रियों का खासतौर से चरित्र चित्रण कुछ ठीक से नहीं हो पाया। मुझको भी लगता है कि शायद नहीं हो पाया है, क्योंकि उनका पूरा का पूरा ध्यान सिर्फ कार्तिक पर है। और लोगों की आपत्ति मतलब जो हमारे दोस्त हैं, उनका कहना ये भी है कि इसमें कार्तिक पर फोकस इतना ज़्यादा करते हैं कि आपको पूरा का पूरा एक ही आदमी दिखायी देता है। उसका कोई ग्रे शेड भी आपके पास नहीं है। एक मॉडल आप बिल्कुल सामने रख रहे हैं। फिर जो दूसरे लोग हैं, जैसे उसमें एक चरित्र है 'रामनारायण'। ऐसा लगता है कि शायद रामनारायण को और भी अधिक प्रखर तेजस्वी रूप में रखा जा सकता था, और वो एक तरह से प्रतिद्वंद्विता या प्रतिद्वंद्विता न कहें वो द्वंद्व उपस्थित करता है। विचारों का वह द्वंद्व, चूँकि विचारों का वह द्वंद्व उतने कसे हुए रूप में नहीं है सिर्फ इंर्फोमेशन में आप देते हैं। इंर्फोमेशन में जब आप ये कहते हैं कि-'ये लोग तो गुट बना रहे थे और झूठी बातें करके उन्होंने ये कर दिया।' तो ये बड़ा कन्विंसिंग-सा नहीं लगता। आदमी के मन में उतरने और उसको चित्रित करके पूरे संघर्ष को, द्वंद्व को जीवित करने वाली बात, उपन्यास में ज़रा कम है।

और स्त्री पात्रों के बारे में भी ये बात जो है, बहुत सही है। मुझको भी ऐसा ही लगा। तो उसका मैंने कारण ये समझा कि उपन्यास सीधे-सीधे एक फोकस की तरफ चलता है और नयी जो उपन्यास के लिखने की जो शैली हुई है, वो आपकी परम्परागत शैलियों की परवाह नहीं करती। ये काँट-छाँट में कि-साहब! इतना में अनुपात इतना चाहिए, इतने में इतना अनुपात चाहिए। हो सकता है एकांगी, एक व्यक्ति पर पूरा उपन्यास चला जाये। ऐसे उपन्यास बाहर बहुत लिखे गये हैं। लिखने की शैली भी जो है, उसमें भी नये ढँग के प्रयोग हैं। एक तरह से अपने भीतर से निकलकर दूसरे एक स्वप्नवाद जैसी स्थितियाँ या सिनेमैटिक किस्म के इफेक्ट जैसी शैली वो है तो उसके रूप को देखकर लगा कि एक नये किस्म का उपन्यास है।

तीसरी बात जो है, वो आत्मालोचन की बात है। और इसके विषय में मैंने पहले ही आपको कहा कि यह बात बहुत शीशे की तरह साफ है। जनाधार धीरे-धीरे ये पार्टी इस देश में खोती गयी है। अब इसको कोई छिपाकर रखने के बात तो है ही नहीं। हमारे यहाँ देखिये, खासतौर पर हिन्दी प्रदेश में हमारे यहाँ देखिये, कितने साल हो गये! विधानसभा में हमारी पार्टी का जो एम.एल.ए. है, वो एक एम.एल.ए. पहुँचा, वो दो भी नहीं हो पाये। शायद कभी हुए हों। धोखे से हो गये हों, तो हो गये हों। ये स्थिति जो है, तो ये कोई चौंकाने की बात है क्या? क्या कोई शर्मिन्दा

होने की बात है? बात वो है कि ये क्यों हुआ? इसके कारण को जब वो तलाश कर रहे हैं, तो ये बताते हैं रामनारायण के शब्दों में, कि लोग जो करते हैं वह दूसरे की आलोचना करने लगते हैं आत्मालोचन नहीं करते। किस वजह से हो रहा है, हमारी किन कमजोरियों की वजह से हो रहा है, इसको सामने नहीं रखते। अगर किसी उपन्यास में यही बात कही जा रही है तो ये कोई बहुत ज़्यादा उस तरह की बात नहीं है जिसके लिए ये कहा जाये कि- 'नहीं, साहब! बहुत-से लोग तो मुँह छिपाते घूमते हैं।' अब मुँह छिपाकर घूमने की इसमें क्या बात है? ये तो बहुत शीशे की तरह साफ चीज़ है। इस तरह है, ऐसा होता है और ऐसा और भी जगह किया जा रहा है। उसकी कोशिशें की जा रही हैं। तो ये उपन्यास इस आत्मालोचन की ज़रूरत, बल्कि अनिवार्यता को रेखांकित करता है। इस दृष्टि से भी यह उपन्यास महत्त्वपूर्ण है और उपन्यास में ये भी देखा गया है कि किस तरह आत्मालोचन की जगह आलोचना ले लेती है।

और इसकी बहुत अच्छी बहुत बड़ी विशेषता जो मुझको ये लगी कि जब अक्सर आप राजनीतिक उपन्यासों को उठाते हैं या राजनैतिक चेतना के अंश भी, राजनैतिक सन्दर्भ के प्रसंग भी जब वहाँ पर आ जाते हैं तो अक्सर बहुत रूखापन और बड़ा नीरस जैसा बनने लगता है। इस उपन्यास में यह बात नहीं है। मैंने जिस-जिस से भी पूछा खासतौर से चूँकि जब इतनी सारी चर्चा यहाँ हम लोगों में हो रही थी, तो जो भी पढ़ लेता था, मैं उससे पूछता था, तो एक बात की तारीफ सबने की वो है इसकी रीडेबिलटी। आप भी पढ़ेंगे, तो आप इसमें देखेंगे कि ऐसा नहीं है कि आप इसको बीच में छोड़ें। आप लगातार इसको पढ़ते चले जायेंगे। तो उपन्यास की जो शर्तें होती हैं, उसमें सबसे पहली शर्त तो आपको बाँध के रखता है कि नहीं? इसमें वो परफेक्ट रीडेबिलटी, पठनीयता है, रोचकता है। और राजनीति चेतना के लिखे गये केन्द्रित उपन्यास में, जिस तरह की सपाट बयानी आ जाती है, वो भी वहाँ पर नहीं है। वो कलाविहीनता वहाँ पर नहीं है। ये बहुत ही अच्छी, मुझको लगा कि, यह बड़ी बात है। आप ख्याल कीजियेगा! यशपाल के भी अंश हैं, खासतौर पर अमृतलाल नागर के जो अंश हैं जहाँ वो राजनीति पर बहस करने लगते हैं, बातचीत करते हैं वे आप देखिये! तो जैनेन्द्र के यहाँ, जहाँ पर वो राजनीति पर बात करने लगते हैं वहाँ बेहद ऊबाऊ होते हैं। लगता है कि एक डिबेटिंग क्लब का सीन आपने रख दिया अभी तक अच्छी कहानी चल रही थी, आपने उसका सत्यानाश कर दिया। ये इतनी जबरदस्त चीज़ है। बीच-बीच में ये अंश इस नोविल में भी हैं मैं ऐसा नहीं कहूँगा आपसे बीच के कुछ अंश जो हैं, इस तरह के हो जाते हैं। लेकिन फिर भी पूरा रूप जो है, ये बहुत अच्छा और सुंदर है।

और आन्दोलन से जुड़े हुए पार्टी के विभिन्न कार्यकर्त्ताओं को निकट से देखना, उनके मनोविज्ञान को समझने की कोशिश करना ये जो बात है, हालाँकि मैं तो सोचता हूँ कि इसमें और भी कुछ ज़्यादा हो सकता था और भी कुछ होता। ऐसा है कि कार्तिक

जो है अपने विचारों में तो बड़ा दृढ़ है, लेकिन वो अपने विचारों के साथ दूसरों को शामिल करने में उतनी तत्परता दिखा नहीं रहा है। वो जो करता है, वो कोई डिबेटिंग टाइप का भले हो जाये, लेकिन जिस आत्मीय ढँग से हमें दूसरों को बदलने की कोशिश करना चाहिए, वो नहीं होता। वो जिस बात को लेकर चल रहा है सिद्धान्त में और व्यवहार में अन्तर है। सिद्धान्त और व्यवहार दो डायलेटिक्स बनाते हैं और सिद्धान्त भी कोई ऐसी जड़ीभूत चीज़ नहीं है। सिद्धान्त भी बदलता चलता है, व्यवहार आपका सिद्धान्त के अनुरूप बदलता है। आप जिस काम को करते हैं, आप जब कोई काम करना शुरू करते हैं तब आप जानते हैं कि वास्तव में इसमें है क्या और हम जो सोच रहे थे, उसमें इसको जोड़ने की ज़रूरत है, तो इस तरह से सिद्धान्त भी व्यवहार से संशोधित होता है।

एक बात जो शुरू का बना हुआ ड्राफ्ट है, वो तो है। आप उसकी रोशनी में चलते हैं। लेकिन ज्यों-ज्यों व्यवहार होता है उसके साथ-साथ कार्तिक इस बात को समझ रहा है; लेकिन कार्तिक अपने उन सारे मित्रों को ये बात ठीक-ठीक समझा नहीं पाता है। यहाँ तक कि लगने लगता है कि दूसरे तो अलग हैं। बहुत सारे लोग हैं, सरफराज़ हैं, लक्ष्मण सिंह हैं, नताशा, विजय सक्सेना ये सारे लोग जो जुड़े और फिर वो अलग-अलग रास्तों पर चले गये। सिर्फ ये ही था कि जैसे पार्टी का आन्दोलन तोड़ने वाला काम होना था और उसके बाद तो वो उल्टी दिशा में भाग खड़े हुए। सारी क्रान्तिकारिता जो उनकी थी, वो हवा हो गयी। इतना सारा जीवन व्यर्थ किया। तो मैं आपसे यह कह रहा था कि ये जो सिद्धान्त और व्यवहार की बात है ये भी मुझको लगता है, लेकिन फिर मैंने अपने आपसे एक सवाल किया कि आखिर आप कितनी सारी बातों की उम्मीद एक उपन्यास से कर सकते हैं? पठनीयता में जब उपन्यास अच्छा लगता है तो ये भी लगने लगता है कि इसमें ये भी होता, ये भी होता। आप कितनी सारी अपेक्षाएँ उससे कर सकते हैं, ये बात भी ध्यान देने की है।

उपन्यास के बारे में जो लोगों ने लिखा, उसके बहुत सारे बल्कि उनके कैप्शन जिस तरीके से दिये हैं कि ये विमर्शों का उपन्यास है। यहाँ पर कहा भी गया है। अभी ये बात कही गयी है, ये आत्म अर्जित अनुभवों का उपन्यास है और ये सच की तलाश का उपन्यास है और ये कामरेड के मोहभंग की कथा है और ये भी कि ये विचारधारा का जनतंत्र भी है। दरअसल, निकटतम जो बात हो सकती है, वो ये है कि सामाजिक बदलाव के लिए वैकल्पिक रास्तों की तलाश का उपन्यास है। ये बात भी किसी जगह कही गयी। ये सारी बातें अभी आपके सामने आयीं। एक बात कहकर मैं अपनी बात समाप्त करूँगा और वो जो बहुत अच्छी बात कही थी नमिता जी ने। इस उपन्यास को आपको समझने के लिए ठीक-ठीक ज़रूरत होती है 'राग केदार' को पढ़ने की। दरअसल, कार्तिक का कॉन्शियन्स है केदार और वो जब-जब संकट में होता है, वो शेडो उसकी सामने आ जाती है। वो उससे बातचीत करता है। वो दरअसल अपने से ही बातचीत करता है। वो अपने कॉन्शियन्स से बातचीत

करता है। फिर उसको दृष्टि मिलना शुरू हो जाती है। और दूसरी उन्होंने जो बात कही थी, वो बात थी इस बात से सम्बन्धित कि आप उसकी यांत्रिकता को पहचानें। जीवन में जो यांत्रिकता चली आ रही है वह उस दृश्य में दिखती है जो उपन्यास का अन्तिम दृश्य है, जो नमिता जी ने बताया। बहुत सुन्दर और बहुत अच्छा दृश्य है और दो-तीन तरह के अर्थ भी देता है और इसलिये शायद बहुत अच्छा लगता है। उसमें वो विलाप भी कर रही है, कुछ हो रहा है, एकदम कोई आता है और एकदम उसका हाथ उठा देता है, एकदम लाल सलाम वगैरह होने लगता है उसमें। और उसमें जो बात है, यहाँ पर देखना तो ये चाहिए था कि आप उसे सांत्वना देते हैं यहाँ पर भी यांत्रिकता और वो दिमाग़ में जो भरा हुआ है, वो है।

इसको आप दोनों तरीकों से देख सकते हैं। जैसे कामरेड मोहन की आत्महत्या है, उसको भी आप दूसरे तरीके से देख सकते हैं। आखिर में ये दो तरफ जाता हुआ है। इसकी व्याख्या शायद दो-तरफ जायेगी। आप किस रूप में, किस तरह, कैसे आप पढ़ रहे हैं? आपकी मानसिकता क्या है? इससे भी शायद कुछ हो सकता है। ज़्यादातर तो सीधा-सीधा ये है, वो अन्त में ये हो जाता है कि-भई! अब कुछ लेने-देने की ज़रूरत नहीं है। कार्तिक को कोई स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिए अन्त में कार्तिक को मोहन जीवनमुक्त होकर ये कहते नज़र आते हैं-'अब कोई ज़रूरत नहीं है। कामरेड कार्तिक, मेरे पास भी अपनी फाइल्स है। यानी पहले स्पष्टीकरण माँगा गया था! अब स्पष्टीकरण देने की कोई ज़रूरत नहीं है। मेरे पास भी अपनी फाइल है और इस फाइल में क्या है? इस फाइल में वही है जो तुम्हारी फाइल में है।' ये बात बड़ी इम्पोंर्टेन्ट है। माँ, प्रेम, संगीत, साहित्य, बचपन और दोस्त ये बात जो है, ये बहुत महत्त्वपूर्ण है। घूम-फिरकर कामरेड मोहन भी वहीं पहुँच जाते हैं।

आत्महत्या के पीछे दो बातें हो सकती हैं। और सिर्फ यह कहना कि कामरेड मोहन केवल राजनीतिक संघर्षों से विचलित होकर आत्महत्या कर रहा है इतना सीधा और इकहरा भी उसको नहीं समझना चाहिए। उसकी घरेलू दिक्कतें भी हो सकती हैं, उसकी सामाजिक परेशानियाँ भी हो सकती हैं, और बहुत सारी परेशानियाँ जब मिलती हैं तो आदमी इस तरह का कुछ करता है। लेकिन अगर वो ऐसा कर रहा है तो इस दृष्टि से वो अपने सारे दोस्तों का कलंक भी अपने ऊपर लेकर पार्टी को तो कलंक विमुक्त कर रहा है। एक दृष्टि से आप देखें तो कार्तिक के विरुद्ध खड़ा हुआ दिखायी देता है। एक दृष्टि से आप देखें तो ये कार्तिक का सप्लीमेन्ट है, जो कार्तिक सोच रहा था। तो इसका एक पॉजीटिव इफेक्ट भी होता है। हर चीज़ का एक निगेटिव इफेक्ट भी होता है। एक पॉजीटिव इफेक्ट में विज्ञान का अपना रोल है, अपनी भूमिका है और विज्ञान का ही एक निगेटिव रोल ये भी है। लेकिन इस निगेटिव रोल को, इस भूमिका के पीछे कौन-से षड़यंत्र हैं, ये भी समझने की ज़रूरत है। तो इसलिए जो पूरे उपन्यास का जुज है, वो ये है कि विज्ञान को वैज्ञानिक दृष्टि

को आपको जगह-जगह पहुँचाना है और जब तक ये नहीं होता तब तक ये सारी बात कि एक दिन क्रान्ति हो जायेगी बेकार है। अकस्मात् क्रान्ति नहीं होती। क्रान्ति की भूमिका आपको घर-घर और व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचकर तैयार करनी पड़ती है।

रेखा कस्तवार

धन्यवाद, मनोहर वर्मा जी। इस खचाखच भरे हॉल में एक साहित्यिक आयोजन का होना बहुत विरल बात होती है। आप सभी का बहुत-बहुत फिर स्वागत और मंच पर इतने विद्वत्तजनों का विशेष स्वागत। मनोहर वर्मा जी की बातों से एक बात जो निकलकर आयी, इस किताब की जो सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है, वह उसकी पठनीयता है और इस पठनीयता के प्रमाणस्वरूप हम इसके द्वितीय संस्करण के विमोचन के लिए यहाँ पर तैयार हैं। ये किताब, जिसके बारे में लगातार बातें हो रही हैं, शुरूआती वक्तव्य में संजय मेहता जी ने जो बात कही और अभी इस सत्र के अन्तिम वक्तव्य में मनोहर वर्मा जी ने जो बात कही कि हम तलाश क्या रहे हैं। डार्विन का उदाहरण देते हुए जिस तरह संजय मेहता ने किताब के इन हिस्सों से बताया था कि दिमाग़ का वो हिस्सा लगातार कुन्द होता जा रहा है जो ख़ुशी देता है और दूसरी ओर कामरेड मोहन जब अन्तिम साँसें ले रहा है तो वो बता रहा है कि-'मेरी और तुम्हारी फाइल एक ही है।' तो ये जो चीज़ है कि एक ही बात है, जिसके लिए सारी जद्दोजहद है हमें ज़िन्दगी से चाहिए क्या है? ख़ुद की पड़ताल क्या है?

और मुझे लगता है कि इस आत्मकथात्मक उपन्यास में सबसे पहली बात ये है कि व्यक्ति रचनाकार की और रचनाकार के माध्यम से कार्तिक की अपने आप के साथ यात्रा है, खुद की पड़ताल है। सच की खोज या ज़िन्दगी की खोज या अन्तर्सम्बन्धों की खोज? किताब में क्या-क्या है? हमारे और विद्वान हैं यहाँ पर। राजेन्द्र यादव जी हैं जिन्हें हम सब सुनना चाहते हैं। प्रहलाद अग्रवाल जी हैं, साधना अग्रवाल जी हैं, कमलाप्रसाद जी हैं। लेकिन इसके पहले मैं बहुत सम्मान के साथ राजेन्द्र यादव जी से अनुरोध करूँगी कि उपन्यास के दूसरे संस्करण का लोकार्पण करने का कष्ट करें और सहयोग के लिए मैं अजयकुमार जी और पूर्णिमा दुबे जी को आमंत्रित करती हूँ कि वे विमोचन में सहयोग दें।

लोकार्पण : द्वितीय संस्करण

संतोष चौबे की इस किताब की दूसरी महत्वपूर्ण बात है कि उसमें सारा भोपाल बोलता है जैसे काशीनाथ जी का बनारस बोलता है, ज्ञानरंजन जी का इलाहाबाद बोलता है; उस तरह इस उपन्यास को इसलिए भी याद किया जायेगा कि गैस त्रासदी और उसके बाद की घटनाओं का बहुत सजीव चित्रण इसमें है। यहाँ के लोग जो बहुत जाने-पहचाने हैं, कुछ अलग तरह से इस उपन्यास में हैं। बहुत संकोच के साथ समर्पण में उन्होंने कहा भी है कि कथा में जो लोग हैं वो उतने ही अलग हैं, जितने

कथा में होने के कारण होते हैं। तो इन सबको देखने का भी एक नज़रिया इसमें है। यद्यपि मनोहर वर्मा जी ने इस बात को भी रेखांकित किया था कि हम भोपाल को ही क्यों देखें, भोपाल की राजनीति को ही क्यों देखें, एक वैश्विक परिदृश्य को लें। लेकिन मुझे लगता है कि भोपाल के बहाने उन्होंने जो विचारधारा है, जो एक बड़ा परिदृश्य है, उसे भी रखने की कोशिश की है और उसमें बहुत सफल भी हुए हैं। हम अपने घर का तिनका ही देखकर तो बाहर की बात करते हैं। और बहुत सारी बातें हम सबने कहीं, लेकिन वस्तुत: रचनाकार क्या कहता है?

वो रचनाकार, जिसका आत्मकथात्मक उपन्यास हैं, वो व्यक्ति साहित्य में जाता है, समाज सुधार में जाता है, विज्ञान में जाता है, विज्ञान लेखन में जाता है, साक्षरता के मिशन में जाता है, विज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने की कोशिश करता है और इन सबके बीच जो जद्दोजहद है, उसे अपने इस उपन्यास 'क्या पता कामरेड मोहन' में प्रस्तुत करता है। इसके पहले की जो ज़िन्दगी थी, जैसे कि आप जानते हैं, 'राग केदार' में थी और बहुत उम्मीद के साथ, जैसी कि उम्मीद जतायी थी, ०८ अप्रैल २००६ को सन्तोष चौबे जी ने कि इसका आगे का एक्सटेंशन भी कभी आयेगा। तो बहुत उम्मीद के साथ मैं आमंत्रित करती हूँ श्री सन्तोष चौबे जी को।

सन्तोष चौबे

आदरणीय राजेन्द्र यादव जी, आदरणीय कुँवरपाल सिंह जी और नमिता जी, आदरणीय मनोहर वर्मा, कमलाप्रसाद जी, मंच पर उपस्थित सभी मित्रो और सामने उपस्थित मेरे सभी अनन्य साथियों और मित्रो! मेरी हालत ऐसी है जैसे कि कोई परीक्षा हो रही हो, इम्तिहान में बैठा हूँ और पता नहीं क्या रिज़ल्ट आयेगा। वैसे मेरा काम इम्तिहान लेने का है और डिग्रियाँ साइन करने का है, लेकिन यहाँ पर डिग्री कोई और साइन कर रहा है, और परीक्षा कोई और ले रहा है।

इतने सारे समीक्षात्मक वक्तव्यों के बाद मुझे नहीं लगता कि मुझे इस पर ज़्यादा कहना है। वैसे भी आज मेरा काम सुनने का है, ज़्यादा बोलने का नहीं। मुझे याद पड़ता है कि मेरा पहला कहानी संग्रह राजेन्द्र यादव जी ने विमोचित किया था, जब 'वनमाली सम्मान' में वो आये थे। उसका फोटो आज बाहर मैंने लगाया है, इसीलिए कि कम से कम उन्हें याद दिला सकूँ कि आपसे मेरा सम्बन्ध बड़ा पुराना है और मेरी कहानियाँ, जिनका ज़िक्र अरुणेश ने किया और पण्डितजी कर रहे थे, उनमें से कई कहानियाँ 'हँस' में प्रकाशित हुईं-'बीच प्रेम में गाँधी', 'रामकुमार के जीवन का एक दिन' और ऐसी अन्य कहानियों को उन्होंने बड़े स्नेह से छापा और उनका पत्र बराबर आता है, पोस्टकार्ड आता है; और उसके आने से बड़ी खुशी मिलती है। तो मुझे बहुत ही अच्छा लग रहा है कि राजेन्द्र यादव आज यहाँ आये हैं। उन्होंने समय निकाला और इस कार्यक्रम में उपस्थित हुए।

असल में जिस तरह की एक भीतरी बातचीत उपन्यास में चाहिए थी, नमिता

जी ने और कुँवरपाल सिंह जी की समीक्षा ने बहुत हद तक उस ज़रूरत को पूरा किया है और बाकी बहुत से एंगल्स से उपन्यास पर रोशनी डाली गयी है। तो मुझे नहीं लगता कि मैं उसके बारे में कुछ ज़्यादा कहूँगा। मैं एक पाठक का पत्र आपको पढ़कर सुनाता हूँ, जो समीक्षा पुस्तिका में छपा भी है और वो समीक्षा नहीं है, एक पाठक का पत्र है :

प्रिय भाई,

पिछले दिनों एक लाइब्रेरी से आपका उपन्यास 'क्या पता कामरेड मोहन' लाया और ताज्जुब की बात इसे पढ़ भी पूरा गया। लगा कि ये बात आपको बताऊँ और आपकी लेखकीय प्रतिभा से दो-चार बातें करूँ। उपन्यास मुझे उन बिन्दुओं पर अच्छा लगा, जहाँ कि अपने कथ्य में यह उपन्यास के जड़ मूल्यों की परम्परा से अलग हटा है- मसलन विज्ञान और जीवन का सम्पर्क, सम्बन्ध, विमर्श, भोपाल का नागर इतिहास तथा गैस त्रासदी का ताण्डव। इनके शब्द चित्र मुझे अच्छे लगे। कार्तिक की तर्क लालायित पद्धति भी कथा को जहाँ-तहाँ लुभाती है तथा नाटकों या नाट्य स्थितियों में जहाँ-जहाँ कोलाज़ स्थापित किये गये हैं, वे भी पाठकीय आस्वाद को नयी ज़ुबान देते हैं। सचमुच हिन्दी में आज ऐसे उपन्यासों की दरकार है, जो समकालीन पाठक के लिए नये पाठ्य जुटा सकें। आपका यह उपन्यास इस ज़रूरत को काफी हद तक पूरा करता प्रतीत होता है।

मेरा पहला क्राइटेरिया अगर कुछ है उपन्यास में या लेखन में, और इसके लिए मैं अपने कुछ पहले के कथा गुरुओं को धन्यवाद देता हूँ, तो वह है पाठक को पहले अन्दर लाना। पाठक अन्दर आयेगा और साथ-साथ रहेगा तभी हम अपनी बात को सफल मान सकते हैं। यहाँ बहुत से ऐसे मित्र बैठे हैं, महेन्द्र गगन हैं और बलराम हैं और मेरे भाई प्रदीप हैं जिन्होंने ये कहा कि तुम्हारा 'राग केदार' हमने एक सिटिंग में पढ़ा और अभी दूसरा उपन्यास भी बहुत लोगों ने ऐसा कहा कि उसको छोड़ना मुश्किल गया। कहीं पर दिक्कत भी आती है। कुछ लोग जो उस विमर्श में शामिल नहीं हैं, शायद उन्हें दिक्कत आये। पर उसकी पठनीयता को लेकर जो कमेन्ट आया है, वो मेरे दिल से निकली बात है। और मैं पठनीयता पर सबसे ज़्यादा, सबसे पहले ज़ोर देता हूँ। गद्य चले और मतलब चल पड़े, नदी की तरह आपको बहा ले और अन्त तक ले जाये और उसमें इतना सौन्दर्य और इतनी ऊष्मा हो कि वो आपको भी साथ-साथ कैरी करे।

ये सबसे पहला क्राइटेरिया मुझे लगता है। इसलिए मेरा पहला उपन्यास जो है, वह लगभग १९९०-९१ में आया था और ये उसके करीब पन्द्रह साल बाद आया है। पहले उपन्यास के बारे में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात बताना चाहता हूँ कि सफ़दर हाशमी के मर्डर को उस उपन्यास ने एक तरह से प्रेडिक्ट कर दिया था। मतलब १९८९-९० की बात है ये, और मुझे याद पड़ता है कि जिस दिन उपन्यास की पहली

कॉमरेड मोहन की रचना प्रक्रिया को उद्‌घाटित करते हुए संतोष चौबे

स्क्रिप्ट मैंने समाप्त करके रखी, उसी दिन सफ़दर के मर्डर की सूचना अख़बारों में छपी। गाज़ियाबाद-मेरठ, लम्बे समय तक मैं वहाँ रहा और ट्रेड यूनियन आन्दोलन पर जो मैं वहाँ देखता था, उसके आधार पर वह उपन्यास लिखा गया था। नमिता जी ने बिल्कुल ठीक कहा था और सुरेश पण्डित ने भी कहा कि ये ट्रायलॉजी का एक तरह से दूसरा उपन्यास मुझे लगता है। जब पहले मैं लिख रहा था तो ऐसा नहीं लगता था, लेकिन लिखते-लिखते ऐसा बना कि ट्रायोलॉजी का दूसरा उपन्यास है और निश्चित ही इसका तीसरा उपन्यास आयेगा तभी बात पूरी हो पायेगी। ऐसा मुझे महसूस होता है। पठनीयता और नया पाठ, इन दो चीज़ों को मैं बड़ा इम्पोंटेण्ट मानता हूँ, जैसे--इंर्फोमेशन कैसे आयेगी उपन्यास में या आज के समय में ज्ञानात्मक मानचित्र कैसे बदले जायेंगे? या कहानियाँ या इनके बीच की लीनियरटी कैसे तोड़ी जायेगी? कैसे नॉन लीनियर स्ट्रेक्चर का प्रयोग किया जायेगा? कैसे नॉन लीनियर स्ट्रेक्चर को कथा के भीतर लाया जायेगा? ऐसा मुझे लगता है। मैं कितना सफल हूँ, मुझे नहीं मालूम। मैंने पहले ही कहा ये इम्तिहान की तरह है, रिज़ल्ट तो उसका बाद में आयेगा।

तीसरी बात जो मैं शिद्दत से महसूस करता हूँ, एक लम्बे काम के बाद महसूस करता हूँ, वो यह है उत्तर भारतीय सन्दर्भो में रिफॉर्म और रेडिकल की जो बहस है, इसको रेडिकल की तरफ बहुत ज़्यादा झुकाया गया है और रिफॉर्म के महत्त्व को काफी कम करके देखा गया है। मुझे लगता है कि उत्तर भारतीय सन्दर्भो में जो समाज की गति है और स्थिति है, उसके हिसाब से रिफॉर्म का बहुत बड़ा महत्त्व है और वही

क्रान्ति की पूर्व पीठिका है। यदि हम नवजागरण के काम को बड़े पैमाने पर लेते हैं, जिसमें साक्षरता, विज्ञान और बाकी सब चीज़ें शामिल हैं, टेक्नोलॉजी शामिल है तो हम परिवर्तन के लिए एक बड़ा आधार तैयार कर रहे होंगे। तो उस भारत को मैं बीच में लाना चाहता था, अपने अनुभव के साथ लाना चाहता था। और मुझे लगता है कि एक हद तक वह बात सफल हुई है।

अरुणेश ने एक बात इतिहास की ऐतिहासिकता को लेकर कही और जो मुझे बहुत अच्छी लगती है। ये सारी बातें कटे-कटे हुए नहीं हो सकतीं मतलब इतिहास के सन्दर्भों में ही हो सकती है, तो उन दूसरे विषयों को भी मैंने लिया है। प्रगतिशीलता और विचारधारा को लेकर बहुत सारी बात नहीं कहना चाहूँगा। पिछले दिनों टैरी इगल्टन का मैंने अनुवाद किया। वे बाहर के आदमी माने जा सकते हैं, लेकिन मुझे बहुत अच्छे लगे कई जगहों पर और राजेन्द्र जी ने अपने सम्पादकीय में उस अनुवाद की तारीफ भी की। यहाँ मैं टेरी इगल्टन को कोट करना चाहता हूँ : 'प्रगतिशील कला क्या होती है, यह एक ऐतिहासिक प्रश्न है और हठवादिता के साथ सम्पूर्ण कालावधि के लिए उसे नहीं सुलझाया जा सकता। कुछ समय और समाज इस तरह के होते हैं कि चेतन तथा प्रगतिशील राजनीतिक प्रतिबद्धता महत्त्वपूर्ण कलात्मक उत्पादनों के लिए ज़रूरी नहीं रह जाती। कुछ ऐसी भी कालावधियाँ होती हैं जैसे कि फासीवाद का समय, जब लिखना और कलाकार के रूप में बचे रहना ही प्रतिबद्धता की निशानी बन जाता है। ऐसे समाजों में चेतन सामाजिक पक्षधरता एवं महत्त्वपूर्ण कलात्मक उत्पादन की क्षमता साथ-साथ उत्पन्न होती है। और ऐसा समय सिर्फ फासीवाद की अवधि तक सीमित नहीं है। इस चरम सीमा से कहीं अलग स्थितियाँ भी हो सकती हैं जब बुर्जुआ विश्व में कला अपने आपको निम्न स्तर पर ढकेल देती है, क्षुद्र और नपुंसक बना लेती है। क्योंकि उस समय की प्रचलित बंजर विचारधाराएँ कला को कोई सहारा नहीं दे पातीं, उसमें कोई महत्त्वपूर्ण जुड़ाव पैदा नहीं कर पातीं या उसे कोई गम्भीर विमर्श की ओर नहीं ले जातीं। ऐसे समय में खुली और उन्मुक्त क्रान्तिकारी कलाओं की ज़रूरत महसूस होती है। हमें सोचना होगा कि हम खुद क्या ऐसे ही समय में नहीं रह रहे हैं।'

बहुत सारे और विचार सौन्दर्यबोध को लेकर, बाकी चीज़ों को लेकर हो सकते हैं, क्राफ्ट को लेकर के हो सकते हैं। मैं इसके साथ कि ये उपन्यास पहले उपन्यास का सीक्वल था और निश्चित ही मैं महसूस करता हूँ कि तीसरा उपन्यास मेरे भीतर बन चुका है और बहुत जल्दी ही वो आयेगा, अपनी बात समाप्त करूँगा। उपन्यास के क्राफ्ट को लेकर एक कविता मैंने लिखी है, उस कविता से समाप्त करूँगा अपनी बात। कविता का नाम है, 'दूसरा उपन्यास' :

पहले की तरह
सरल नहीं होता
लिखना

दूसरा उपन्यास।
न तो दिल में रहती है
वैसी आग
और न दिमाग़ में
वह तापक्रम।
बस एक सघन उदासी
छाई रहती है चारों ओर
घिरते बादलों सी।
तब एक दिन
कलम उठाते हैं आप
और लिखते हैं
यूँ ही सी कोई बात।
बात जैसे किसी
कोहरे या धुंधलके में छुपी
कौंधती कभी-कभी
बिजली-सी
और कौंधते उसके साथ
कई चेहरे, चित्र, कहानियाँ
किस्से अस्पष्ट।
और जैसे जैसे
खुलती बात
आप देखते
कि पात्र सब पहचाने जा चुके
और कितना भी करें प्रयास
उनमें से झांकता
वही पुरानापन।
ढूँढ़े नहीं मिलता सूत्रधार
जो बिना उलझे
कह सके कहानी।
फिर कहानी का भी
कहाँ भरोसा
क्योंकि वह कभी निबंध
कभी संस्मरण
कभी कविता
में बदल जाती

और कोई तीन सौ पृष्ठों के बाद
याद दिलाती
कि वह भटक गई है रास्ते से
कि उसे एक बार फिर
शुरू से खोजना होगा।
सामने आता
अपने प्रिय लेखक का चेहरा
जिसे संबोधित करते
लिखा होगा शायद आपने
अब तक का उपन्यास
और जो आपकी पाँच साल की मेहनत का
न करते हुए कोई लिहाज
उठायेगा
उसकी पठनीयता और वैचारिकता के बारे में प्रश्न।
याद आएँगे
आँखों के इशारे
चेहरों के इंगित
योजनाबद्ध हमले
और आलोचकों के प्रहार
काफी होंगे जो
विचलित करने के लिए आपको।
और जब गुज़र जाएँगे
किसी भूल-भुलैया में भटकते
काल से लंबे कई माहो-साल
और जब हो जाएँगे
दिन का चैन और रात की नींद
आपको मुहाल
तो शायद आप तय करें
कि छोड़ देते हैं आप
इस दूसरे उपन्यास को
अपने हज़ार पन्नों के साथ
वहीं जहाँ वह पहुँच चुका है।
तभी एक रात अचानक
चमकेगा कथानक दुबारा
बिजली की तरह

और वे हज़ार पृष्ठ
जिनमें बिखरे पड़े थे
कहानियाँ, निबंध, संस्मरण और विमर्श
एक-दूसरे से जुड़ने का
करते हुए इंतज़ार
खुद अपने आप को
सहेज पाएँगे।
आप ढूँढ़ेंगे
और आश्चर्य से पाएँगे
कि जाने कहाँ गायब हैं
उनमें से कोई सात सौ पृष्ठ
और फिर भी
अपनी परिपूर्ण आभा के साथ
खड़ा है आपके सामने
तीन सौ पृष्ठों का
एक भरा पूरा उपन्यास।
पढ़ेंगे आप उसे बार-बार
और सिर्फ आप ही
पहचान पाएँगे
कि क्या-क्या रह गया
उसमें होने से शामिल
सिर्फ आप ही
देख पाएँगे उसका
आधा-अधूरापन।
लेकिन फिर भी
मन होगा
हवा की तरह हल्का
जाने कहाँ बिला जायेगी चिंता
प्रशंसकों की प्रशंसा
और आलोचकों की निंदा
पहचान लिया होगा आपने
खुद को अपने उपन्यास में
और इस तरह
मुक्त कर लिया होगा
खुद अपने आपको।

फिर कभी छायेगी
सघन उदासी
फिर कभी घिरेंगे बादल
और चमकेगी कथा
फिर कभी लिखा जायेगा
तीसरा उपन्यास
दूसरे के अधूरेपन को
पूरा करने के लिए।

धन्यवाद! वैसे तो ये काम आलोचकों का था पर मित्रों ने समीक्षा पुस्तिका तैयार कर इसे पूरा कर दिया है। ये पुस्तिका बाहर उपलब्ध है, आप जब भी जायें, इसे ज़रूर लेकर जायें, यह आज आयोजकों की ओर से वितरित की जा रही है। और क्योंकि मुझे अवसर नहीं मिलेगा, इसलिए मैं 'सरोकार' का, 'पहले पहल' का और सभी यहाँ आये आमंत्रित समीक्षकों और आप सबका बहुत-बहुत आभार व्यक्त करता हूँ। धन्यवाद!

रेखा कस्तवार

सन्तोष चौबे जी ने अपनी बात कही और सिर्फ दूसरे उपन्यास की बात नहीं थी, यह रचना प्रक्रिया की बात थी किस तरह आप लिखते रहे, किस-किस स्तर से गुज़रते हैं, कैसे-कैसे गुज़रते हैं। यहाँ बहुत सारे लेखक बैठे हैं, वो सब अपनी-अपनी यात्राओं में सफर कर रहे होंगे। मुझे शिकायत तब भी है सन्तोष चौबे जी से, कि बहुत से लोगों ने उन्हें उकसाया; लेकिन स्त्रियों वाली बात छोड़ गये वो। मुझे बहुत उम्मीद थी कि बोलेंगे ज़रूर, लेकिन अभी मेरी उम्मीद बची हुई है राजेन्द्र यादव जी हैं यहाँ पर, वे ज़रूर इस बात को उठाएँगे और कहेंगे।

अब वक्तव्यों की बात फिर शुरू होती है। प्रहलाद अग्रवाल जी हैं, जिनके बारे में राजेन्द्र शर्मा जी ने बहुत विस्तार से बताया। फिल्म समीक्षक हैं। हमारे फिल्म की दुनिया के बहुत बड़े-बड़े जो हीरो हैं, उनके बारे में उन्होंने जिस तरह से किताबें लिखी हैं और बहुत सरोकार से बहुत गम्भीर लेखन उनका फिल्मों को लेकर है। वे कथाकार हैं, यायावर हैं, घुमक्कड़ी को वो शौक की तरह लेते हैं। मैं बहुत सम्मान के साथ प्रह्लाद अग्रवाल जी को आमंत्रित करती हूँ।

प्रह्लाद अग्रवाल

मंच पर आसीन राजेन्द्र यादव जी, कुँवरपाल सिंह जी, नमिता सिंह जी, मनोहर वर्मा साहब, साधना अग्रवाल जी! तमाम विद्वत्जन बैठे हुए हैं, मैं सोच रहा था कि मेरी औकात इसमें बीच में जाकर कहाँ फँसेगी, पर सबसे पहले मनोहर वर्मा साहब ने और बाद में सन्तोष चौबे जी ने मुझे थोड़ा-सा स्पेस दे दिया कि नहीं, यहाँ पाठक के लिए भी गुंजाइश है। तो मैं इस किताब का एक पाठक हूँ, उसी तरह जैसे

मैं सैकड़ों उपन्यासों का पाठक होता हूँ। सौ उपन्यास पढ़ता हूँ, उसमें नब्बे बहुत खराब लगते हैं मगर फिर भी मैं उन्हें पढ़ता हूँ। यदि कोई उपन्यास खराब है तो मैं पढ़ने से वंचित नहीं रह जाता। जैसे मैं बहुत सारी फिल्में देखता हूँ, उनमें बहुत सारी फिल्में खराब होती हैं मगर उन खराब फिल्मों में भी कुछ मिलता है। उन खराब उपन्यासों में भी कुछ मिलता है।

तो धीरे-धीरे ये हुआ कि जो पच्चीसों साल की यात्रा थी मेरी सिनेमा देखने की और किताब पढ़ने की, उसे मैंने बनाये रखा है। पर अब किताब इतनी मँहगी हो गयी, जब पाठक की बात की जाती है तो मैं सबसे पहले यह सोचता हूँ कि चार सौ रुपये की किताब! कितने पाठक खरीदेंगे? परन्तु उसके बोलने के पहले ही मुझे जो पेपर बैक संस्करण मिलता है, वो एक सौ पचास रुपये का है तो एक राहत मिलती है कि हम एक सौ पचास रुपया खर्चा कर सकते हैं। कहीं जाकर कुछ कमीशन भी कट जायेगा तो सौ रुपये में मिल जायेगा, एक सौ दस में मिल जायेगा। इस तरह के मैं सारे जुगाड़ जमाया करता हूँ कि किस प्रकार से हम अधिक से अधिक किताब पढ़ सकें और किस तरह से हम अधिक फिल्में देख सकें। बड़ा तकलीफ वाला काम है साहब, सिर्फ पाठक होना। पाठक होना बड़ा ही कठिन काम है। अब मैं ये देखता हूँ कि बहुत सारे फिल्म वाले हैं जो मुझे फिल्म देखने के लिए बुलाते हैं। बहुत सारे मित्र हैं जो मुझे किताबें भेजते हैं और मुझे प्रेरित करते हैं कि नहीं, ये किताब पढ़ो, ये किताब ज़रूर पढ़नी चाहिए। जानते हैं कि ये ठीक उसी तरह का नशा है पढ़ने का या देखने का या जो लोककलाएँ हैं, उन लोककलाओं में डूबने का।

जब इस उपन्यास को मैंने पढ़ा, तो उपन्यास को पढ़ने के बाद मैंने पिछला पृष्ठ भी पढ़ा, क्योंकि लेखक के बारे में बड़ा विस्तार से वर्णन किया गया है। तो लेखक के बारे में जब मैंने जान लिया पूरा और जब मैं उपन्यास को पढ़ने लगा और उपन्यास के अन्त तक पहुँचा, तो मुझे लगा कि यदि मैं इस उपन्यास का नाम देता तो इस उपन्यास का नाम देता 'कार्तिक कथा'। मुझे क्षमा करें चूँकि बहुत सारे लोगों को मैं भी देखता था, बचपन में परसाई जी को देखता था, बिल्कुल पड़ोस में रहते थे। फिर बाद में ज्ञानरंजन जी को देखा। तमाम सब लेखकों को देखा, तो मुझे लगता था कि जो विचार की तरह चीज़ों को प्रस्तुत किया जाता है और जो कर्म प्रस्तुत किया जाता है वो बिल्कुल दो अलग-अलग चीज़ हैं। परसाई जी को एक कच्चे दिमाग़ की तरह, एक आठ साल के बच्चे की तरह परसाई जी को देखते हुए और फिर एक पैंतालीस-पचास साल के आदमी की तरह भी परसाई जी को देखते हुए मैं कभी फर्क नहीं कर सका। परसाई जी किस तरह मुस्कुराया करते थे उन लोगों के ऊपर, जो उनकी आलोचना किया करते थे। और इस उपन्यास में तो ऐसे बहुत सारे पात्र थे, जो पात्र मुझे बिल्कुल नज़दीक से बिल्कुल सही-सही समझ में आ गये कि वही हैं और मुझे ऐसा लगा कि एक आदमी की कथा है, जो आदमी जड़ता से दूर होना चाहता है। बहुत अधिक पोलिटिकल नहीं है, मगर सिर्फ अपने विकास को अपना

विकास नहीं मानता।

ये समाज से सीखता है। आदमी कोई पैदा कम्युनिस्ट नहीं होता कम से कम। मुझे ऐसा लगता है कि कोई पैदा कम्युनिस्ट नहीं होता और वो अपने कर्म से धीरे-धीरे कम्युनिस्ट बनता है। पर ये ज़ाहिर है, सबके साथ ज़ाहिर है और बहुत सारे लोगों ने देखा है कि जो दिखाई देते हुए कम्युनिस्ट होते हैं वो कर्म से कम्युनिस्ट नहीं होते। जब तक हम 'स्व' से जुड़े रहते हैं, जब तक हमें अपना आप ही सबसे बड़ा लगता है तब तक मुझे लगता है कि आदमी कम्युनिस्ट नहीं हो सकता। आदमी को अपनी कमजोरियाँ जैसे-जैसे दिखाई देने लगती हैं अपने भीतर, अपना छोटापन दिखाई देने लगता है; वैसे ही वैसे उसे अपने काम का बड़ा विस्तार दिखाई देने लगता है और उसमें वो चला जाता है, अपने साथियों को साथ लेते हुए चला जाता है।

एक पत्रिका ने जब बताया, मुझसे इसकी समीक्षा लिखने के लिए कहा, तो मैंने कहा कि मैं पाठकीय आस्वाद ही लिखकर दे सकता हूँ और मैंने जब उन्हें लिखकर दिया तो उन्होंने बड़े काँट-छाँटकर बड़ा विचित्र रूप में उसको छाप दिया, क्योंकि वो एक व्यवसायिक पत्रिका थी। तो उसने जिस तरह उसको छाप दिया, उसका रूप ही बिगड़ गया। यह बात सबसे पहले मुझे लगती थी कि ऐसे लोग भर इस उपन्यास में क्यों नहीं आये? जो कार्तिक के साथ काम कर रहे थे, जो बहुत छोटे लोग होंगे? क्योंकि माफ कीजिये मैं भी पैंतीस साल से पढ़ा रहा हूँ और पैंतीस साल से मैंने विद्यार्थियों को देखा है। पैंतीस साल पहले, बीस साल पहले मैं किन्हीं विद्यार्थियों से पूछता था कि तुम क्या बनना चाहते हो, तो वो लड़का कहता था कि मैं इंजीनियर बनना चाहता हूँ, मैं डॉक्टर बनना चाहता हूँ, मैं आई.ए.एस. बनना चाहता हूँ, मैं आई.पी.एस. बनना चाहता हूँ। अगर कोई गाँव का लड़का भी होता था तो कुछ छोटा-मोटा कह देता था कि मैं शिक्षक बनना चाहता हूँ। मगर आज सन् २००० के बाद जब मैं क्लास में बी.ए. फायनल में, एम.ए. फायनल में लड़कों से पूछता हूँ कि क्या बनना चाहते हो, तो सब सोच में खड़े होते हैं। किसी को नहीं पता। एक दिन एक लड़का बोला कि--सर, मैं करोड़पति बनना चाहता हूँ। हम तत्काल कुछ बनना चाहते हैं और ये तत्काल कुछ बनने की प्रवृत्ति सारे राजनैतिक दलों के लोगों में है। बहुत सारे लड़के मेरे पढ़ाये हुए विधायक बन गये, सांसद बन गये और कभी-कभी मैं उनको देखता हूँ तो उन्हें लगता है कि कैसा अभद्र आदमी जा रहा है तुम्हारे सामने से विधायक चला गया और तुमने नमस्ते नहीं की। मुझे लगता है कि इसका पिता भी सामने आता होगा तो कहता होगा कि मेरे पहले पैर पड़ के जाओ तब आगे बात करना।

तो जो कामरेड मोहन का क्रिएशन है। मुझे कामरेड मोहन के क्रिएशन में रुचि थी कि लेखक उसको भी देखता कि वो ऐसा क्यों हो गया। उसने भी तो अपना जीवन समर्पित किया, मगर कार्तिक के पास उपलब्धियाँ और जो कामरेड मोहन है उसके पास भी उपलब्धि है कि अन्तत: वह जाकर आत्महत्या करता है और मैं नहीं समझ

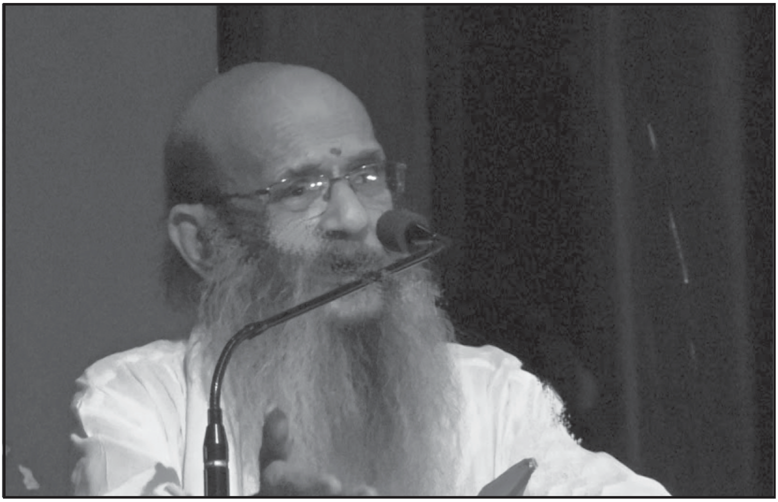

वक्तृता रखते हुए प्रह्लाद अग्रवाल

पाया कि वे क्या कारण थे। हम अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि कामरेड मोहन की आत्महत्या के क्या कारण होंगे। हमारी समझ में बहुत सारी बातें हैं, जो सारी बातें बहुत सारे लोग जानते हैं और उसी से उसको कहा गया कि ये उपन्यास विवादास्पद है। मुझे तो लगा ही नहीं कि इस उपन्यास में विवाद की गुंजाइश कहाँ है! ये उपन्यास तो एक कथा कहते चलता है एक ऐसे आदमी की, जो कुछ खोज रहा है। ऐसे कितने लोग हैं जो आज आई.ए.एस. में सिलेक्ट हो जायें और न जायें? ऐसे कितने लोग हैं, जो व्यक्तिगत उत्कर्ष को प्राप्त करने के लिए, जो कुछ भी मिल रहा है, उसको खोयें और एक बीहड़ रास्ते पर कदम रखें? और हमको आप माफ कीजिये, जब भी आप राजनीतिक होंगे, राजनीतिक दृष्टिकोण से देखेंगे तो किसी भी सामाजिक कार्यकर्त्ता को वहाँ निराशा अवश्याम्भावी है और उस निराशा से कभी घबराना नहीं चाहिए, क्योंकि वह निराशा अवश्य ही वहाँ होगी।

यह उपन्यास है जो आपको शिक्षित करता है, आपको धीरे-धीरे उन कारणों तक पहुँचाता है। एक साधारण आदमी यदि इस उपन्यास को पढ़े, उसको सुनाया जाये तो उसके भीतर साम्प्रदायिकता के विरुद्ध एक मन में आग पैदा होती है या पता चलता है कि कभी ये नहीं कहा गया कि मन्दिरों पर हमले, हिन्दू मन्दिरों पर हमले क्यों हुए? उन्हें कोई धर्म परिवर्तन नहीं करवाना था। सारे हिन्दू मन्दिरों के गर्भगृहों के नीचे सारा खजाना रखा हुआ था। हमलावर को वो खजाना चाहिए था। और यदि मन्दिर ही तोड़ने थे तो जैन मन्दिर भी तोड़ते। क्यों नहीं तोड़े, साहब! जैन मन्दिर? तो साम्प्रदायिकता कहाँ पर, किस तरह हमारे भीतर प्रवेश करती है, किस तरह हमारे भीतर एक ऐसी जड़ता प्रवेश करती है जहाँ हम समझने लगते हैं कि

सबसे शुद्ध मन है और ये तब पैदा होता है जब हम कर्म से विरक्त होते हैं। जब हम कर्म में जुड़कर आगे आयें, जब हम वो शब्द ही बोलें जो हमारी कर्म की आग में जलकर निकला हो, तो देखिये, उसका प्रतिफलन कैसे नहीं होता! परन्तु कर्म हमारा कुछ और है और हमारा आचरण कुछ और है। और हम उसी तरह से जब बात करते हैं, उसी तरह हम चाहते हैं कि सब हमारे पीछे ही आयें, हम अपने से आगे किसी को निकलते हुए देखना नहीं चाहते। वो पिता नहीं दिखते हैं, जो कहें मैं अपने पुत्र की सफलता में अपनी कामना करता हूँ। वो शिक्षक नहीं मिलता है, जो दिखे और कहे कि मैं अपने विद्यार्थी के ऊपर चरम उत्कर्ष में अपनी कामना करता हूँ। और जब ऐसे नये लड़के आते हैं और ये पीढ़ी आयेगी, ये आकर रहेगी, क्योंकि ये जो सांस्कृतिक दरिद्रता देख रही है, यह देख रही है कि आत्म उत्कर्ष के लिए हम कितने लालायित हैं। पहले जिस तरह से रूस जाने की लाइन लगी रहती है, आज उसी तरह से अमरीका जाने की लाइन लगी रहती है। पर वो गाँव, वो हमारे अपने लोग वो कहीं नहीं मिलेंगे।

मेरे एक मित्र हैं, हमेशा जातिवाद की बुराई करते रहते हैं। मैंने कहा-, 'ये बुराई मत कीजिये, अपनी लड़की की शादी मेहतर के साथ कर दीजिये। आपको कभी एक शब्द बोलने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। भाषण देने की ज़रूरत ही नहीं पड़ेगी, सब समझ जाएँगे।' परन्तु वो कहने लगे मुझसे 'ऐसी बेवकूफी तुम कर सकते हो, मैं नहीं कर सकता।' तो यह कहना और करना, जो इस उपन्यास की खास बात है- इस उपन्यास में जो अन्तिम शब्द कहे गये कि--'प्रेम, शायद प्रेम को हम बहुत छोटी चीज़ समझते हैं।' इसलिए हम हो सकता है कि प्रेम का तिरस्कार करें। यदि प्रेम नहीं है अन्तर्धारा के रूप में, तो कभी कोई भी विचारधारा, कम से कम कोई जनवादी विचारधारा तो पनप ही नहीं सकती। कविता और संगीत यदि नहीं आयेगा- ये सिनेमा के लिए भी बहुत कहा गया। बहुत सारे लोगों ने कहा, 'हमारे यहाँ इतना संगीत कहाँ है जितना फिल्मों में होता है?' हमने तो कहा, 'ये भाई! बड़ा नीरस आदमी है। इसकी माँ ने कभी इसे लोरी नहीं सुनायीं। इसने फ़िराक गोरखपुरी को भी नहीं पढ़ा, जिसने लिखा है कि 'वो बड़ा अभागा बच्चा है जिसने सूरदास के पदों से अपने बचपन को गुलज़ार नहीं किया।'

तो वो चीज़ें वो करुणा हमारे भीतर जमी होती है, वही करुणा हमें दर्द के ऊपरी अहसास तक ले जाती है और मैं देखता हूँ कि बार-बार अब नायिकाओं की बात तो करनी ही नहीं चाहिए, नहीं तो उसमें बहुत सारे पेंच छूट जाएँगे। क्योंकि आप देखिये, कि जो पत्नी है वो गरिमा दे रही है, जो प्रेमिका है वो द्वंद्व में पड़ी हुई है और जो एक स्त्री है जो पूरे अधोवस्त्रों के निष्कासन तक ले जायी जाती है- वो एक क्रिश्चियन आदमी के साथ है। मैं नहीं जानता। मुझे लगता है कि नायक के व्यक्तित्व के टकराव को, नायक के व्यक्तित्व को देखिए जो नाटकीयता पैदा होती है - पाठक जो देखना चाहता है, पाठक जिसमें अन्त में रस लेता है। तो ऐसा नहीं

आता कि कहीं कार्तिक के व्यक्तित्व के विकास के लिए जिन चीज़ों को शॉर्प करना चाहिए था जिससे वह उभरता, उसका काम और उभरता। वो दो चीज़ें थीं- एक तो यदि नताशा को शॉर्प किया जाता और दूसरे यदि कामरेड मोहन को शॉर्प किया जाता। कामरेड मोहन सिर्फ एक षड़यंत्रकारी के रूप में या बिल्कुल एक जैसे फिल्मों में एक विलेन, विलेन नहीं कहना चाहिए उसको, जो एक छाया होती है विलेन की, जो एक घूमती रहती है खलनायक की- उसके रूप में हमें दिखाई देती है।

परन्तु ये विस्तार जो है या आत्म को खोजने की कोशिश जो है, जिसमें साहित्य भी आता है, संगीत भी आता है और इसके साथ-साथ आप देखें! कि किस प्रकार इतिहास के वो पक्ष जो भोपाल के साथ जुड़ते हैं, उसके साथ किस तरह साम्प्रदायिकता को जोड़ा गया है और किस तरह ०६ दिसम्बर की घटना को जोड़ा गया। तो इस तरह आप एक रिपोर्ताज़ में प्रवेश करते हैं, एक साथ आप कविता में प्रवेश करते हैं और एक अखण्ड आनन्द में जूझते हुए जब आप अन्त में पहुँचते हैं तो आपको खालीपन, मित्र! ज़रूर महसूस होता है, क्योंकि जो प्रेम उसने ढूँढ़ा है कामरेड मोहन में, मैं उस कामरेड मोहन के चरित्र में भी वही प्रेम, कविता और संगीत का दर्द ढूँढ़ना चाहता था, जो इस उपन्यास को पाठक तक ले जाने में थोड़ी-सी कमजोरी ले आता है। वरना ऐसे उपन्यास क्यों नहीं लिखे जाना चाहिए, जो लाखों लोगों द्वारा पढ़े जायें।

और आज सौ-सौ रुपये में पाठक भी किताबें खरीदकर पढ़ते हैं। मुझे बहुत अनुभव हैं, मैंने देखा है एक-एक बुक स्टॉल पर जाकर कि 'रेलवे बुक स्टॉलों' पर बहुत सारे लोग जो हैं, जो बहुत सारे लेखकों की किताब माँगते हैं और वहाँ किताबें मिलती नही हैं। हमारे यहाँ प्रकाशक मित्र भी बैठे हुए होंगे, और बहुत सारे प्रकाशक हैं। मैं आपको कहूँ कि मैं भेजता हूँ कि ये किताब मुझे भेज दीजिए, मैं व्ही.पी.पी छुड़वा लूँगा। मगर कभी बड़ी मुश्किल से ही कोई प्रकाशक होता है जो किताब भेजता है आपको, क्योंकि उसे रहता है कि एक किताब बेचने में उसकी रुचि नही होती है। तो या जो साहित्य को लोगों तक ले जाने के ये उपक्रम होना चाहिए, वह उपक्रम ही साहित्य में पूरी तरह नदारत है। राजनीति में वह उपक्रम पूरी तरह नदारत है। मुझे नही लगता कि मेरे शहर में दस लोग भी जानते हैं कि आज कम्युनिज़्म का क्या अर्थ होता है? जबकि आज से दस साल पहले, पन्द्रह साल पहले, बीस साल पहले लोग अपने आपको कामरेड कहलाने में बहुत फक्र महसूस करते थे। और मैं बहुत पुरानी बातों में नही जाना चाहता, दिसम्बर का 'हंस' का अंक ही आप पढ़ लीजिए और उसमें कहानी छपी हुई है 'कामरेड' और उस कहानी को जब आप पढ़ेंगे तो आपको लगेगा कि इस उपन्यास में तो कुछ कहा ही नही गया है ऐसा, जिसके कारण कोई विचारधारा का विरोध परिलक्षित होगा। मगर उस कहानी में तो सीधे-सीधे कहा गया है कि आज जो कामरेड हैं, वह सिर्फ ब्राह्मणों, ठाकुरों और बनिये के लिए एक परदे का काम करने वाला है और दलितों को छलने वाला नाम जो है, उसका

नाम है कामरेड।

मित्रो! यह बहुत बड़ा सुअवसर था। मैंने बिल्कुल घड़ी देख ली थी और दस मिनिट में अपनी बात आपके सामने ज़रूर रख दूँगा, क्योंकि जब कहा जाता है संक्षेप में बोलिये, तो अक्सर लम्बा बोला जाता है। धन्यवाद!

रेखा कस्तवार

आपकी तालियाँ बता रही हैं कि 'क्या पता कामरेड मोहन' में कामरेड मोहन का क्या पता है। यही वो पता है, जिसके बारे में प्रह्लाद अग्रवाल जी ने बात की थी। शायद सन्तोष चौबे जी के दिमाग़ में भी यही बात होगी कि जब मेरी और तुम्हारी फाइल में कोई फर्क नहीं है, तो क्या पता कामरेड मोहन क्या हुआ होगा इस बीच में। हो सकता है अगले उपन्यास में पता चले। और अब इस क्रम में साधना अग्रवाल जी, जिनके बारे में आप जानते हैं कि एक अच्छी लेखिका हैं, राजेन्द्र यादव जी को केन्द्र में रखकर लिखी गयी किताब के सम्पादन से वे अभी चर्चा में बहुत अधिक हैं। मैं बहुत सम्मान के साथ साधना जी को बुलाती हूँ।

साधना अग्रवाल

सबसे पहले तो मैं सन्तोष चौबे जी को बधाई देना चाहती हूँ। और खासकर इसलिए भी कि अभी जब वो अपना वक्तव्य दे रहे थे और कह रहे थे कि मुझे घबराहट होती है कि अब इस मुकाम पर आकर भी कोई इम्तिहान देना होगा और इसमें क्या होगा नतीजा उसका। लेकिन ये बहुत आश्वासन की बात है, किताब का दूसरा संस्करण इस बात का सबूत है, कि वो अपने इस उपन्यास के माध्यम से इस इम्तिहान में न केवल पास हुए हैं बल्कि, ऑनर्स के साथ पास हुए हैं।

उपस्थित सम्मानित मंच एवं मित्रो! जैसा कि अभी रेखा जी ने कहा कि इस उपन्यास पर जो चर्चा हुई है, भोपाल के बारे में लोगों ने इसमें कम कहा है, पर मुझे जो इस उपन्यास में खास बात दिखाई पड़ी, वो यह है कि भोपाल के बारे में जितनी जानकारी और जितने अच्छे तरीके से सन्तोष जी से इस उपन्यास में बताया है, वह इस उपन्यास का अंश एक बहुत बड़ा आकर्षण है। खासकर मेरे लिए भोपाल में आना और भोपाल के आसपास की तमाम जगहों को देखना, उससे रूबरू होना इस उपन्यास के भीतर घूमने की तरह था। वैसे तो इस उपन्यास के माध्यम से तमाम पाठक भोपाल के बारे में जान गये होंगे पर जिन्होंने नहीं पढ़ा है, वो जान सकते हैं कि भोपाल के आसपास की जो ऐतिहासिक जगहें हैं, जैसे साँची का स्तूप है या इस्लाम नगर है उनका महत्व क्या है? या विण्ड एवं वेव्ज़ कितनी मजे की जगह है जहाँ से झील के किनारे बैठकर उपन्यास का नायक अपनी कुछ मस्ती करता है, वो सुखद यात्रा करता है अपनी पत्नी नीति के साथ भी। तो ये तमाम बाते हैं जो इस उपन्यास की तरफ एक आम पाठक को आकर्षित करती हैं, जैसा काशीनाथ जी के उपन्यास को पढ़कर हम पूरे काशी को जान सकते हैं। उसका कलेवर क्या है, एक

शहर का वातावरण क्या है, उसी तरह इस उपन्यास के माध्यम से भोपाल की तमाम गतिविधियों को जानकर महसूस किया जा सकता है। और आप लोगों की इतनी बड़ी संख्या में उपस्थिति को देखकर भी ये आशा जगती है कि एक बौद्धिक समाज भोपाल में ज़रूर रहता है और जिसकी दिलचस्पी है। और जो ये तमाम बातें कही जाती हैं कि पाठक नहीं हैं, पाठकवर्ग नहीं है जो यह साहित्य की कमी की चिन्ता व्यक्त की जाती है; लेकिन मुझको बिल्कुल भी ऐसा नहीं लगता कोई दुराशा कहीं भी नहीं लगती है। अगर ऐसी बात होती तो आज इस सभागार में इतनी उपस्थिति दिखाई नहीं पड़ती, जो दिखाई पड़ती है या इस उपन्यास का दूसरा संस्करण नहीं आता जिसका अभी यहाँ लोकार्पण हुआ।

दो-तीन बातें इस उपन्यास के सन्दर्भ में मुझे करनी है, जिनको मैंने नोट कर लिया है। इधर हिन्दी कथा साहित्य में 'मोहनदास' की ही चर्चा नहीं है, बल्कि 'कामरेड' की भी उसी तरह। उदय प्रकाश की लम्बी कहानी 'मोहनदास', यशवन्त व्यास का उपन्यास 'कामरेड गोडसे' और अब सन्तोष चौबे का उपन्यास 'क्या पता कामरेड मोहन'। इन पुस्तकों के केन्द्र में मोहनदास करमचन्द गाँधी कम, उनके सत्य और अहिंसा के प्रयोग ही मुख्य हैं या फिर उनका हत्यारा गोडसे। एक क्षीण रेखा वामपंथी पार्टियों के खोखले आदर्श पर टिप्पणी, वस्तुतः यहाँ इतिहास का विपर्य यही नहीं है, बल्कि अन्तर्विरोधों के बीच हमारे समय का एक ऐसा भयावह इतिहास भी दर्ज़ है जिससे गुज़रने से हम गुरेज़ करते हैं। बीसवीं शताब्दी के उतार के अन्तिम दशक में सोवियत संघ का पतन वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी की नौकरशाही के आतंक के कारण जिस तरह हुआ, अब हमारी आँखों के सामने है।

बल्कि एक बात और मैं यहाँ कहना चाहती हूँ कि वामपंथी पर्टियाँ, जैसा कहते हैं कि, वो सिमटती जा रही हैं तो पश्चिम बंगाल का एक उदाहरण हमारे सामने अभी बिल्कुल ताजा उदाहरण है 'नंदीग्राम' को लेकर, जिसमें उस पार्टी के अन्तर्विरोध मतलब अपनी ही पार्टी के अन्दर इतने सारे अन्तर्विरोध सामने उजागर होकर आते हैं। वो इसी का परिणाम दिखाई पड़ता है। इसके बरक्स भारतीय वामपंथी पार्टियों के विकास और स्वतंत्रता के बाद के इतिहास पर हम गौर करें तो ये स्पष्ट होता है कि कभी अखिल भारतीय चरित्र वाली वामपंथी पार्टियों का जनाधार प्राय: सिमटता गया है और इसकी नियति खासकर हिन्दी प्रदेशों की क्षेत्रीय पार्टी जैसी हो गयी है। इसके कारणों के विश्लेषण करने पर पता चलता है कि ये पार्टियाँ अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को पार्टी के अनुशासन से नियंत्रित करती हैं, आत्मालोचन का अवसर नहीं देतीं। हिन्दी कथा साहित्य में ये सम्भवत: सबसे पहले यशपाल ने अपने उपन्यास 'दादा कामरेड' में, रेणु ने अपनी कहानी 'आत्मसाक्षी' में और उसके बाद सृंजय की कहानी 'कामरेड का कोट' में इन पार्टियों में साधारण सदस्य की हैसियत और बॉस के आतंक की तरफ संकेत किया था।

सन्तोष चौबे के उपन्यास 'क्या पता कामरेड मोहन' की कथा के केन्द्र में एक

ऐसा प्रतिभाशाली और तेजस्वी युवक कार्तिक है, जिसका सपना अपनी सक्रियता से समाज और राष्ट्र को बदलना है। वो आई.ए.एस. की प्रतियोगी परीक्षा में बैठता ही नहीं है बल्कि वरीयता क्रम से चुने गये पहले सौ की सूची में भी आता है। कार्तिक पेशे से इंजीनियर है, लेकिन प्रतियोगी परीक्षा के लिए उसने साहित्य और इतिहास जैसे विषय चुने। मौखिकी के दौरान जब उसे इंजीनियर होते हुए भी प्रशासनिक सेवा में जाने सवाल किया जाता है तो वो उत्तर देता है, कोट है--'सर, समाज के अन्य क्षेत्रों और प्रशासन में भी वैज्ञानिक दृष्टि की उतनी ही ज़रूरत है जितनी स्वयं वैज्ञानिक संस्थाओं में। मैं अपने साथ वो दृष्टि लेकर प्रशासन में आना चाहता हूँ।' जब इन्टरव्यू बोर्ड के अध्यक्ष उसे इस सवाल से कहते हैं कि वैज्ञानिक और इंजीनियर एक तरह के टनल विजन के संकुचित दृष्टिकोण के शिकार हो जाते हैं, से घेरने की कोशिश करते हैं तो मुस्कुराते हुए कार्तिक जबाव देता है--'सर, मैंने इसलिए इतिहास और साहित्य जैसे विषय लिये, जिससे मेरा दृष्टिकोण व्यापक हो सके।' उसका ये जवाब बेहद सटीक था और वो चुन लिया जाता है।

कार्तिक जो उपन्यास का मुख्य पात्र है, अपने समय और समाज को इतिहास से समझने की कोशिश करता है और भोपाल तथा आसपास के ऐतिहासिक खँडहरों में पत्नी नीति के साथ घूमते हुए अपने अतीत को वर्तमान से जोड़ने की कोशिश करता है। लेकिन इसी बीच अपने दोस्त केदार की एक जनसंघर्ष में हत्या होने के कारण अब तक अपनी यथार्थ की समझ से उसका मोहभंग हो जाता है और अन्ततः वह भारतीय प्रशासनिक सेवा में जाने का विचार छोड़कर सामाजिक परिवर्तन के वैकल्पिक रास्ते को तलाश करते हुए एक वामपंथी राजनैतिक दल का सदस्य बन जाता है। इस पार्टी का संकट ये है कि प्रदेश में पार्टी का जनाधार संकुचित होने के कारण लोगों के बीच पार्टी की लोकप्रियता नहीं है। यही कारण है कि कालान्तर में पार्टी सचिव कामरेड मोहन पार्टी की विफलता की ज़िम्मेदारी कार्तिक पर डालते हुए उसे कारण बताओ नोटिस देते हैं। कार्तिक के लिए न केवल ये अप्रत्याशित है बल्कि स्तब्ध करने वाला भी। क्योंकि जिस बैठक के बाद उसे नोटिस दिया जाता है, उसकी पूरी प्रक्रिया न केवल अजनतांत्रिक है बल्कि अन्तर्विरोधों से भरी हुई है।

कार्तिक को लगता है कि जनवादी केन्द्रीयता के आधार पर ही कोई निर्णय लिया जा सकता है। ये अकारण नहीं है कि पार्टी के ज़्यादातर सदस्य आत्मालोचना के नाम पर दूसरे की आलोचना करते हैं और पार्टी सचिव को वस्तुनिष्ठता से विमुख गलत राय देते हैं। कार्तिक के लिए कारण बताओ नोटिस और बाद में पार्टी दफ़्तर में बुलाकर उससे पूछताछ उसे चौंकाती ही नहीं, पार्टी से भी विमुख कर देती है। उसे इस बात की हैरानी है कि पार्टी के लिए एक बड़ी महत्त्वाकांक्षी नौकरी छोड़कर उसने जो त्याग किया था, उसका कोई मोल नहीं है। उसके वे दोस्त सरफराज, लक्ष्मण सिंह और रमेश के सिद्धान्त और व्यवहार में कितना बड़ा फर्क था! बल्कि कामरेड रमेश ने जो पार्टी बैठकों में नैतिकता की दुहाई देते हुए कभी थकता नहीं

था अपनी से आधी उम्र की लड़की से दूसरी शादी कर ली। कार्तिक जब उस गहन अन्तर्द्वंद्व और अपने प्रति पार्टी द्वारा किये गये कठोर व्यवहार के ऊहापोह से गुज़रते पार्टी से अपना इस्तीफा देकर लौटा था, उसे फोन से सूचना मिलती है कि कामरेड मोहन ने आत्महत्या कर ली। स्तब्ध कार्तिक उसके पोस्टमार्टम से लेकर दाह-संस्कार तक में शामिल होता है। मोहन के सुसाइड नोट से ये पता चलता है कि पार्टी के काम से वे असन्तुष्ट थे। अफवाह यह भी है कि कामरेड रमेश के पार्टी पर आतंक की यह परिणति है। उपन्यास वामपंथी राजनीति के चरित्र पर सवाल खड़ा करता समाप्त होता है।

इस बात से बिल्कुल भी इन्कार नहीं किया कि उपन्यास की भाषा बेहद साफ-सुथरी है। जैसे कि अभी बात उठी और स्वयं चौबे जी ने भी कहा था कि उनकी कोशिश रहती है कि उपन्यास में या किसी भी रचना में पठनीयता होना बहुत ज़्यादा ज़रूरी है, तो ये उपन्यास भी बेहद पठनीय है। और जैसा लोगों ने कहा कि नारी पात्र हैं लेकिन उस पर फोकस नहीं किया गया है। लेकिन मुझको लगता है चूँकि ये वन मैन शो मतलब मुख्यत: कार्तिक को केन्द्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है, इसलिए उन्होंने नारी पात्रों की उपेक्षा की होगी। लेकिन मुझको जहाँ तक लगता है कि इस उपन्यास का जो पूर्वार्द्ध है, वो लेखक के आत्मकथात्मक उपन्यास की तरह लगता है, उसमें आत्मकथा है और जो उत्तरार्द्ध है इसका, सामाजिक परिवर्तन के वैकल्पिक रास्ते की तलाश का उसका सपना।

एक बात और है। जो अधिकतर इधर बहुत मोटे-मोटे जो उपन्यास छ:-छ: सौ सात-सात सौ पेज के लिखे जा रहे हैं, उनमें क्या है? पाठकों को लेखक, अपनी ओर आकर्षित करने के बदले दूर कर देता है। क्योंकि उसको लगता है, मोटे-मोटे उपन्यास देखकर ही उसका आतंक इतना ज़्यादा हो जाता है पाठकों पर, कि उसको लगता है कि ये उपन्यास बाद में पढ़ूँगा। बाद में कब उसका वो समय आता है, ये खुद उसको पता नहीं लगता। इसलिए ज़रूरत आज के समय में खासकर ये है कि उपन्यास को अनावश्यक विवरणों से अगर हो सके तो बचाया जाना चाहिए। लेकिन इस उपन्यास की खासियत ये भी है इसमें यदि एक तरफ शिल्प का विण्ड है तो दूसरी तरफ भाषा की वेव्ज़ भी। यानी भोपाल की श्यामला हिल्स की पृष्ठभूमि पर स्थिति प्रसिद्ध रेस्तरां 'विण्ड एंड वेव्ज़' के सामने की झील की नीली गहराइयाँ, इसलिए भी वैचारिक दृष्टि से ही नहीं भावनात्मक दृष्टि से भी ये उपन्यास को विचारणीय बनाती है। बहुत-बहुत धन्यवाद!

रेखा कस्तवार

साधना अग्रवाल जी का अपना कोट कि- उपन्यास वामदलों को टारगेट बनाता है। उन्होंने अपनी बात रखी है। मैं शैलेन्द्र कुमार 'शैली' जी को आमंत्रित करती हूँ। आप सभी जानते हैं! विचारधारा को ओढ़ते-बिछाते हैं, उसमें जीते हैं। बहुत सम्मान के साथ शैलेन्द्र कुमार 'शैली' जी।

शैलेन्द्र कुमार 'शैली'

आदरणीय साथियो! बहुत संक्षेप में अपनी बात कहना चाहता हूँ। पहली बात तो यह कि कई बार लगता है कि इस उपन्यास के माध्यम से जिन-जिन लोगों को वामपंथी पार्टियों के खिलाफ जो भड़ास निकालने की ख्वाहिश थी, उनको मौका मिलता रहा जबकि इस उपन्यास का ये लक्ष्य है ही नहीं।

हाल ही में 'हंस' के नये अंक में श्री राजेन्द्र यादव जी ने बंगाल की घटनाओं के सन्दर्भ में जो सम्पादकीय लिखा है, उस पीड़ा के साथ लिखा है। उस पीड़ा में बात यह है कि कहीं से भी विचारधारा का विरोध बिल्कुल नहीं है। इस दुनिया को बदलने मे आज भी मार्क्सवादी विचारधारा ही सर्वश्रेष्ठ है, जो कि हमको एक रास्ता बताती है क्योंकि इसमें अन्तिम सत्य जैसी कोई बात है ही नहीं। एक सच्चे कम्युनिस्ट का संघर्ष दो स्तर पर होता है। एक तरफ जहाँ वो इस पूँजीवादी बुर्जुआ व्यवस्था को बदलने के लिए काम करता है, दूसरी तरफ एक संघर्ष पार्टी संगठन के भीतर भी होता है, कई बार पूँजीवादी बुर्जुआ सामन्तवादी ताकतों के दोष हमारे अपने साथियों में भी आ जाते हैं। तो चीज़ों को ठीक करने की जद्दोजहद चलती है, कोशिश होती है; लेकिन वो कहीं से भी पार्टी संगठन या विचारधारा का विरोध या उसके खड़े होने जैसी कोई बात नहीं होती।

सन्तोष चौबे जी के इस उपन्यास का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने अपनी तरह से चीज़ों को ठीक करना चाहा है। चीज़ों को ठीक करना वो किस तरह से चाहते हैं, उनकी अपनी एक रचनात्मक कोशिश है। तो इस उपन्यास को कहीं भी किसी भी दृष्टि से मार्क्सवादी विचारधारा और वामपंथी राजनैतिक दलों के खिलाफ कोई दस्तावेज़ या कोई ऐसी साज़िश के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। यह हमारी पहली बात है। बहुत सारी बातें कहने को हैं। उपन्यास की कहानी को भी संक्षेप में बता ही दिया गया है, और मैं तो कहता हूँ कि इस तरह की चीज़ें! एक साहस की बात होती है। एक कम्युनिस्ट ही तो दरअसल आत्मालोचना कर सकता है, उसके लिए अन्तिम सत्य जैसी कोई चीज़ बिल्कुल नहीं होती। यहाँ नागपुर से आखिरी आदेश संचालित करने जैसी कोई बात होती नहीं है। यहाँ आदमी को अपनी बात कहने का मौका मिलता है। एक किसी व्यक्ति ने कहा कि पार्टी का आदेश है, उसमें अभिव्यक्ति के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। मैं समझता हूँ मैं एक वामपंथी पार्टी का कार्यकर्त्ता भी हूँ और साहित्य का छात्र भी हूँ तो हमको तो कभी आज तक किसी ने कोई आदेश दिया नहीं कि आपको क्या लिखना चाहिए, क्या नहीं लिखना चाहिए, आपको किनके साथ बैठना चाहिए, किनके साथ नहीं बैठना चाहिए। पूरा एक लोकतंत्र है और एक लेखक के रूप में अभिव्यक्ति की रक्षा होती है। तो किसी भी व्यक्ति को अगर कोई पूर्वाग्रह है वामपंथियों, पार्टियों को लेकर या इस उपन्यास के माध्यम से कोई अगर किसी साज़िश को खोजना चाहता है, पर्दे के पार देखना चाहता है तो मैं समझता हूँ इस तरह की बातों का कोई मतलब है ही नहीं और मतलब होना

भी नहीं चाहिए।

एक ये कहानी है, उपन्यास है, भोपाल का परिदृश्य है और ज़ाहिर है कि वामपंथी पार्टियों के सन्दर्भ में ही इस तरह के उपन्यास की रचना सम्भव हो सकती है। अन्य किसी पूँजीवादी बुर्जुआ पार्टियों में जहाँ व्यक्तिवाद ही सबकुछ होता है, एक तरह की सामन्तशाही होती है, लोकतंत्र का तो कोई सवाल होता ही नहीं है, तो वहाँ इस तरह के उपन्यास की कोई गुंजाइश थी ही नहीं। आखिर सारी अपेक्षाएँ कम्युनिस्टों से ही तो होती हैं और इस तरह के उपन्यास सिर्फ कम्युनिस्ट पार्टियों के परिप्रेक्ष्य में लिखे जा सकते हैं। मुझे विश्वास है कि सन्तोष जी इसके बाद अपने इस उपन्यास का एक और चरण तीसरे उपन्यास के रूप में लायेंगे, तो उन चीज़ों को बहुत बेहतर ढंग से साफ करने की रचनात्मक कोशिश हो सकेगी। धन्यवाद!

रेखा कस्तवार

आत्मालोचन और सवाल उठाने की ताकत एक सच्चे कामरेड में होती है और वो सवाल शैली ने भी उठाये और चौबे जी ने भी। दोनों वक्ताओं को बधाइयाँ। और अब हमारे मुख्य अतिथि, जिनके लिए आप सब बहुत बेसब्री से इन्तज़ार कर रहे हैं- राजेन्द्र यादव जी।

राजेन्द्र यादव जी के बारे में आप बहुत सारी बातें जानते हैं। और कहानियों के लिए, अनुवादों के लिए, सम्पादन के लिए; लेकिन मुझे जो सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात लगती है- कहानी और उपन्यास की जो सैद्धांतिकी पर उनकी किताबें हैं तीन 'कहानी : स्वरूप और संवेदना', 'उपन्यास : स्वरूप और संवेदना', 'कहानी अनुभव और अभिव्यक्ति'। ये तीनों किताबें मेरे ख्याल से सैद्धांतिकी की दृष्टि से जितनी महत्त्वपूर्ण हैं, उन पर चर्चा भी बहुत हो जानी चाहिए। आप सभी जानते हैं कि नयी कहानी आन्दोलन की त्रयी के वे बहुत महत्त्वपूर्ण किरदार हैं। 'काँटे की बात' के बहाने वे समसामयिक विषय पर बात करते रहे हैं। अनुवाद हैं, नाटक हैं, उपन्यास हैं, एक लम्बी फेहरिस्त है और उन सबसे आप परिचित हैं। लेकिन अगर मुझे कहना हो तो कहूँगी कि साहित्य में विवादों को और विवाद को साहित्य बनाने में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले राजेन्द्र जी को मैं बहुत सम्मान के साथ बुलाती हूँ।

राजेन्द्र यादव

हमारे आतंकवादी कमाण्डर और भाई कुँवरपाल सिंह और सन्तोष जी और मित्रो! असल में ये उपन्यास मेरे लिए डिस्टरबिंग से ज़्यादा- जिसे अँग्रेज़ी में एनिग्मैटिक कहते हैं- वो है। ये मुझे उलझाता है और शीर्षक से शुरू होता है उलझाव। 'क्या पता कामरेड मोहन' से लेखक क्या कहना चाहता है? कामरेड मोहन, तुम्हें क्या पता? हम लोगों के भीतर क्या होता है ये अर्थ है या कोई और अर्थ है, मैं नहीं समझ पाया इसे। इस पूरी कहानी को कहने के लिए एक उस व्यक्ति को जो कम्युनिस्ट पार्टी में रहा हो और जिसे वामपंथी विचारधारा में विश्वास हो,

(बायें से) नमिता सिंह, राजेंद्र यादव एवं कुँवरपाल सिंह

बहुत साहस की ज़रूरत है। इस कहानी को कहने के लिए बीस दफ़ा उसे सोचना पड़ेगा। अगर वो विरोधी नहीं हो गया है तो ये सोचना पड़ेगा कि ये अपनी इन अन्दरूनी बातों को, अन्दरूनी बहसों को अगर सामने लायेगा तो जो विरोधी हैं और दूसरे विचारधारा के लोग हैं, उनको ही मौका मिलेगा--देखिये, आप बड़ा गुण गाते हैं और अन्दर क्या हो रहा है। जैसी ध्वनि अभी हमने सुनी कि उन्हें गाली देने का मौका मिलता है कि- आप बहुत कम्युनिस्ट पार्टी और बहुत वामपंथी विचारधारा की बात करते हैं! इस उपन्यास को पढ़िये, इसके अन्दर क्या हो रहा है, कितना घपला है। लेकिन ऐसा नहीं है।

मुझे ये उपन्यास टोटलिटी में आत्मविश्लेषण लगता है, जिसे सेल्फ क्रिटिसिज़्म कहा जाता है। कम्युनिस्ट पार्टी में एक बहुत महत्त्वपूर्ण चीज़ है, जिसे आप 'आत्म आलोचना' कहते हैं। ये उसी सम्पूर्ण प्रक्रिया का हिस्सा लगता है। किसी पात्र के बहाने। पूरे उपन्यास का अगर नाम देना चाहूँ तो इसे आत्मालोचना ही कहूँगा। अपने भीतर विभिन्न पात्रों के विभिन्न दबावों और संघर्षों के माध्यम से कार्तिक जिस तरह विकसित हो रहा है, वो चीज़ एक आत्मालोचना की ही चीज़ है और उसे उसी रूप में देखा जाना चाहिए। इसमें एक चीज़ थोड़ा अलग-सी जो एनिग्मैटिक, जो मैंने शुरू में शब्द कहा- वो यह है कि देखिये, जब-जब विकासशील समाज में या जब-जब विकास होता है, नयी चीज़ें आती हैं, नये विचार आते हैं, नये ऑब्जेक्ट आते हैं तो द्वंद्व होते हैं।

हमारा पूरा उन्नीसवीं शताब्दी से लेकर आज तक का जो कथा साहित्य है या विचार साहित्य है, वह इसी द्वंद्व का साहित्य है, इसी डिबेट का साहित्य है। वो उन समस्याओं से जूझता है और वो समस्याएँ ज़्यादातर ये होती हैं कि एक परम्पराबद्ध समाज की आस्थाएँ, विश्वास और पुरानी मान्यताएँ और नयी स्थितियाँ और नये

विचार। संघर्ष इसी पर होता है। मैं समझता हूँ बीसवीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास अगर मैं किसी एक को नाम देना चाहूँ तो वो 'गोरा' है। 'गोरा' में यही डिबेट है, नये-पुराने को लेकर है, पुरानी संस्कृति और नयी स्थितियों को लेकर है और सब मिलाकर एक-दूसरे डिसइल्यूशनमेंट की कहानी है। 'चित्रलेखा' इसी डिबेट की कहानी है। यहाँ तक कि व्यक्तिगत स्तर पर 'शेखर' इसी डिबेट की कहानी है जहाँ शेखर अपने आपसे भी बहस कर रहा है और बाहर भी बहस कर रहा है। तो चीज़ों को लेकर, मूल्यों को लेकर, मान्यताओं को लेकर, विश्वासों को लेकर बहसें उपन्यास में आयेंगी ही। सामाजिक उपन्यास के केन्द्र में कहीं न कहीं जड़ें होंगी, बहस होगी, एक डिबेट होगा। इसलिए अगर इसमें डिबेट है तो ये बहुत अनिवार्य स्थिति है।

दिक्कत वहाँ होती है- गोरा एक व्यक्ति है। गोरा उस समय का व्यक्ति है, जब समाज को अस्वीकार करते हुए व्यक्ति का निर्माण हो रहा है। जितने बड़े-बड़े व्यक्तित्व हमको दिखाई देते हैं उन्नीसवीं शताब्दी में और उन्नीसवीं शताब्दी के आखिर में और बीसवीं शताब्दी में द्वितीय महायुद्ध से पहले, ये बड़ी-बड़ी जो पर्सनेल्टी हैं, जायंट पर्सनेल्टी हैं इन सबका विकास अपने समय से लड़ते हुए, समय की मान्यताओं से लड़ते हुए हुआ है, संघर्ष करते हुए वो आगे बढ़े हैं, उनका विकास हुआ है। लेकिन स्वतंत्रता के बाद वो संघर्ष के धरातल पर बदल गये। पहले सामाजिक संघर्षों से निकलकर आये हुए लोग थे बहुत गरीबी से भुखमरी से कोई किसी तरह जिसे कहना चाहिए कि बहुत एडवर्स सरकमटेन्सेज़ में, अपने व्यक्तिगत संकल्पनाओं से ही वो आगे बढ़ पाये। ये व्यक्तिगत संकल्पनाएँ जब आगे आती हैं और उस व्यक्ति का एक विज़न बनती हैं और विज़न के हिसाब से जब वो समाज को चलाना चाहता है तो कहीं-कहीं पर जब उसके हाथ में सत्ता आती है तो डिक्टेटर होता है। हिटलर का भी एक विज़न था, एक ऐसा समाज जिसमें यहूदी लोग न हों। नरेन्द्र मोदी का भी एक विज़न है, एक ऐसा समाज जिसमें दूसरे वर्ग के दूसरे धर्मों के लोग न हों। तो ये भी होता है। स्टॉलिन का भी एक विज़न था, जिसके बारे में दुनियाभर की किंवदन्तियाँ और दुनिया भर के सच-झूठ किस्से हम लोग सुनते रहते हैं। रोज़-रोज़ सुनते हैं। तो विश्व युद्ध बड़ा भयंकर होता है। इसकी परिणतियाँ बड़ी अजीब होती हैं। फिर क्या-क्या किया जाये? यानी व्यक्ति का विकास न हो, व्यक्ति जब अपने आप में केन्द्र हो जाता है सारी चीज़ों का और अपने को केन्द्र मानकर बाकी सबको परिभाषित और समझना-एक्सप्लेन करना शुरू करता है तो शायद दिक्कत वहीं से हो जाती है।

विचारधाराएँ अपने संघर्षों में जितनी डायनामिक होती हैं, संघर्षों के दौरान जितना आकर्षित करती हैं, जितनी अट्रेक्टिव होती हैं- संघर्षों की समाप्ति के बाद शायद उतनी नहीं रहतीं। अक्सर जड़ हो जाती हैं। ये जो व्यक्तित्व के विकास का आकर्षण है- मुझे कार्तिक में उसके तत्त्व दिखाई देते हैं। वो बताता है कि आई.ए.एस. की परीक्षा में चुन लिये जाने के बावजूद उसने जॉइन नहीं किया। तो

वो व्यक्तित्व का ऑरा ऐसा बना रहा है, जिसमें उसकी बात को स्वीकार किया जाना चाहिए, उसके व्यवहार को एक्सेप्ट किया जाना चाहिए और जो वो कहता है, उसे मान लिया जाना चाहिए। कहीं ये आग्रह है, धीरे-धीरे एक खास तरह के डिसल्यूज़नमेंट में जिसका अन्त होता है। अगर मैं कहूँ कि पूरा उपन्यास एक मोहभंग और डिसल्यूज़नमेंट का उपन्यास है, जिसमें सब अलग-अलग ऐसे डिसइल्यूशन होते हैं। कामरेड मोहन अपने ढँग से होते हैं, कार्तिक अपने ढँग से होता है, फ़ादर विलियम्स अपने ढँग से होते हैं। सब डिसल्यूजन होते हैं और एक्ज़ाइल होते हैं। यानी फ़ादर विलियम्स एक्साइल कर दिये गये। कार्तिक अपनी पार्टी से गायब कर दिया गया। कामरेड मोहन तो बेचारे चले ही गये।

तो ये जो पूरी प्रक्रिया है इस उपन्यास की, ये निश्चित रूप से एक तीसरे खण्ड की डिमाण्ड करती है कि इसका, कामरेड कार्तिक का अन्त कहाँ हुआ? अन्त से मेरा मतलब वह अन्त नहीं है। मेरे कहने का मतलब है कि विकास, अगला विकास कहाँ हुआ, यह हम सब लोगों को जानने की इच्छा है कि वो कहाँ गया।

पार्टी किस तरह एक व्यक्ति को कुचलती है? उसकी आकांक्षाओं को, उसके सपनों को, उसके विज़न को और उसकी संकल्पनाओं को किस तरह कुचलती है? ये उपन्यास इसका भी बहुत बड़ा एक दस्तावेज़ ही कहना चाहिए और ये पहली बार नहीं हुआ है। उदय प्रकाश ने 'और अन्त में प्रार्थना' लिखा तथा तब भी पार्टी और व्यक्ति के द्वंद्व की बात थी, जहाँ धीरे-धीरे वो व्यक्ति समाप्त हो जाता है, लगभग आत्महत्या की स्थिति में आ जाता है। इसलिए कि जिस विचारधारा को वो जो 'और अन्त में प्रार्थना' का नायक है, नायक का नाम है वाकणकर, वाकणकर किन संस्कारों में से है? वो शुरू से सब शाखाओं वगैरहों में जाता है। उसको चुनने की ज़रूरत नहीं है। जबकि कम्युनिस्ट पार्टी में लोग वो आये हैं जिन्होंने अपना चुनाव किया था। वाकणकर के पास चुनाव नहीं है, वो विकसित ही उस तरह से हुआ था। शुरू से ही, बचपन से ही उसे पार्टी में रहना था और उसी पार्टी के सीधे-सीधे अनुशासन को, कठोर अनुशासन को या मैकेनिकल अनुशासन को बर्दाश्त करना था। जहाँ उसका व्यक्तित्व लगभग खत्म हो गया। कम्युनिस्ट पार्टी में लोग चुनाव करके आते हैं और ये चुनाव ज़िन्दगी में एक बार होता है। ऐसा नहीं है। ये चुनाव दोबारा भी एक्सरसाइज़ किया जा सकता है और आज करते भी हैं, लोग विरोधी भी हुए हैं। आज ये जो हम देखते हैं बहुत से नेताओं को और बताया जाता है किसी जमाने में कम्युनिस्ट पार्टी के लोग थे। तो ताज्जुब होता है कैसे थे ये लोग? क्या हो गया उनको? ये जो चन्द्रशेखर सरकार जैसे लोग हैं, जो कैसे गुजरात के जेनोसाइड को, हत्याकाण्ड को जस्टीफाई कर देते हैं? कैसे फ़ादर स्टैंस की हत्या को ऐसी गाड़ी में बन्द करके जला दिये जाने को एक्सेप्टेन्स दे देते हैं? क्या हुआ इनकी संवेदना को, इनकी मानवता को? तो खैर ऐसा होता है।

मैं कहना ये चाहता हूँ कि ये उस तरह की समाप्ति या उस तरह पाला बदलने

वाला उपन्यास नहीं है। ये ऐसे व्यक्ति का उपन्यास है, जो सचमुच अपने भीतर खोज करना चाहता है, अपने भीतर से जानना चाहता है कि कहाँ उससे गलत हुआ? उसमें जो व्यक्तित्व की बात, जो मैंने कहा कि उसके व्यक्तित्व में उन व्यक्तिवादी पुराने व्यक्तियों का कहीं न कहीं हैंगओवर दिखाई देता है और वो हैंगओवर कई जगह है। महिलाओं के लिए, स्त्रियों के लिए जो उसका एटीट्यूड है वो लगभग वही है, जो अज्ञेय और जैनेन्द्र वगैरह का था और रहा होगा कि वो उनके लिए एक प्रेरक तत्त्व होती हैं, एक अच्छी कम्पनी होती हैं, एक मधुर कम्पनी होती हैं। चाहे वो घर में पत्नी के रूप में हो और चाहे बाहर नताशा और उमा के रूप में। वो कभी-कभी स्थितियों को एडजस्ट नहीं करतीं। उनको यानी ऐसी स्थिति में पहुँचा देती हैं, जो स्थिति शायद अगर वो नहीं होतीं तो उस तरह से विकसित नहीं होती। वो एक तेजी से विकसित नहीं हुई होतीं।

कभी-कभी मुझे लगता है कि क्या बुद्ध ने जब कहा था कि--'मेरा धर्म पाँच हज़ार साल चलने वाला था, अब चूँकि आपने स्त्रियों को शामिल कर लिया है तो मुश्किल से पाँच सौ साल चलेगा।' ये बात कहीं बहुत गहरे अनुभव से आयी थी, क्योंकि आदमी फिर यानी वैचारिक चीज़ें छोड़कर अपने भावनात्मक द्वंद्व में और सम्बन्धों को सुधारने या बिगाड़ने में ज़्यादा लग जाता है। जो कार्तिक के साथ हुआ, वही अगर मुझे लगा किसी के साथ हुआ था, तो वह फ़ादर विलियम्स था। यानी उसका एक लगभग जासूसी उपन्यासों की तरह उद्‌घाटन करना कि वो नक्सलाइट प्लाण्टेड थी। ये बात मुझे तार्किक रूप से सही गले नहीं उतरी। ठीक है, जिस समर्पण से, जिस तन्मयता से, जिस प्रेम के साथ, एनवायरनमेन्ट के साथ रति विलियम्स के साथ जुड़ी हुई है, उसमें कहीं दूर-दूर तक सच नहीं होता कि ये कोई प्लाण्टेड स्त्री होगी क्योंकि अगर ऐसा होता तो उसे बँटी हुई होना चाहिए। उसे मालूम होना चाहिए कि वो एक्टिंग कर रही है। वो एक्टिंग कहीं भी नहीं करती या तो यह फिर लिखने वाले का कौशल है कि उसने यह पता नहीं लगने दिया कि रति जो है वो एक्टिंग कर रही है या किसी के बिहाफ पर वहाँ की चीज़ें देख रही है। ये प्रेम और व्यक्ति का द्वंद्व चर्च के रूप में भी दिखाया गया, जो यहाँ पार्टी में है। वही चीज़ वहाँ भी दिखायी गयी है कि कैसे चर्च के रूप में ये आदमी का दमन करता है यानी व्यक्तिगत इच्छाएँ, व्यक्तिगत संवेदनाएँ इन सबको किस तरह भोगता है?

ये सारा उपन्यास मुझे इसी व्यक्ति तक आता हुआ दिखाई देता है और यहीं समाप्त होता है। लगभग कम्युनिस्ट पार्टी बिखर गयी है, सारे लोग डिसल्यूज़न हो गये हैं उपन्यास में और आगे क्या होगा? क्या जो मुझे लगता है कि व्यक्ति का विकास आइडेन्टिटी में हुआ? मैं समझता हूँ कि इंडिविजुअलटी का विकास आइडेन्टिटी में होता है। इंडिविजुअलटी समाज को नकार कर और उसे एक तरह से कहना चाहिए कि उसको अस्वीकार करते हुए उसकी बिना चिन्ता किये हुए इंडिविजुअलटी का विकास होता है। आइडेन्टिटी सारी चीज़ों को साथ लेकर चलती

है। यानी उसमें अपने समय की भाषा भी है, अपने समय के कल्चर भी हैं, अपने समय का सारा परिवेश भी है। सब उसको लेकर एक आइडेन्टिटी, एक अस्मिता बनती है। उसका विकास इंडिविजुअलटी का विकास अस्मिता में होता है। आगे क्या यही विकास दिखाई देता है या एक डैड एंड। डैड एंड में यह है कि वो रास्ता बदल ले कुछ और हो जाये।

इस उपन्यास में इन सवालों के साथ-साथ जिन चीज़ों की मैं संगति नहीं बैठा पाता, उसमें भोपाल गैस काण्ड बहुत भयंकर काण्ड, हम सबको हिला दिया था, शताब्दी की सबसे बड़ी भयंकर ट्रेजडी थी और वो भी एक क्रियेटेड ट्रेजडी थी। क्यों ऐसा हुआ? जब हम किसी उपन्यास में इस तरह की घटनाओं का वर्णन करते हैं। किसलिए करते हैं? जहाँ थोड़ा उपन्यास को संवेदनहीन और नृशंस होना पड़ता है। हम क्यों उस ट्रेजडी का वर्णन कर रहे हैं? वो उस कहानी का कार्तिक मानसिकता का क्या इन्टीग्रेल पार्ट है? क्या उसका एक भीतरी हिस्सा है वो? या खाली एक दर्शक और सहायक जो आगे जाकर मदद करने वाला व्यक्ति है और जिसका उपन्यास में आगे चलकर कोई महत्त्व नहीं। कोई भी घटना हो, कोई भी हादसा हो, वो कहानी के पात्र का मुख्य पात्र का या पात्रों का एक इन्टीग्रेटेड हिस्सा होना चाहिए। उसे कहीं न कहीं सिम्बोलिकली भी अपने अर्थ देना चाहिए। ये घटना दंगों की घटना सिम्बोलिकली क्या अर्थ देती है? एक उसकी मानवीयता बनना एक अलग बात है, वो बहुत यानी जिस तरह ऑबवियस बात है। क्या सिम्बोलिकली ये कहना चाहते हैं कि मैन मेड ये जो दुर्घटना थी, जो तैयार की गयी? उसी तरह की एक दूसरी तरह की दुर्घटना के शिकार कामरेड्स हुए। क्या ये बड़ी घटना उस तरफ संकेत कर रही है? या किस तरफ कर रही है? मैं नहीं समझ पाया। जैसे 'क्या पता कामरेड मोहन' के अर्थ को नहीं समझ पाया, उसी तरह इन घटनाओं को भी मैं नहीं समझ पाया।

हालाँकि मैं जानता हूँ कि सन्तोष चौबे के पास एक बड़ी खूबसूरत रोमेन्टिक दृष्टि है। वो प्रकृति के वर्णन को, जीवन के वर्णन को, जंगलों के वर्णन को, पात्रों की मानसिकता का हिस्सा बना देते हैं। उसमें सिर्फ घूमने के लिए वो लोग नहीं जाते। यानी जो भी जाते हैं, चाहे रति और विलियम्स हों, चाहे नताशा या उमा वगैरह हों वो उसका हिस्सा बन जाते हैं जैसे वो अपने आपको वहाँ होने को रिडिस्कवर करती हैं। ये पहले से ही वहाँ थे और उसको यानी अपने पात्रों के माध्यम से, अपनी प्रेमिकाओं के, कहीं साथियों के माध्यम से वो पूरे जंगल को और पूरे भीतर की एक संवेदनात्मक, जो दुनिया है प्यार की, उसको रिडिस्कवर कर रहा है। तो इतने अचेत कलाकार सन्तोष चौबे नहीं है कि, जिसे कहना चाहिए कि एक थेगड़ी की तरह से उन्होंने वहाँ की घटना लगा दी, गैस काण्ड की और उसके बाद कहानी फिर आगे कर दी। क्योंकि वहाँ आगे उन्होंने कोई जगह ऐसी नहीं रखी है जो कहानी का एक बहुत गुँथा हुआ हिस्सा नहीं है। वो बहुत कौशल के साथ कहानी कहते हैं और चूँकि कहानी भीतर से कन्टेन्ट के रूप में इतनी सशक्त और इतनी मजबूत है कि वह उन

सवालों को, कलात्मकता के सवालों को इररिलेवेन्ट कर देती है।

इस उपन्यास पर बात करते हुए भाषा पर बात करना, शिल्प पर बात करना, पूरे टेक्निक पर बात करना- मेरा ख्याल है बहुत रिलेवेन्ट हो जाता है। ये बहुत बड़े सवाल उठाता है, हमारे सामयिक सवालों को उठाता हैं- तो मैं समझता हूँ कि सन्तोष चौबे ने एक बहुत डिस्टर्बिंग किस्म का उपन्यास लिखा है। मैं उसे बहुत महान-वहान तो नहीं मानता हूँ, लेकिन ये ज़रूर है कि ये आपको परेशान करने वाला उपन्यास है। ये उस तरह के सवाल उठाता है, जिनके जवाब हम सब भीतर से तलाश करना चाहते हैं। नहीं मिलते हैं। उन्होंने उसे सामने रख दिया है। आगे की हमें प्रतीक्षा करनी चाहिए और इसके लिए मैं सन्तोष जी को बधाई-अधाई तो नहीं दूँगा, लेकिन धन्यवाद दूँगा कि उन्होंने कुछ सवालों के सामने नये सिरे से हमें रूबरू किया, हमारे सामने खड़े किये और हमें उनसे जूझने का, उनसे लड़ने का मौका दिया। मैं समझता हूँ कि इतनी बात इस उपन्यास के लिए फिलहाल मेरी तरफ से काफी है, और ये मेरे व्यक्तिगत विचार हैं। धन्यवाद।

रेखा कस्तवार

बहुत-बहुत धन्यवाद, राजेन्द्र यादव जी। हमारे समय के सवालों को उठाने वाला उपन्यास है ये और वे सवाल जो हम सबके हैं, जिनके उत्तर नहीं मिल पाते। उन्हें नये सिरे से उन सवालों को रूबरू कराने में ही ये उपन्यास अपनी भूमिका अदा करता है। आइडेन्टिटी का विकास अस्मिता तक करता है। जिरह का उपन्यास है। आत्मालोचन का उपन्यास है। पाला बदलने वाला नहीं। जड़ हो गयी समय की स्थितियों और व्यवस्थाओं से जब तक संघर्ष नहीं करते तब तक विकास नहीं होता। बहुत सारी बातें। उपन्यास के बारे में बहुत गम्भीर विमर्श। अब अंत में प्रोफेसर कमला प्रसाद।

कमला प्रसाद

मुझे राजेन्द्र जी ने 'आतंकवादी कमाण्डर' कहा। हम लोग उन्हें 'भन्ते' के नाम से हमेशा सम्बोधित करते हैं। तो भन्ते को इस तरह का विशेषण उपयोग में करने का अधिकार है। मेरे पास में बैठे आदरणीय कुँवरपाल जी हैं, जो आजीवन एक कामरेड की तरह और उसी उत्साह और उमंग के साथ जीने के आदी हैं। अभी आप देख रहे हैं उनकी शारीरिक अवस्था और उनसे बात करें आप और उनका लेखन, उनकी कलम, उनकी पत्रिका में उनके सम्पादकीय सारे दर्शाते हैं कि उम्र से बड़ा उनका उत्साह है। नमिता जी बैठी हैं। दोनों मिलाकर वास्तव में इकाई बनती है। नमिता जी के इन्कार करने से क्या होता है। तस्वीर हमारे मन में वैसी ही है। दोनों की आज़ादी है, दोनों का स्वतंत्र व्यक्तित्व है और दोनों ही विलक्षण इकाई हैं। प्रह्लाद जी हैं, मनोहर जी हैं, साधना, पण्डित जी और अरुणेश जी और रेखा ये सब हम लोगों का एक हमेशा संवाद में रहने वाला परिवार है।

अपनी वक्तृता रखते हुए प्रोफेसर कमला प्रसाद

सन्तोष जी का उपन्यास मैंने अभी कुछ दिन पहले ही पढ़ा है। मित्रो! बहुत विस्तार से ही इस उपन्यास पर बातें हुई हैं। एक बात जो किसी मित्र ने कही कि यह इनसाइडर-अपने अन्दर की गतिविधियाँ को झाँकने वाला उपन्यास है। दरअसल, ये कोई नयी कोशिश नहीं है। जिस विचार की आस्था उनके उपन्यास में है, यह उसके विकास की एक अनिवार्य प्रक्रिया है, अनिवार्य लक्षण है। लेनिन ने कहा था कि- 'हम अगर जनता पर विश्वास करते हैं और जनता का नेतृत्व करते हैं तो हमें हमेशा जनता को विश्वास में लेना चाहिए। अगर हमसे कोई गलती होती है तो जनता को विश्वास में लें। अपना एक्सपोज़र जनता के सामने करो और अगर हमने कोई ऐसा काम किया है जो अच्छा है और नेतृत्व के नाते करना चाहिए, तो वो भी जनता को बताओ।' जनता के सामने झूठ बोलकर के जो आज यह भूल गलती बैठी है बख्तर पहनकर, जिसे मुक्तिबोध ने कहा था। तो ये जो भूल गलती हुई है, आज आप बता रहे हैं कि बहुत से लोगों को खुशी होगी कि कम्युनिस्ट पार्टी या मार्क्सवादियों की इस तरह की अगर आलोचना हुई है तो उनके लिए खुशी की बात है।

मैं ये कहता हूँ कि कोई राजनैतिक दल दुनिया में, जिस साम्राज्यवाद को हम गाली देते हैं, जिसके नेता आजकल बुश हैं या हमारे हिन्दुस्तान की किसी राजनैतिक पार्टी में आज तक आपने इतिहास में कोई आत्मालोचन का अध्याय लिखा है क्या? कांग्रेस ने, बीजेपी ने या जनता दल ने और तमाम जो छोटे-छोटे राजनैतिक दल हैं और उनके दल के नेताओं ने। कांग्रेस वो नहीं है, जो महात्मा गाँधी के ज़माने में

थी, लेकिन कांग्रेस के इस पूरे इतिहास में आत्मालोचन जैसे नहीं है।

तो अगर इसके बरक्स दुनिया के वामपंथी आन्दोलनों और वामपंथी नेताओं में ये साहस होता है और एक आदर्श स्थिति होती है कि उन्हें आत्मालोचन करना चाहिए। ये शब्द आत्मालोचन, ये जो समीक्षा है आत्म समीक्षा, जगत समीक्षा मुक्तिबोध ने इन शब्दावलियों का प्रयोग किया है और सभ्यता समीक्षा। इन सबमें एक समान होता है। तो अगर ये उपन्यास इनसाइडर की तरह बातें करता है और भीतर की गतिविधियों में जो रूढ़ि आ गयी दरअसल, ये जो 'मैं' का उदय हुआ आधुनिक समय में। आधुनिक युग में 'मैं' का इतना अधिक विस्तार हुआ है या आधुनिकता की देन है। इसके पहले 'मैं' के विलीयन की बात होती थी। हमारे सारे मध्ययुग के सन्तों ने 'मैं' के विलीयन की बात की है, इसीलिए बड़ी रचना हुई है। 'मैं' का विलीयन हमारी परम्परा की बहुत बड़ी देन है, हमारी भारतीय परम्परा की बहुत बड़ी देन है। और ये जो 'मैं' का उदय है, ये हमारे आधुनिक युग की देन है। और ये 'मैं' इतनी आत्महन्ता और इतनी आत्मवृत्ति पैदा करता है कि बड़े-बड़े आदर्शवादी इसके शिकार होते हैं। ये जो समाज को बराबर करो, मार्क्स की बात आप छोड़ें! वो तो आधुनिकता की शुरूआत है। उसी में कहा गया था कि- 'समता के बिना कोई स्वतंत्रता नहीं हो सकती है।' यह फ्रांस की राज्य क्रान्ति का लक्ष्य है।

तो मार्क्सवाद की जो परिकल्पना है, वो तो थ्यौरीटिशियन्स की परिकल्पना है। वो एक ऐसे आदर्श की परिकल्पना करता है, जिस आदर्श को छूने के लिए उसी तरह का रिश्ता बनता है, जैसे- क्षितिज को हम बार-बार छूने की कोशिश करते हैं और क्षितिज हमसे दूर चला जाता है। ऐसा एक आदर्शी यूटोपिया उसने रचा, जिसको अर्जित करने के लिए, पाने के लिए सतत् संघर्ष होता है। लोग फेल हो रहे हैं। जो छोटी-छोटी सफलताएँ दिखती हैं, तो फिर मुक्तिबोध का सूत्र मुझे याद आता है कि 'किंचित् सफलता अतिभव्य असफलता'। तो सारी हमारी सफलताएँ किंचित् सफलताएँ हैं। चाहे रूस की क्रान्ति हो और चाहे चीन की क्रान्ति हो और चाहे हिन्दुस्तान में वामपंथी आन्दोलन की दिशा हो- ये सब किंचित् सफलताएँ हैं। दुनिया को बदलने के लिए एक जो भव्य सफलता की ज़रूरत होती है, वो पाया नहीं जा सका। सब प्रयोग चल रहे हैं, एक्सपेरीमेन्ट्स चल रहे हैं। मार्क्सवाद में भी एक्सपेरीमेन्ट्स चल रहे हैं। पोस्ट सोवियत एक्सपेरीमेन्ट्स जो हैं मार्क्सवादी चिन्तन में, उनको भी थोड़ा-थोड़ा देखना चाहिए।

तो मित्रो! ये छूने की कोशिश है, लगातार छूने की कोशिश है। ज़ाहिर है कि वामपंथी आन्दोलन में हिन्दुस्तान में भी काफी रूढ़ियाँ आ गयी हैं। विस्तार की कोशिशें, नवाचार की कोशिशें, नये क्षितिज खोलने की कोशिशें, नये मध्यवर्ग को एनालाइज़ करने की कोशिशें नहीं हुई हैं। हमारे हिन्दुस्तान में जिस तरह की परम्पराएँ हैं, उन परम्पराओं का विश्लेषण करने की कोशिशें नहीं हुई हैं। और कुछ सूत्रों से समझने की कोशिशें नहीं हुई हैं उस आदर्श को। और व्यवहार का जो द्वंद्व है, उसको

समझने की कोशिशें नहीं हुई हैं। पर कोशिशें जारी हैं। मुझे लगता है कि शायद ही कोई ऐसा उपन्यास मिले, जिसमें इस तरह की इनसाइडर कोशिश किसी राजनैतिक विचारधारा पर विश्वास करने वाले की कहीं मिल सकती हो, अगर ये सम्भव हुआ तो शायद सन्तोष चौबे इनसाइडर की तरह ही इसकी खोज कर सके हैं और इनसाइडर की तरह ही ये उपन्यास आपके सामने आ सका है।

दूसरी बात ये है मित्रो! कि ये जो सत्ता का मतलब हम लोग ये लगाते हैं कि सत्ता का मतलब है सरकारें। सरकारें चुनाव में जीतती हैं वो सत्ता होती है। या सत्ता जो होती है, ये दरअसल मनोविज्ञान है, जैसे व्यक्ति की सत्ता जो परिवार में होती है, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में। लेकिन एक संगठन की सत्ता भी होती है। संगठन की भी एक सत्ता होती है, जहाँ हम दस के समूह का नेतृत्व करते हैं, वो एक सत्ता हो जाती है। तो सत्ता का जो संघर्ष है, वह अकेले उस समय नहीं शुरू होता जब पार्टी चुनाव में होती है। सत्ता का संघर्ष और पार्टी का संघर्ष और कार्यकर्त्ता का संघर्ष लगातार नवाचार और रचनात्मक होते जाने का जो संघर्ष है ये अवेयरनैस का संघर्ष है। यही आत्म समीक्षा और जगत समीक्षा के बीच की डायलेटिक्स होती है।

तो सत्ता को अगर हम बार-बार देखते हैं तो एक ही अर्थ ग्रहण करते हैं रिलेटिव टर्म में, सापेक्ष टर्म में जो हमेशा हमारे पास मौजूद होती है, हर व्यक्ति के पास एक सत्ता मौजूद होती है और व्यक्ति के पास एक सत्ता विरोध मौजूद होता है। तो सत्ता विरोधी और सत्ता समर्थक, दोनों का जो द्वंद्व है अपने भीतर, जो उसके अन्दर मौजूद होता है, उसी से रचना बनती है। कोई भी रचनाकार आप देखेंगे! अपने से जो टकराता है, अपनी निन्दा करता है, जैसे--परसाई के इतने सारे व्यंग्य हैं जो आत्मनिन्दा से भरे हुए हैं। अपनी निन्दा कर रहे हैं। अपना डिक्लास जिसको हम कहते हैं, वो अपनी निन्दा से शुरू होता है, अपनी आलोचना से शुरू होता है।

इस उपन्यास में बहुत-सी बातें हैं, आप देखें कि, संकेतों में बहुत सारी, जैसे इसमें एक समाजवादी भी है, समाजवादी जो लोहिया के विचारों पर विश्वास करता है और विश्वास से उसके विश्वास से जो वह टूटा है, वह एक जगह आश्रम बना लेता है और जाकर के वह एक नये तरह का प्रयोग करता है। इसमें क्रिश्चियनिटी का जो आदर्श है, उस आदर्श के भीतर जैसा कि राजेन्द्र जी ने रेखांकित किया, उसके भीतर किस तरह व्यक्तियों की हत्या होती है। तो वो सामाजिकता, वो आदर्श, वो लोक कल्याण जिसमें व्यक्ति की उपेक्षा हो, व्यक्ति और समाज के रिश्ते का जो वैचित्र्य है और जो उसका सहज स्वाभाविक रूप है, का निर्वाह नहीं करता। तो ऐसा कोई भी धर्म, ऐसी कोई भी विचारधारा खण्डित हो जाती है। कोई भी विचारधारा, जो कि विकास नहीं करती, वो खण्डित हो जाती है। कोई भी पार्टी नष्ट हो जाती है, अगर वो विकास नहीं करती और इन सारे बदलते हुए नये सन्दर्भों के रिश्तों को नहीं पहचानती, चाहे वह कम्युनिस्ट पार्टी ही क्यों न हो।

तो असल में भोपाल में इस उपन्यास की जो चर्चा होती है और जो बाहर

चर्चा होती है, उसमें कुछ फर्क है। भोपाल में चर्चा इस तरह से भी होती है कि जो लेखक है, वह भोपाल का है तो उसके कुछ पात्र आधे-अधूरे पहचाने भी जाते हैं कि अमुक यह पात्र है, अमुक यह पात्र है। अगर थोड़ा-सा हम उससे तटस्थ हो जायें तो हमको कुछ और लगेगा। जैसे कुँवरपाल जी की मैंने समीक्षा पढ़ी, तो मैंने देखा कि एक इनसाइडर कैसे देखता है। मुझे नहीं लगता कि कुँवरपाल की तरह क्रिटीकल अपने भीतर और अपने बाहर होने वाला कोई आदमी मुझे मिला होगा या बहुत कम लोग मुझे मिले होंगे। जो कुँवरपाल जी की जीवनशैली है, जो उनके काम का तरीका है, मैंने उनकी समीक्षा पढी तो मुझे लगा कि ये अगर सेल्फ़ क्रिटिसिज़्म पैदा हुआ है कम्युनिस्ट पार्टीज़ के भीतर और वामपंथी आन्दोलन के भीतर, तो उसे कहा जाना चाहिए और वो कहा गया है।

इस उपन्यास में आप देखें कि, जैसे मैंने कहा कि एक समाजवादी स्पॉट है, एक क्रिश्चियनिटी का स्पॉट है, एक ०६ दिसम्बर की घटना का स्पॉट है, उसके प्रति भी टिप्पणियाँ हैं, आलोचना पर टिप्पणियाँ हैं, गैस ट्रेजडी की घटना जो है उसमें भी एक क्रिटीकल एप्रोच है कि कैसे सरकार, कैसे मुख्यमंत्री और कैसे उस समय की घटनाएँ और कैसे खुद कार्बाइड-ये जो गैस ट्रेजडी हुई, उसमें जो यूनियन कार्बाइड है, उसके मालिकों की पक्षधरता भी डॉक्टरों में मौजूद है और कैसे उसकी तरफदारी करने वाले लोग हैं, पुलिस के लोग हैं, तमाम लोग हैं। तो वो जो उसके भीतर के इनर-करेन्ट्स है, उनको भी उस स्पॉट में इशारा करता है। साक्षरता में, वैज्ञानिक यात्रा में तो इन सब जगहों को केवल स्पॉट्स की जगह लेता है। इसके जो जितने खण्ड हैं, उनमें से यदि हम अलग-अलग भी पढ़ें, अलग-अलग खण्ड को पढ़ें तो हमको लगता है कि एक कहानी पूरी होती है और एक कार्तिक और एक मार्क्सवादी कार्यकर्ता और उसका सारा विकास उस पूरे सातों खण्डों को आपस में जोड़ता है। अन्यथा अगर कार्तिक का चरित्र नहीं होता तो शायद एक कहानी की तरह भी इनको पढ़ा जा सकता। तो ये सारी चीज़ें हैं इस उपन्यास में।

मुझे लगता है कि ये जो 'सेल्फ़ क्रिटिसिज़्म' शब्द है, ये और आज की खासतौर से रचनाशीलता में, इस तरह के साक्ष्य बहुत बार अपने को मिलते हैं। जैसा कि मैंने परसाई को कहा और दूसरे सारे उदाहरण मिलते हैं। सेल्फ़ क्रिटिकल होना, तो उसमें कोई एक पात्र या एक घटना सेल्फ़ क्रिटिकल नहीं होती है, उसके सारे पात्र सेल्फ़ क्रिटिकल होते हैं और इस तरह से अपने-अपने व्यवहार में, दो व्यक्तियों के व्यवहार में, घात-प्रतिघात में, उनकी नाटकीयता में वो ऐसा क्रिटिसिज़्म तैयार होता है। जैसे कामरेड मोहन और कार्तिक की जीवन प्रणाली है और उनके व्यवहार हैं, उनके आदर्श हैं ये सब सारा है तो मोहन और कार्तिक के बीच में जो द्वंद्व होना चाहिए, वो हम पंक्तियों के बीच से पढ़ते हैं। हमको ऐसा नहीं लगता है कि इन दोनों के बीच में कोई बहस ऐसी नहीं हुई हो और नहीं हुई हो तो लेखक का काम है कि वो बहस हो। लेखक को तो अपनी तरफ से जोड़ना पड़ेगा, ताकि वह जीवन्त हो

जाये बहस। तो ये जो पात्रों से पात्रों के बीच का जो द्वंद्व है, जैसे महिला पात्रों के बीच में, पुरुष पात्र के बीच में जो द्वंद्व होना चाहिए था, एक समानधर्मिता होनी चाहिए पात्रों को खड़ा करने में। एक लेखक की खूबी ये होती है कि वो विपक्ष में भी उतना रमता है जितना कि अपने पक्ष में रमता है। नायक में जितना रमता है, उतना ही विपक्ष में भी रमता है। तुलसी की खूबी यह है कि वो रावण में भी उतना रमे जितना राम में रमे, इसलिए रावण का चित्र बहुत तेजस्वी बनकर के उभरा है।

तो आमतौर पर समीक्षा में भी यह होता है कि हम पक्षधरता में नायक के पक्ष में हो जाते हैं। नायक को आदर्शवादी मानकर के हम उसके पक्ष में हो जाते हैं और जो विपक्ष के लोग हैं, जैसे- कामरेड मोहन के खिलाफ हम हो जायें उस उपन्यास को पढ़कर के, तो ये जो आलोचना की कमजोरी होती है कि हम जो विपक्ष में जा रहा है, उसके खिलाफ हो गये। ऑब्जेक्टिव होना दोनों तरफ से, तब जाकर के उसमें निष्कर्ष निकलता है। दरअसल, तब समीक्षा भी एक तरह से सेल्फ़ पर्सनल होती है, हम उसका आभ्यांतरीकरण करते हैं पुस्तक का और फिर जैसा लगता है अपना कुछ नमक मिलाकर के, अपना दृष्टिकोण मिलाकर जैसे हमको वामपंथ को क्रिटिसाइज़ करना है तो हमको अच्छा सहारा मिल गया, हमने उसको अपने साथ मिला लिया। तो ऐसा होता है। मगर इस तरह से उपन्यास को नहीं देखा जाना चाहिए। और उपन्यास लेखक को भी इस डायलेटिक्स को ध्यान में रखना चाहिए, तो वो ज़्यादा जीवन्त हो सकता है। वर्णन कौशल इस उपन्यास का अद्‌भुत है। गद्य की जो एक निरन्तरता होती है, गद्य का एक प्रवाह होता है, मूड चेंज करने की एक गद्य में ज़रूरत होती है लिरिक में, वो सारा का सारा निर्बाध ये लेखक करता है और स्थितियों को इस तरह चेंज करता है, बराबर बदलता है कि वो उबाऊ न लगें और पठनीयता लगातार इस उपन्यास की बनी रहे।

तो मित्रो! मुझे ये लगता है कि ये उपन्यास एक ऐसा प्रयोग है, इस दिशा में काम करने वाले लोगों की कमी है, इनसाइडर की तरह क्रिटिकल होने वाले लोगों की कमी है। इसलिए इसके पीछे कोई एक बड़ी परम्परा नहीं है, जिसकी तुलना में ये आगे खड़ा होता। ये स्वयं में एक प्रयोग है, जिस प्रयोग को करने में स्वयं में लोग कतरा रहे हैं। तो एक प्रयोग है। इसलिए अगर इसमें पात्रों के भीतर के द्वंद्व नहीं हैं, पात्रों के भीतरी टकराहटें नहीं हैं या महिलाओं की पर्सनेल्टी को, व्यक्तित्व को पूरी तरह से उन्मोचित नहीं किया गया है ये जो सारी कमजोरियाँ हैं, वो शायद इसलिए हैं कि वो विज़न बीच में है, जो समानान्तर चलता है, जो उसको काम करने का, नये-नये क्षेत्र खोलने का ये जो नयी, उसके अन्दर उद्‌भावनाएँ बार-बार पैदा होती हैं वो लेखक को ऐसा करने नहीं देतीं। उन उद्‌भावनाओं को स्थिर होकर के उनके प्रयोग की सारी प्रणाली सोचकर के और अपने विपक्ष में जो बातें उदित हो सकती हैं, उन सबको भी सहेजकर एक स्ट्रेटेजी हो सकती है काम करने की।

कार्तिक प्रोग्रेसिव है, विज़न है इसके पास, उत्साह है, तमन्नाएँ हैं, महत्त्वाकांक्षाएँ

(समूह–चित्र में प्रह्लाद अग्रवाल, मुकेश वर्मा, महेन्द्र गगन, साधना अग्रवाल, कमला प्रसाद, नमिता सिंह, राजेन्द्र यादव, कुँवरपाल सिंह, बलराम गुमास्ता, संतोष चौबे, मनोहर वर्मा, अरुणेश शुक्ल आदि)

हैं सबकुछ है और बहुत तेजी से वो एक जनाधार विकसित करना चाहता है, विज्ञान को जनता के लिए उपयोग में लाने के प्रयोग करना चाहता है। ये प्रयोग बहुत कम होते हैं, इसलिए ये नवाचार लगता है। पर इसके लिए ज़रा ठहरकर, ज़रा सोचकर स्ट्रेटेजीज़ काम की जो होती है, जहाँ संगठन है वहाँ एक रणनीति होती है, एक पॉजीटिव स्ट्रेटेजीज़ होती है। तो वो स्ट्रेटेजीज़ शायद उसके दिमाग़ में नहीं आती, वो एक दिशा की तरफ बढ़ता हुआ दिखाई देता है। इसलिए उस अभाव का अगर कहीं हमको संकेत दिखाई देता है तो शायद उसकी कमी के कारण है। भविष्य में शायद और एनालिटिकल और क्रिटिकल होगा, जो तीसरा खण्ड होगा। तो मुझे लगता है जैसा राजेन्द्र जी ने कहा कि ये तीसरे खण्ड के बाद ही पूरा होगा। ज़ाहिर है क्योंकि अभी कार्तिक कहाँ गया, इस बात को पकड़ना बड़ा मुश्किल है। कार्तिक को कहीं न कहीं जाना है, कहीं न कहीं पहुँचना है। उस आदर्श के लिए उसे पलायन नहीं करना है, उस आदर्श के लिए उसे अभी लड़ना है। आदर्श वही है। ये अनुसंधान, ये खोज, से सच की तलाश ये सारी की सारी अभी जारी है। ये बीच में रुका हुआ उपन्यास है, इसको आगे पूरा होना है। और मुझे लगता है कि तीसरा खण्ड बहुत रोचक और ज़्यादा उत्साहवर्धक होना चाहिए। मैं इन्हीं उम्मीदों के साथ सभी साथियों को, जो यहाँ मौजूद हैं धन्यवाद देता हूँ।

रेखा कस्तवार

कमला प्रसाद जी से राजेन्द्र यादव जी की जिज्ञासा है, आप सभी से अनुरोध है कि कृपया अपनी जगह पर रहें, जगह छोड़ें नहीं प्लीज।

राजेन्द्र यादव

जिज्ञासा ये है, जैसे मैंने कहा कि पुराने व्यक्तिवादी उपन्यासों या नायकों का हैंगओवर इस नायक पर ज़्यादा है। ये नायक सर्वगुण सम्पन्न है, बाकी लोग जो हैं बाधा देते हैं। स्त्रियों की उपस्थिति उसके काम को, जिसे ग्रीस करना कहते हैं, कहीं न कहीं एक्सीलरेटेड करने के लिए काम आती है। और ये जो सबसे सही होने की भावना है, ये कहाँ ले जायेगी कार्तिक को? ये जिज्ञासा है।

रेखा कस्तवार

'सरोकार' की ओर से मैं मुकेश जी को आमंत्रित करती हूँ आभार के लिए।

मुकेश वर्मा

मैं अपने अतिथियों का, अपने वक्ताओं का और आप सभी लोगों का शुक्रगुज़ार हूँ। इस खास सत्र के लिए मैं आपका आभारी हूँ।

(समूह चित्र के साथ सत्र समाप्त)

परब

राष्ट्रीय सहारा

'क्या पता कॉमरेड मोहन' सच की तलाश करता उपन्यास

राजेश कुमार

जिन दो चीज़ों ने आज के यथार्थ की पहचान को मुश्किल बनाया है वे हैं सूचना और जानकारी का विस्फोट तथा जीवन की बढ़ी या बढ़ती हुई गति। अचानक हमें लगने लगा है जैसे जीवन को जानने-पहचानने की जो हमारी शक्तियां थीं, हमारी संवेदना थी, हमारी इंद्रियां थीं, वे अपर्याप्त सी हो गई हैं। कि सूचना का, जानकारी का एक कुहासा सा हमारे चारों ओर घिर आया है। एक वृत्त है जिसके भीतर हम घिरे हुये हैं, वह घूम रहा है हमारे साथ-साथ, हमारे चारों ओर, और उसने जैसे हमारी देख पाने की, सोचने-समझने की, शक्ति को कुंद सा कर दिया है। या कि तीव्र गति से चलने वाली एक रेलगाड़ी है जो इतनी तेजी से हमारे सामने से गुज़र रही है कि उसकी खिड़कियों के भीतर घट रहा यथार्थ हमें ठीक-ठीक दिख नहीं पाता। और अगर प्लेटफार्म भी गाड़ी के साथ-साथ भाग रहा है तो फिर सब कुछ रुका हुआ है, स्टैटिक है, इतना कि हम जड़वत् हो गये हैं, हस्तक्षेप नहीं कर पा रहे। यथार्थ से घिर जाने या उसकी गतिशीलता के समकालीन (समगतिशील) न होने पाने की जो हमारी अक्षमता है, वह कितनी सच है और कितनी सिर्फ प्रतीति?

संतोष चौबे का नया उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' इसी पृष्ठभूमि में सच की तलाश करता नज़र आता है। उपन्यास का नायक कार्तिक स्वप्नजीवी है और अपने जीवन के प्रारंभ में हासिल की गई इतिहास दृष्टि के साथ समाज को बदलने का स्वप्न देखता है। वह अपने इसी स्वप्न के साथ जीवन की उड़ान पर निकलता है, स्थापित सामाजिक मान्यताओं तथा कैरियर और प्रगति के बहुप्रचलित मॉडल्स को पीछे छोड़ते हुये। वह अपने लिये वामपंथी राजनीति और आंदोलन का कठोर रास्ता चुनता है जहाँ धीरे-धीरे पार्टी, आंदोलन और सामाजिक रिश्तों की सच्चाईयाँ खुलती हैं और कार्तिक को नये धरातल पर सोचने को मजबूर करती हैं। उपन्यास में दो कथायें समानांतर रूप से चलती हैं। एक में कार्तिक है, उसकी पत्नी नीति है

और अम्मा हैं तथा दूसरे में उसके सहयोगी रामनारायण, सरफराज़, लक्ष्मण सिंह, नताशा, उमा तथा कॉमरेड मोहन हैं जो पार्टी और आंदोलन के उसके साथी हैं। एक में कार्तिक का व्यक्तिगत जीवन है और दूसरे में सामाजिक, जो कहीं साथ-साथ चलता है और कहीं एक दूसरे से टकराते हुये दिखता है। नये दृश्य बनते हैं, बिगड़ते हैं। नये विचार जन्म लेते हैं, मरते हैं। जीवन, खुशी, प्रेम और मान्यता के दार्शनिक सवाल खड़े होते हैं और उत्तर पाते हैं।

इन्हीं के बीच से उपन्यास का फलक विस्तार पाता है और वामपंथी राजनीति की वर्तमान समस्याओं से जूझता नज़र आता है। एक ओर तो वह उत्तर भारतीय संदर्भों में नवजागरण या क्रांति, रेडिकल या रिफॉर्म, क्षुद्र राजनीतिक लाभ या व्यवसायिक नैतिकता, जनवादी केंद्रीयता या लोकतांत्रिक खुलापन जैसे सवालों को उठाता है तो दूसरी ओर अन्य विचारधाराओं, जैसे गांधीवाद या हिंदू राष्ट्रवाद की समालोचना भी करता है। उपन्यास का ताना बाना कुछ इस तरह बुना गया है कि उसमें से रोशनी और हवा लगातार आती रहती है। वह एक ऐसे खुले हुये घर की तरह है जिसमें लोगों और विचारों की आवाजाही लगातार बनी रहती है। रेडिकल रिफॉर्म में जुटी कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं तथा भोपाल गैस त्रासदी की पृष्ठभूमि ने इस पूरी बहस को जीवंत बनाने में मदद की है। टेक्स्ट के स्तर पर उपन्यास नये ढांचों का प्रयोग करता है और भाषा तथा प्रस्तुति के नये उपकरणों का इस्तेमाल करता है। कहानियों के भीतर कहानियाँ, अध्यायों के भीतर अन्वितियाँ तथा आखिरी अध्याय में रेसोनेंस, उपन्यास पर उत्तर आधुनिक प्रभावों की ओर इशारा करते हैं। उपन्यास के सबसे खूबसूरत प्रसंगों में से कुछ प्रसंग वे हैं जहाँ लेखक ने मानवीय प्रेम तथा करुणा जैसी अनुभूतियों का चित्रण किया है। चाहे वह रति एवं फॉदर विलियम्स का प्रेम हो या कार्तिक तथा नीति का या फिर अम्मा और कार्तिक के बीच मां बेटे का प्यार, संतोष वहाँ पाठक की सहानुभूति बटोरने में पर्याप्त रूप से सफल रहते हैं।

उपन्यास का एक रोचक बिंदु वह है जहाँ कथानायक कार्तिक, प्रसिद्ध वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन की आत्मकथा से टकराता है। डार्विन अपनी आत्मकथा में कहते हैं -

उपन्यास का नायक कार्तिक स्वप्नजीवी है और अपने जीवन के प्रारंभ में हासिल की गई इतिहास दृष्टि के साथ समाज को बदलने का स्वप्न देखता है। वह अपने इसी स्वप्न के साथ जीवन की उड़ान पर निकलता है, स्थापित सामाजिक मान्यताओं तथा कैरियर और प्रगति के बहुप्रचलित मॉडल्स को पीछे छोड़ते हुये। वह अपने लिये वामपंथी राजनीति और आंदोलन का कठोर रास्ता चुनता है जहाँ धीरे-धीरे पार्टी, आंदोलन और सामाजिक रिश्तों की सच्चाईयाँ खुलती हैं और कार्तिक को नये धरातल पर सोचने को मजबूर करती हैं।

'लगभग तीस वर्षों की उम्र तक मुझे कविता बेहद पसंद थी। मुझे उससे बहुत आनंद प्राप्त होता था। स्कूल के समय में मुझे शेक्सपियर, विशेषकर उनके ऐतिहासिक नाटक, बहुत अच्छे लगते थे। मुझे चित्र देखने में आनंद आता था और संगीत सुनने में तो उससे भी कहीं अधिक मज़ा मिलता था। लेकिन पिछले कई सालों से मुझसे कविता की एक लाइन बर्दाश्त नहीं होती, शेक्सपियर मुझे भयानक बोरियत से भर देते हैं, चित्रों और संगीत से मुझे कोई आनंद नहीं मिलता। मेरा दिमाग़ एक ऐसी मशीन की तरह हो गया है जिसके सामने अगर ढेरों तथ्य रख दिये जायें तो वह तुरंत निष्कर्ष निकाल देगी। मैं समझ नहीं पाता कि संगीत, साहित्य और उच्चतर आनंद के लिये ज़िम्मेदार दिमाग़ का मेरा वही हिस्सा क्यों कुंद हो गया है। पर मैं इतना समझ पाता हूँ कि दिमाग़ के उस हिस्से के कुंद होने से मेरे जीवन से खुशी गायब हो गई है, और इससे शायद मेरी बुद्धि एवं नैतिक चरित्र पर भी फर्क पड़ रहा है।'

यह उपन्यास में सतत चलती बहस का वह मोड़ है जहाँ कार्तिक अपने आप को सोच के नये धरातल पर पाता है, कॉमरेड मोहन से सवाल पूछता हुआ। कहा जा सकता है कि संतोष का यह उपन्यास एक नई ज़मीन तोड़ता है और पाठकों से एक नये ज्ञानात्मक मानचित्र की मांग करता है।

हिन्दुस्तान

व्यक्ति और समष्टि के तिर्यक सम्बंध की विडंबनाएँ

प्रह्लाद अग्रवाल

रचनात्मकता में व्यक्ति और समष्टि का संघर्ष मात्र आंतरिक नहीं होता। वह आंतरिक से बढ़कर व्यावहारिक जीवन में रचनाकार को प्रभावित करता है। सामाजिक-राजनीतिक संगठनों में प्रखर व्यक्तित्वों की उपेक्षा और अधकचरे जोड़-तोड़ सिद्ध महत्वाकांक्षियों की प्रतिष्ठा के चमकदार प्रसंग सामने आते ही रहते हैं। सामाजिक जीवन की यह विडम्बना अनेक प्रतिभाओं के असमय नष्ट हो जाने का कारण बनती है और समाज के उन्नयन की रचनात्मक धारा बाधित होती है। व्यक्तिगत अहम्मन्यताएँ सामाजिक प्रगति को विरूपित करती हैं। ऐसे हालात उन सामाजिक राजनीतिक-सांस्कृतिक संगठनों के लिए सर्वाधिक घातक हैं जो तरक्कीपसन्द हैं और अवाम के हितों की राजनीति करते हैं। 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में लेखक एक अत्यन्त ऊर्जावान वैज्ञानिक कार्तिक के सृजन के प्रति समर्पण और पार्टी की रीति-नीति के नियामकों के बीच उपस्थित होने वाले संघर्ष से विनष्ट होने वाली रचनात्मकता की व्यथा का

सम्मोहक चित्र प्रस्तुत करता है।

कथाकार होने के साथ ही संतोष चौबे एक समर्थ वैज्ञानिक हैं। जनविज्ञान और साक्षरता आन्दोलनों में उनकी सक्रिय भागीदारी रही है। वे म.प्र. विज्ञान सभा, भारत ज्ञान-विज्ञान समिति और ऑल इंडिया सोसायटी फॉर इलेक्ट्रॉनिक्स एंड कम्प्यूटर टेक्नॉलॉजी के प्रथम सचिव रहे हैं। उन्होंने भारतीय इंजीनियरिंग सेवा और प्रशासनिक सेवा में चयन होने के बावजूद सामाजिक जीवन में प्रवेश किया और कम्युनिस्ट पार्टी के अंतर्गत रचनात्मक कार्यों में स्वयं को समर्पित किया। वर्तमान कैरिअरिस्टिक जमाने में यह कृत्य अजूबा ही कहा जायेगा। दरअसल कथानायक स्वयं लेखक ही है और अपने रचनात्मक संघर्ष और उत्पीड़न को ही उन्होंने कथा का जामा पहना दिया है। कथा के अनेक पात्र जैसे कार्तिक, कामरेड मोहन, रामनारायण, अपूर्वानन्द आदि राजनीतिक सांस्कृतिक क्षेत्रों में कार्यरत सुपरिचित व्यक्तित्वों के रूप में पहचाने जा सकते हैं। यह संघर्ष-चेतना पाठक को गहराई से प्रभावित करती है और लेखक की व्याकुल मानसिकता से उसका तादात्म्य स्थापित होता है। नायक की व्यथा पाठक को उस संकीर्णता के विरुद्ध खड़ा करने में समर्थ है जो व्यक्तिगत प्रलोभनों की कोख से उपजती है, जहाँ निजी स्वार्थ सामाजिक उत्थान की राह में रोड़ा बन जाते हैं और रचनात्मक सामाजिक आन्दोलन व्यक्तिगत प्रवंचनाओं की आँच में झुलस जाते हैं।

कथाकार होने के साथ ही संतोष चौबे एक समर्थ वैज्ञानिक हैं। जनविज्ञान और साक्षरता आन्दोलनों में उनकी सक्रिय भागीदारी रही है। वे म.प्र. विज्ञान सभा, भारत ज्ञान-विज्ञान समिति और ऑल इंडिया सोसायटी फॉर इलेक्ट्रॉनिक्स एंड कम्प्यूटर टेक्नॉलॉजी के प्रथम सचिव रहे हैं। उन्होंने भारतीय इंजीनियरिंग सेवा और प्रशासनिक सेवा में चयन होने के बावजूद सामाजिक जीवन में प्रवेश किया और कम्युनिस्ट पार्टी के अंतर्गत रचनात्मक कार्यों में स्वयं को समर्पित किया। वर्तमान कैरिअरिस्टिक जमाने में यह कृत्य अजूबा ही कहा जायेगा।

उपन्यास में इस सत्य की स्थापना बलपूर्वक की गई है कि वर्तमान समय की तीव्रतम गति के साथ तालमेल बनाने में पहले से निर्धारित की गईं धारणाओं का प्रक्षेपण हमें किसी मुकाम तक नहीं ले जा सकता। विचार से पहले मनुष्य है, दुनिया का सारा ज्ञान-विज्ञान इसी मनुष्य की बेहतरी के लिए है। विचार को वस्त्रों की तरह पहिना, ओढ़ा-बिछाया नहीं जा सकता। वह क्रिया की आंतरिक ऊर्जा है। उसे तलवार की तरह लहराया नहीं जा सकता। यथार्थ को पहचानने की आलोचनात्मक दृष्टि को खोकर हम विचारधारा को विकसित करने की जगह उसकी प्रभावोत्पादक प्रसार क्षमता को लुंठित कर देते हैं।

लेखक उन परिस्थितियों का विस्तार से वर्णन करता है जो कॉमरेड मोहन के

व्यक्तित्व को एक जुझारू कार्यकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। किस तरह वे जीवन की सामान्य गतिविधियों से कटकर एक प्रतिभा के रूप में तब्दील हो जाते हैं। किस तरह समष्टि में स्वयं के व्यक्तित्व को विलोपित कर देने की भावना से ओतप्रोत कॉमरेड मोहन निजी उन्नयन की पदातुरता से घिर जाते हैं। वे अपनी नीर-क्षीर विवेक दृष्टि खो देते हैं और रचनात्मक कार्यों की सफलता की अपेक्षा व्यक्ति विशेष के उत्थान-पतन को संयोजित करने के उपकरण मात्र बनकर रह जाते हैं। उन्हें लक्ष्मण सिंह और सरफराज की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं के अँधेरे इस तरह घेर लेते हैं कि कार्तिक और समानधर्मा रचनात्मक व्यक्तित्वों का सार्वजनिक जीवन के प्रति गहन समर्पण दिखलाई ही नहीं देता। दरअसल, इस तरह वे स्वविवेक के ही विरुद्ध खड़े हो जाते हैं। यही विवेकहीनता उन्हें आत्महत्या की दारुण स्थिति में पहुँचा देती है। कार्तिक को कोई स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। कामरेड मोहन की आत्महत्या के रूप में उपस्थित हुई विडम्बना स्वयं जैसे सबकुछ स्पष्ट कर देती है। इसीलिए अंत में कार्तिक को कॉमरेड मोहन जीवन मुक्त होकर यह कहते नजर आते हैं- 'अब कोई जरूरत नहीं है कॉमरेड कार्तिक, (किसी भी स्पष्टीकरण की) मेरे पास भी अपनी फाइल है जिसमें वही है जो तुम्हारी फाइल में है- माँ, प्रेम, संगीत, साहित्य, बचपन और दोस्त!'

लेखक ने स्पष्टतापूर्वक यह स्थापित किया है कि सामाजिक सांस्कृतिक आन्दोलनों को महज पॉलिटिकल निर्णयों के आधार पर संचालित नहीं किया जा सकता। वहाँ नैतिक और व्यवहारिक दृष्टि की उपेक्षा आत्मघाती होती है। ऐसा होने पर क्रांतिकारी पार्टी का सोचना-समझना भी अन्य दकियानूसी पार्टियों की तरह हो जाता है। जब व्यक्तिगत वजूद सर्वोपरि हो जाए तो फिर हमें किसी वास्तविक उपलब्धि की अपेक्षा नहीं करना चाहिए। इसलिए कि ऐसा होने पर क्रांतिकारी दल भी राजनीति के बियाबान में सिमटकर अपनी धार खो देते हैं।

संतोष चौबे का किसी सीमा तक यह आत्मकथात्मक उपन्यास उन सभी को अपने भीतर झाँकने और व्यक्तित्व की जाँच पड़ताल करने का अवसर देता है जो राजनीतिक सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में बेहतरी के क्रियाकलापों के प्रति समर्पित हैं। नीति, नताशा, उमा, रति में से किसी भी नारी पात्र को पूर्ण विकसित नहीं किया गया, यह इस उपन्यास की इकलौती व्यथा है।

अपने इस वृहद उपन्यास में लेखक रोचकता को अत्यन्त गम्भीर वातावरण के बीच भी बनाए रखता है, यह उपलब्धि है। संतोष चौबे ने इस उपन्यास के द्वारा अपने कथाकार व्यक्तित्व को नई ऊँचाई दी है। जीवन में सृजनात्मकता की व्यवहारिक विसंगतियों का निरूपण कथाकार ने बहुत सहजता से किया है। व्यक्ति और समष्टि के तिर्यक सम्बन्ध की बारीकियाँ रचनात्मक व्यवहारिकता के द्वारा ही उजागर हो सकती थीं। लेखक इस दृष्टि से सफल है और पाठक निश्चित ही इसमें अपनी दृष्टि निर्धारित कर किसी मंतव्य तक पहुँच सकने की राह खोज सकता है।

जनसत्ता

वैचारिक आंदोलनों से उपजा मोहभंग

नीलकंठ

सुपरिचित कथाकार संतोष चौबे का दूसरा उपन्यास है- क्या पता कॉमरेड मोहन। इसमें जिन समस्याओं को उठाया गया है उनका सीधा संबंध शोषित, पीड़ित, वंचित लोगों से है। मगर समस्याओं के विरुद्ध संघर्ष करने वाले या तो बुद्धिजीवी हैं या बुद्धिजीवी होने का ढोंग करने वाले लोग। भोपाल गैस कांड से प्रभावित लोगों को केन्द्र में रखकर बुनी गई इस कथा में अशिक्षा, बेरोजगारी, स्वास्थ्य, सांप्रदायिकता, पूँजीपतियों, बुद्धिजीवियों और राजनेताओं के गठजोड़ आदि को भी दिखाने की कोशिश की गई है। कार्तिक, नीति, नताशा, उमा, सरफराज, लक्ष्मण सिंह, रामनारायण, फादर स्टैनली, विजय सक्सेना, कामरेड रमेश, कामरेड मोहन, नारायणन, सर्वोदयी और समाजवादी नेता जैसे पात्र संगठन से जुड़कर अपनी-अपनी दृष्टि से समस्याओं के समाधान का प्रयास करते हैं। फिर प्रारंभ होता है संघर्ष का अंतहीन सिलसिला। जैसा कि आमतौर पर हमारे देश में होता है कि किसी भयानक त्रासदी के समय तमाम बुद्धिजीवी, सामाजिक संगठनों और राजनेताओं के खून में उबाल आने लगता है, मगर वह जल्दी ही शांत पड़ जाता है। संघर्ष के लिए जो कुछ लोग बच जाते हैं, उनका भी रूप-रंग परिवर्तित होता रहता है। आर्थिक दृष्टिकोण रखने वालों के लिए यह एक अलग तरह का अवसर होता है।

मगर कार्तिक सच को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते विचारधारा, आंदोलन और राजनीति के क्षेत्र में चला आता है। राजनीति और विचारधारा के माध्यम से सच ढूँढ़ने वाले लोगों से उसका रास्ता अलग है। यही कारण है कि बने-बनाए ढाँचे में वह कहीं भी अपने आपको फिट नहीं पाता। तर्क और विज्ञान उसके मूल अस्त्र हैं। कार्तिक का मित्र केदार जो किसी आंदोलन में संघर्ष करते हुए मारा जाता है, उसे बार-बार याद आता है। केदार पात्र के साथ-साथ उसके अंतर्मन में मौजूद सच की छाँह भी है। जब भी कार्तिक किंकर्तव्यविमूढ़ होता है, अनिर्णय की स्थिति में होता है, केदार प्राणवान हो उठता है।

कार्तिक का चयन भारतीय प्रशासनिक सेवा के लिए हो जाता है। मगर वह अंदर से खुश नहीं होता और उसकी सार्थकता और निरर्थकता पर विचार करने लग

जाता है। कुछ सार्थक करने की इस ललक में उसकी पत्नी नीति उसका समर्थन करती है। कार्तिक सामाजिक कार्यों और जनआंदोलनों से जुड़ जाता है। भोपाल गैस त्रासदी के पीड़ितों की मदद में वह सक्रिय भूमिका निभाता है और लंबी लड़ाई के लिए मित्रों के साथ मिलकर एक शक्तिशाली नेटवर्क तैयार कर लेता है। वह लोगों में वैज्ञानिक चेतना पैदा करने की मुहिम भी चलाता है।

यहाँ पार्टी से महत्वपूर्ण व्यक्ति और क्षेत्र हैं। जानबूझ कर जनआंदोलनों में षड्यंत्रकारी और अयोग्य लोगों को बढ़ावा दिया जाता है ताकि व्यक्ति के माध्यम से आंदोलनों पर नियंत्रण बना रहे। लोकतांत्रिक पद्धति के नाम पर सारे अधिकार और निर्णय केंद्रीय समिति के लोगों ने अपने पास सुरक्षित कर रखे हैं। इस माहौल में कार्तिक का दम घुटने लगता है। वह जनहित के लिए नए और रचनात्मक प्रयोगों की वकालत करता है। नतीजतन उसे बदनाम कर, क्रांति-विरोधी करार देकर पार्टी से निकाल दिया जाता है।

तभी मित्रों के माध्यम से उसका संपर्क सबसे वैज्ञानिक कही जाने वाली मार्क्सवादी पार्टी से होता है। वह पार्टी से जुड़ जाता है और गैस त्रासदी से संबंधित आंदोलनों के लिए पार्टी से समर्थन प्राप्त करता है। मगर जल्द ही वह समझ जाता है कि यहाँ पार्टी से महत्वपूर्ण व्यक्ति और क्षेत्र हैं। जानबूझ कर जनआंदोलनों में षड्यंत्रकारी और अयोग्य लोगों को बढ़ावा दिया जाता है ताकि व्यक्ति के माध्यम से आंदोलनों पर नियंत्रण बना रहे। कामरेड मोहन, रमेश और टीआरसी जैसे लोगों के व्यवहार से वह समझ जाता है कि लोकतांत्रिक पद्धति के नाम पर सारे अधिकार और निर्णय केंद्रीय समिति के लोगों ने अपने पास सुरक्षित कर रखे हैं। ये लोग किसी भी आंदोलन और व्यक्ति को अपने बने-बनाए ढाँचे से बाहर नहीं देखना चाहते। इस माहौल में कार्तिक का दम घुटने लगता है। वह जनहित के लिए नए और रचनात्मक प्रयोगों की वकालत करता है। नतीजतन उसे बदनाम कर, क्रांति-विरोधी करार देकर पार्टी से निकाल दिया जाता है।

पिछले बीस वर्षों में किए अपने सारे कार्य उसे निरर्थक लगने लगते हैं। इस निरर्थकताबोध से बचने के लिए कभी वह समाजवादी और सर्वोदयी आंदोलनकारियों से संपर्क करता है तो कभी फादर स्टैनली से। मगर सत्य और शांति के लिए भटकता उसका मन हर किसी को अपूर्ण पाता है। हाँ, यह बात उसकी समझ में जरूर आ जाती है कि बड़ी-बड़ी विचारधाराओं से बेहतर हैं छोटे-छोटे सार्थक कार्य, जो लोगों के जीवन को सीधे-सीधे सुधार सकें। तब कार्तिक को लगता है कि माँ, पत्नी, प्रेम, संबंधी, घर-बार त्यौहार और उल्लास जीवन में सुख शांति और संतुष्टि के लिए सामाजिक कार्यों और महान विचारों से कम महत्वपूर्ण नहीं होते।

ऐसी मनःस्थिति में उसके पास एक बार फिर केदार आता है। केदार उसे समझाता है कि हर व्यक्ति को अपना सत्य खुद ही ढूँढ़ना पड़ता है, 'सच असल में बहुत कांप्लैक्स चीज है; वह अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग हो सकता है।' आगे छह प्रमुख विचारों की चर्चा करते हुए वह बताता है कि व्यक्ति अपने 'अँधेरे समय' में किस प्रकार किसी एक विचार को चुन लेने की गलती कर बैठता है जबकि ये सभी उन्नीसवीं सदी के विचार हैं। बीसवीं सदी में इनमें कोई इजाफा नहीं हुआ, सिर्फ उनका प्रभाव बढ़ा है।

इस उपन्यास में आंदोलनों और विभिन्न विचारों के आपसी विमर्श के संदर्भ में लेखक कई बार ज्ञानात्मक विवरण और उपदेश की मुद्रा में आ जाता है। जहाँ-जहाँ ऐसी स्थिति पैदा हुई है वहाँ-वहाँ उपन्यास की मूल संवेदना और कथा प्रवाह का रसभंग हुआ है। वैचारिक स्तर पर इस उपन्यास में उत्तर आधुनिकता से उठे विमर्श का साहित्यिक प्रतिफलन भी दिखाई पड़ता है।

इंडिया टुडे

कामरेड के मोहभंग की कथा

साधना अग्रवाल

इधर हिंदी कथा साहित्य में 'मोहनदास' (गांधी) की ही नहीं बल्कि कॉमरेड की भी उसी तरह चर्चा है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में सोवियत संघ का पतन वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी की नौकरशाही के आतंक के कारण जिस तरह हुआ, अब हमारी आँखों के सामने है। इसके बरक्स भारतीय वामपंथी पार्टियों के विकास और स्वतंत्रता के बाद के इतिहास पर हम गौर करें तो यह स्पष्ट होता है कि कभी अखिल भारतीय चरित्र वाली वामपंथी पार्टियों का जनाधार प्रायः सिमटता गया है। हिंदी कथा साहित्य में संभवतः सबसे पहले यशपाल ने अपने उपन्यास 'दादा कामरेड' में, फिर रेणु ने अपनी कहानी 'आत्मसाक्षी' में और उसके बाद सृंजय की कहानी 'कामरेड का कोट' में इन पार्टियों में एक साधारण काडर की हैसियत और बॉस के आतंक की तरफ संकेत किया गया था।

संतोष चौबे के उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' की कथा के केंद्र में एक ऐसा प्रतिभाशाली और तेजस्वी युवक कार्तिक है, जिसका सपना अपनी सक्रियता से समाज और राष्ट्र को बदलने का है। वह आइएएस की प्रतियोगी परीक्षा में वरीयता क्रम से चुने गए पहले सौ की सूची में भी आता है। कार्तिक पेशे से इंजीनियर है

लेकिन प्रतियोगी परीक्षा के लिए उसने साहित्य और इतिहास विषय चुने। वह अपने समय और समाज को इतिहास से समझने की कोशिश करता है और भोपाल तथा आसपास के ऐतिहासिक खँडहरों में पत्नी नीति के साथ घूमते हुए अतीत को वर्तमान से जोड़ने की कोशिश करता है। लेकिन इसी बीच अपने एक जनसंघर्ष में दोस्त केदार की हत्या के कारण अब तक अपने यथार्थ की समझ से उसका मोहभंग हो जाता है और अंततः भारतीय प्रशासनिक सेवा में जाने का विचार छोड़कर वह सामाजिक परिवर्तन के वैकल्पिक रास्ते को तलाश करते एक वामपंथी दल का सदस्य बन जाता है। इस पार्टी का संकट यह है कि प्रदेश में पार्टी का जनाधार संकुचित होने के कारण लोगों के बीच पार्टी की लोकप्रियता नहीं है।

यही कारण है कि कालांतर में पार्टी सचिव कामरेड मोहन पार्टी की विफलता की जिम्मेदारी कार्तिक पर डालते हुए उसे 'कारण बताओ' नोटिस देते हैं। कार्तिक स्तब्ध हो जाता है क्योंकि पार्टी की जिस बैठक के बाद उसे नोटिस दिया गया, उसकी पूरी प्रक्रिया न केवल अजनतांत्रिक है बल्कि अंतर्विरोधों से भरी भी। यह सब उसे पार्टी से विमुख कर देता है। उसके दोस्त सरफराज, लक्ष्मण सिंह और रमेश के सिद्धांत और व्यवहार में कितना बड़ा फर्क था? बल्कि, कामरेड रमेश ने, जो पार्टी बैठकों में नैतिकता की दुहाई देते कभी थकता नहीं था, अपनी से आधी उम्र की लड़की से दूसरी शादी कर ली। कार्तिक जब एक गहन अंतर्द्वंद्व और अपने प्रति पार्टी द्वारा किए गए कठोर व्यवहार के ऊहापोह से गुजरते पार्टी से अपना इस्तीफा देकर लौटा था, उसे फोन से सूचना मिलती है कि कामरेड मोहन ने आत्महत्या कर ली। स्तब्ध कार्तिक उसके पोस्टमार्टम से लेकर दाह संस्कार तक में शामिल होता है। मोहन के सुसाइड नोट से पता चलता है कि पार्टी के अपने काम से वे असंतुष्ट थे। अफवाह यह भी है कि कामरेड रमेश के पार्टी पर आतंक की यह परिणति है। उपन्यास वामपंथी दल के चरित्र पर सवाल खड़ा करता समाप्त होता है।

यदि इस उपन्यास का पूर्वार्द्ध लेखक की आत्मकथा लगता है, तो उत्तरार्द्ध सामाजिक परिवर्तन के वैकल्पिक रास्ते की तलाश का उसका सपना। अमूमन इधर लिए गए मोटे उपन्यास उबाऊ और बोझिल होते हैं लेकिन इस उपन्यास की यह खासियत है कि इसमें यदि एक तरफ शिल्प का 'विंड' है तो दूसरी तरफ भाषा की 'वेव्स' भी। यानी भोपाल की श्यामला हिल्स की पृष्ठभूमि पर स्थिति प्रसिद्ध रेस्तराँ 'विंड एंड वेव्स' के सामने की झील की नीली गहराइयाँ। इसलिए वैचारिक दृष्टि से से भी यह उपन्यास विचारणीय है।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उपन्यास की भाषा साफ-सुथरी है। उपन्यास में बेहद पठनीयता भी है, प्रेम-प्रसंग भी हैं।

नताशा, उमा और नीति जैसे नारी पात्र भी हैं लेकिन उपन्यास के विस्तार को अनावश्यक विवरणों से बचाते हुए कम किया जा सकता था। यदि इस उपन्यास का पूर्वार्द्ध लेखक की आत्मकथा लगता है, तो उत्तरार्द्ध सामाजिक परिवर्तन के वैकल्पिक रास्ते की तलाश का उसका सपना। अमूमन इधर लिए गए मोटे उपन्यास उबाऊ और बोझिल होते हैं लेकिन इस उपन्यास की यह खासियत है कि इसमें यदि एक तरफ शिल्प का 'विंड' है तो दूसरी तरफ भाषा की 'वेव्स' भी। यानी भोपाल की श्यामला हिल्स की पृष्ठभूमि पर स्थिति प्रसिद्ध रेस्तराँ 'विंड एंड वेव्स' के सामने की झील की नीली गहराइयाँ। इसलिए वैचारिक दृष्टि से से भी यह उपन्यास विचारणीय है।

विषयवस्तु

उपन्यास की नई ज़मीन

संजय सिंह

संतोष चौबे का नया उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' आज के समय में सच की तलाश करता नज़र आता है। उपन्यास का नायक कार्तिक स्वप्नजीवी है और अपने जीवन के प्रारंभ में हासिल की गई इतिहास दृष्टि के साथ समाज को बदलने का स्वप्न देखता है। वह अपने इसी स्वप्न के साथ जीवन की उड़ान पर निकलता है, स्थापित सामाजिक मान्यताओं तथा कैरियर और प्रगति के बहुप्रचलित मॉडल्स को पीछे छोड़ते हुए। वह अपने लिए वामपंथी राजनीति और आंदोलन का कठोर रास्ता चुनता है जहाँ धीरे-धीरे पार्टी, आंदोलन और सामाजिक रिश्तों की सच्चाइयाँ खुलती हैं और कार्तिक को नये धरातल पर सोचने को मजबूर करती हैं।

उपन्यास में दो कथाएँ समानांतर रूप से चलती हैं। एक में कार्तिक है, उसकी पत्नी नीति है और अम्मा हैं तथा दूसरे में उसके सहयोगी रामनारायण, सरफराज़, लक्ष्मण सिंह, नताशा, उमा तथा कॉमरेड मोहन हैं जो पार्टी और आंदोलन के उसके साथी हैं। एक में कार्तिक का व्यक्तिगत जीवन है और दूसरे में सामाजिक, जो कहीं साथ-साथ चलता है और कहीं एक दूसरे से टकराते हुए दिखता है। नये दृश्य बनते हैं, बिगड़ते हैं। नये विचार जन्म लेते हैं, मरते हैं। जीवन, खुशी, प्रेम और मान्यता के दार्शनिक सवाल खड़े होते हैं और उत्तर पाते हैं।

इन्हीं के बीच से उपन्यास का फलक विस्तार पाता है और वामपंथी राजनीति की वर्तमान समस्याओं से जूझता नज़र आता है। एक ओर तो वह उत्तर भारतीय संदर्भों में नवजागरण या क्रांति, रेडिकल या रिफॉर्म, क्षुद्र राजनीतिक लाभ या

उपन्यास का ताना बाना कुछ इस तरह बुना गया है कि उसमें से रोशनी और हवा लगातार आती रहती है। वह एक ऐसे खुले हुए घर की तरह है जिसमें लोगों और विचारों की आवाजाही लगातार बनी रहती है। रेडिकल रिफॉर्म में जुटी कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं तथा भोपाल गैस त्रासदी की पृष्ठभूमि ने इस पूरी बहस को जीवंत बनाने में मदद की है। टेक्स्ट के स्तर पर उपन्यास नये ढाँचों का प्रयोग करता है और भाषा तथा प्रस्तुति के नये उपकरणों का इस्तेमाल करता है। कहानियों के भीतर कहानियाँ, अध्यायों के भीतर अन्वितियाँ तथा आखिरी अध्याय में रेसोनेंस, उपन्यास पर उत्तर आधुनिक प्रभावों की ओर इशारा करते हैं।

व्यवसायिक नैतिकता, जनवादी केंद्रीयता या लोकतांत्रिक खुलापन जैसे सवालों को उठाता है तो दूसरी ओर अन्य विचारधाराओं, जैसे गांधीवाद या हिंदू राष्ट्रवाद की समालोचना भी करता है।

उपन्यास का ताना बाना कुछ इस तरह बुना गया है कि उसमें से रोशनी और हवा लगातार आती रहती है। वह एक ऐसे खुले हुए घर की तरह है जिसमें लोगों और विचारों की आवाजाही लगातार बनी रहती है। रेडिकल रिफॉर्म में जुटी कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं तथा भोपाल गैस त्रासदी की पृष्ठभूमि ने इस पूरी बहस को जीवंत बनाने में मदद की है। टेक्स्ट के स्तर पर उपन्यास नये ढाँचों का प्रयोग करता है और भाषा तथा प्रस्तुति के नये उपकरणों का इस्तेमाल करता है। कहानियों के भीतर कहानियाँ, अध्यायों के भीतर अन्वितियाँ तथा आखिरी अध्याय में रेसोनेंस, उपन्यास पर उत्तर आधुनिक प्रभावों की ओर इशारा करते हैं। उपन्यास के सबसे खूबसूरत प्रसंगों में से कुछ प्रसंग वे हैं जहाँ लेखक ने मानवीय प्रेम तथा करुणा जैसी अनुभूतियों का चित्रण किया है। चाहे वह रति एवं फॉदर विलियम्स का प्रेम हो या कार्तिक तथा नीति का या फिर अम्मा और कार्तिक के बीच माँ बेटे का प्यार, संतोष वहाँ पाठक की सहानुभूति बटोरने में पर्याप्त रूप से सफल रहते हैं।

उपन्यास का एक रोचक बिंदु वह है जहाँ कथानायक कार्तिक, प्रसिद्ध वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन की आत्मकथा से टकराता है।

उपन्यास में सतत चलती बहस का वह मोड़ है जहाँ कार्तिक अपने आप को सोच के नये धरातल पर पाता है, कॉमरेड मोहन से सवाल पूछता हुआ। कहा जा सकता है कि संतोष का यह उपन्यास एक नई ज़मीन तोड़ता है और पाठकों से एक नये ज्ञानात्मक मानचित्र की माँग करता है।

रपट

पहले पहल
निष्पक्ष समाचार-विचार पाक्षिक

प्रथम संस्करण के विमोचन पर आयोजित संगोष्ठी की रपट

क्या पता कॉमरेड मोहन : विचारधारा का जनतंत्र

महेंद्र गगन

श्री संतोष चौबे के ताजा उपन्यास 'क्या पता कामरेड मोहन' का विमोचन विगत दिनों भारत भवन के अन्तरंग सभागार में हुआ। कई मामलों में यह आयोजन नयी परम्परा डाल गया। किसी उपन्यास के विमोचन अवसर पर भारत भवन का सभागार श्रोताओं से खचाखच भरा होना साहित्य समाज के लिए एक शुभ घटना है, क्योंकि अक्सर साहित्य के लोग श्रोताओं की उपस्थिति को लेकर रोना रोते रहते हैं। अधिकांश आयोजन साहित्यकारों के लिए होते हैं और उसमें बहुत छोटा साहित्यिक वर्ग ही शिरकत करता है। आम-आदमी का उससे कोई सरोकार नहीं होता। श्री चौबे ने अपने सांगठनिक प्रयासों से इस मिथ को तोड़ा एवं एक बड़ी उपस्थिति साहित्य प्रेमी समाज की अपने आयोजन में दर्ज करवाई, वह भी तब जब आयोजन में ऐसा कोई चमकदार नाम अतिथि के रूप में नहीं था, जिसकी वजह से लोग इतनी बड़ी तादाद में आयोजन में आते। अतः पूरे आयोजन के केन्द्र में श्री संतोष चौबे और उनका उपन्यास ही रहा। उपन्यास चूँकि व्यक्ति, संगठन, राजनैतिक विचारधारा और उसकी प्रतिबद्धता जैसे विषय पर अनेक सवाल उठाता है, इसलिए कई विवादों को भी आमंत्रित करता है। संभवतः इसी से डर कर कई प्रख्यात साहित्यकार इस कार्यक्रम में शामिल होने से बचते भी पाये गये। बावजूद इसके आयोजन सफल रहा और इसकी गूँज देर तक और दूर तक सुनाई देती रहेगी।

विभिन्न क्षेत्रों में अपनी रचनात्मक सक्रियता दर्ज करवाने वाले श्री संतोष चौबे के ताजा उपन्यास 'क्या पता कामरेड मोहन' का लोकार्पण किया गया। उर्दू के जाने-माने साहित्यकार प्रोफेसर आफाक अहमद ने समारोह की अध्यक्षता की एवं उपन्यास पर समाजसेवी श्री श्याम बहादुर नम्र और आलोचक एवं शिक्षाविद् श्री रमेश दवे ने अपने आलोचनात्मक निबंध का पाठ किया। श्री संतोष चौबे ने उपन्यास की

कथा-वस्तु उसके लिखने के सरोकार आदि पर संक्षिप्त टिप्पणी के साथ उपन्यास के अंश का पाठ किया। कार्यक्रम का संचालन श्री रामप्रकाश त्रिपाठी ने किया एवं आमंत्रित अतिथियों का आभार महेन्द्र गगन ने माना।

आलोचक एवं शिक्षाविद् श्री रमेश दवे ने अपने आलोचनात्मक निबंध में श्री चौबे के उपन्यास पर विस्तार से चर्चा की। उन्होंने कहा कि- 'संतोष चौबे के ताजे उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' के अंतिम अध्याय 'कॉमरेड मोहन' के तीन उद्धरण यह बताते हैं कि व्यक्ति, संगठन, राजनीति, पहचान की प्रतियोगिता, प्रतिबद्धता ये सब ऐसे तत्व हैं जो एक साथ होने के दावे से शुरू होते हैं, एक साथ रहने या होने का नाटक करते हैं, और अंततः एक दूसरे को तोड़ने-गिराने का खेल खेलते हुए खुद भी टूट और बिखर जाते हैं। विचार और विचारधारा व्यक्ति में जिज्ञासा तो जगाती है, उसे आकर्षित भी करती है लेकिन जब जिज्ञासा और आकर्षण से वह व्यक्ति ऊपर उठ कर बौद्धिक और सैद्धांतिक हस्तक्षेप करने लगता है, अपने निष्कर्ष स्वयं निकालने लगता है, अपने संघर्ष की भूमिका स्वयं चुनने लगता है, तो विचारधाराबद्ध संगठन इस प्रकार उस व्यक्ति को लांछित, अपमानित और बहिष्कृत करते हैं कि व्यक्ति का संगठन और विचारधारा दोनों से ही मोहभंग हो जाता है। एक का मोहभंग मोहन की मौत में होता है तो दूसरे का अपने ही आत्मद्वंद्व में, अपनी ही बेचैनी में, और अपने ही असहायपन में। इसका अर्थ यह भी है कि राज हो या राजनीति या संगठन वे अपने अपने ढंग से अपनी आज्ञाकारी प्रजा का निर्माण करना ही अपना मुख्य उद्देश्य मानते हैं।'

श्री रमेश दवे ने आगे कहा कि राजनैतिक लेखन खतरनाक माना जाता है। राजनैतिक और विचारधाराबद्ध संगठन किस प्रकार अपनी प्रजा रचते हैं, किस तरह का नियंत्रणवादी और एकांगी अनुशासन पैदा करते हैं और वहाँ किसी भी प्रकार के विरोध, संवाद या विवाद की हालत क्या होती है, इस बात को इस उपन्यास में एक बड़े फलक पर पेश किया गया है और ऐसे पात्र रचे गये हैं, जो आज भी हमारी चेतना में शामिल हैं और जिनके चलन और चरित्र से हम वाकिफ भी हैं। संतोष ने एक प्रकार से यह जोखिम भी उठाया है। वे एक ऐसे पार्टी संगठन, उसके प्रभावशाली नेतृत्व और तंत्र-ग्रस्त एकाधिकार और उसकी कार्यविधि के आंतरिक भेदों और मतभेदों को उजागर करके स्वयं भी एक खतरा मोल ले रहे हैं और अपनी समूची बौद्धिक और कर्मनिष्ठ प्रतिबद्धता के साथ उससे भिड़ना भी चाहते हैं। यह मामूली हिम्मत का काम नहीं है, क्योंकि संगठन में रह कर संगठन की विसंगतियों को इस तरह बेनकाब करना, खतरनाक माना जाता है।

श्री दवे ने अंत में कहा कि- 'अंतिम अध्याय अधिक संवेदनशील हो उठा है। मोहन की आत्महत्या और वह भी संगठन से हताश होकर, यह बताती है कि संगठन में व्यक्ति का जीना-मरना कोई माने नहीं रखता। वहाँ समर्थन बिना शर्त होता है और विरोध कई बार बिना कारण भी। वहाँ व्यक्ति और संगठन अपने-अपने अहं में

टकराते हैं। विश्वसनीय अविश्वसनीय हो उठते हैं, और जो प्रतिबद्ध और आस्थावान हैं उन्हें जलील होकर संगठन और उसके अधिनायक नायकों से मोहभंग के लिए बाध्य होना पड़ता है।

यहाँ उपन्यास अपनी गहराई भी छूता है। साथ ही संगठन की यांत्रिकता को एक ही वाक्य में तब प्रकट कर देता है जब मोहन की अंतिम यात्रा में कॉमरेड मोहन के सिरहाने खड़ी उसकी पत्नी सरिता का दिल्ली से आई एक महिला लाल सलाम के नारे लगाते वक्त हाथ ऊँचा कर देती है। सरिता की संवेदना से संगठन को कुछ लेना-देना नहीं, वहाँ तो मौत भी रोने का हक नहीं देती बल्कि संवेदना को छीन लेती है। उपन्यास मोहन के जिस क्रांतिकारी आंदोलन के स्वप्न के साथ कार्तिक के अंदर जन्म लेता है, वह स्वप्न मोहन में मर जाता है और कार्तिक में टूट जाता है।'

श्री श्याम बहादुर नम्र ने एक सामाजिक कार्यकर्ता की हैसियत से अपनी बात रखी- उन्होंने कहा कि आजादी के बाद सबकुछ बना, लेकिन सही मायने का प्रजातंत्र नहीं बना। समाज परिवर्तन का जो सपना विभिन्न विचारधाराओं ने देखा था, वह पूरा नहीं हुआ। इसी परिप्रेक्ष्य में यह कहानी लिखी गयी है। उन्होंने सामाजिक संगठनों की सक्रियता और उनके परिणामों की झलक इस उपन्यास में देखी। भोपाल गैस काण्ड के बाद जो सवाल उठे, उन पर चर्चा की। उन्होंने सवाल किया कि क्या उपन्यास सिर्फ राजनैतिक विचारधाराओं और उनके संगठनों की तिकड़मों पर लिखा गया है या जो सवाल हैं, उनका कोई हल खोजना चाहता है? जो नये सामाजिक कार्यकर्ता सामाजिक कार्यों के लिए आना चाहते हैं, उनके लिए यह उपन्यास एक मार्गदर्शक का काम करेगा।

वक्ताओं के विचारों से उत्तेजित हो श्री शैलेन्द्र कुमार शैली ने अपनी बात के जरिए हस्तक्षेप करना चाहा तो आयोजकों ने उन्हें स्वीकृति दी। शैली ने हस्तक्षेप में कहा कि- यह उपन्यास विचारधारा के विरोध में बिलकुल नहीं है। एक कॉमरेड, एक वैज्ञानिक विचारधारा में विश्वास रखने वाला लेखक ही यह साहस कर सकता है। इसके लिए चौबे जी को मैं लाल सलाम करूँगा। मुझे भी प्रारंभ में लग रहा था कि यह उपन्यास उन लोगों को खिल्ली उड़ाने का मौका देगा जो विचारधारा, राजनैतिक चेतना का विरोध करते हैं, लेकिन यह बहुत तात्कालिक होता है।

शैली ने लेनिन के उदाहण से कहा कि कोई भी अंतिम सत्य जैसी चीज नहीं होती। कोई भी कॉमरेड उन्हें वैज्ञानिक चेतना से देखता है और सुलझाता है। यदि कहीं कोई जड़ता है भी तो इसे तोड़ने का प्रयास एक कामरेड ही कर सकता है। वे संगठन जो नागपुर से संचालित होते हैं वहाँ तो ऐसा होता ही नहीं, लेकिन हम लोग ऐसा कर सकते हैं। हममें कहने और सुलझाने का साहस होता है। मैं समझता हूँ इसी दृष्टि से हम चीजों को देखेंगे और सुलझाएँगे। विचारधारा का विरोध जैसी कोई बात है ही नहीं। अंततः चीजों को सही ढंग से कहने का साहस भी विचारधारा के पक्ष में जाता है। मैं समझता हूँ इसी दृष्टिकोण से हम चीजों को देख सकेंगे।

संतोष चौबे के नये उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' का लोकार्पण

संजय सिंह राठौर

प्रख्यात कवि, कथाकार, उपन्यासकार एवं विज्ञानकर्मी श्री संतोष चौबे के नये उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' का लोकार्पण विगत दिनों 'अंतरंग' भारत भवन, भोपाल में सैकड़ों संस्कृतिकर्मियों, कवि, कथाकार व सामाजिक-राजनैतिक कार्यकर्ताओं की मौजूदगी में समारोहपूर्वक किया गया। लोकार्पण समारोह का आयोजन सातवें ''रचना समय'' कार्यक्रम के तहत मध्यप्रदेश जनवादी लेखक संघ, पहले-पहल, सूत्रधार एवं रंग आधार द्वारा संयुक्त रूप से किया गया।

लोकार्पण के पश्चात् श्री संतोष चौबे ने उपन्यास के चुनिंदा अंशों का पाठ वरिष्ठ चित्रकार स्वर्गीय श्री किशोर उमरेकर को समर्पित करते हुए अपने लेखकीय उद्‍बोधन में कहा कि उनका पहला उपन्यास 'राग केदार' सन् १९९० के आसपास आया था जिसे सामाजिक कार्यकर्ताओं के बीच बहुत चर्चा मिली थी। उसकी गूंज अभी तक बाक़ी है, और उस पर पिछले वर्ष ही नाटक खेला गया। उन्होंने आगे कहा कि सन् १९९५ के आसपास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' का प्रारम्भिक कथानक मेरे ज़ेहन में उपजा। कुछ नोट्स, कुछ कहानियाँ, कुछ किस्से धीरे-धीरे लिखे गये और दो तीन साल में मुझे ऐसा लगा कि ये एक तरह की ट्रायलॉजी का दूसरा भाग बनता जा रहा है। 'क्या पता कॉमरेड मोहन' एक तरह से 'राग केदार' का ही दूसरा हिस्सा है और निश्चित ही इसका एक तीसरा हिस्सा भी कभी न कभी ज़रूर लिखा जायेगा।

'क्या पता कॉमरेड मोहन' को लोकार्पित करते हुए म.प्र. जनवादी लेखक संघ के अध्यक्ष एवं उर्दू के सशक्त हस्ताक्षर प्रो. आफ़ाक़ अहमद ने कहा कि संतोष ने अपने इस उपन्यास में किरदार निगारी से जो रास्ता दिखाया है, वो हमें उन बड़े नॉवेलों की याद दिलाता है, जिनकी वजह से न सिर्फ़ वो किरदार अमर हो गये बल्कि वे नॉवेल भी कालजयी कृति के रूप में ख्यातनाम हो गये। उन्होंने आगे कहा कि बहुत से इश्यू, वाक़ियात और मसलों को इस उपन्यास में मौजूँ बनाया गया है और उनके वसीले से संतोष ने अपनी बात बड़ी शिद्दत के साथ कही है। यह उपन्यास कार्तिक व उसके ख़्वाबों की बानगी है। कार्तिक ख़्वाबों को पूरा करना चाहता है। इन्हें

पूरा करने के लिए कार्तिक जिस वैचारिक राह पर सफ़र शुरू करता है, उसमें लाज़िमी तौर पर उसे बेतहाशा मुश्किलों का सामना काफ़ी जद्दोजहद के साथ करना पड़ता है। इन सबके बावजूद पूरी वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ ख़्वाबों को बचाने व उन्हें पूरा करने की संघर्ष भरी राह पर उसका सफ़र बदस्तूर जारी रहता है। उन्होंने आगे कहा कि अगर ज़िन्दगी में हमसे हमारे ख़्वाब ही छीन लिये जायें तो फिर ज़िन्दगी के माने बचता ही क्या है! ये ख़्वाब ही तो हैं जो हमें बेहतर ज़िन्दगी जीने का रास्ता दिखाते हैं। ये ख़्वाब ही तो हैं जो हमें इस बात पर आमादा करते रहते हैं कि हम अच्छी ज़िन्दगी खुद ही न जियें, बल्कि अच्छी ज़िन्दगी हम तभी जी सकेंगे, जब हमारे समाज में खुशहाली होगी और उस खुशहाली के लिए हमें मुख़्तलिफ़ महाज़ों पर जंग करना पड़ेगी और उन लोगों को बेनक़ाब करना पड़ेगा जो हमारी इस समाजी खुशहाली के रास्ते में अपने ज़ाती फ़ायदे के लिए, अपनी ज़ाती व़कात के लिए हमेशा आड़े आते रहते हैं।

म.प्र.विवरणिका

अप्रैल, 2006

वर्ष 4, अंक 11, मूल्य 3 रुपये

लोकार्पित

‘क्या पता कॉमरेड मोहन’ एक मार्मिक बयानी

उपन्यास ‘क्या पता कामरेड मोहन’ कहने को तो एक व्यक्ति की ज़िंदगी को बयान करता है, लेकिन वह व्यक्ति हमें हमारे समाज में हर कहीं नज़र आता है। उसकी आमद यह अहसास दिलाती है कि जिंदगी जीना कितना जोखिम भरा काम है।

ये उद्‌गार हैं, उर्दू के सशक्त हस्ताक्षर प्रोफेसर आफाक अहमद के, जो उन्होंने भारत भवन में यशस्वी साहित्यकार संतोष चौबे की सद्यः प्रकाशित औपन्यासिक कृति ‘क्या पता कॉमरेड मोहन’ के विमोचन के अवसर पर व्यक्त किये।

विमोचन कार्यक्रम के अध्यक्ष प्रोफेसर आफाक ने आगे कहा- चौबे का नाम हिंदी जगत में किसी परिचय का मोहताज नहीं है। कवि, कथाकार एवं उपन्यासकार के अलावा चौबे विज्ञानकर्मी भी हैं जिनकी वैज्ञानिक सोच उनके लेखन का हिस्सा बन खुशहाल समाज के लिये प्रेरणा का सबब बनती है।

बतौर मुख्य अतिथि डॉ. रमेश दवे ने विमोचित कृति के राजनैतिक पक्ष का जिक्र करते हुये कहा- राज हो, या राजनीति, या संगठन ये अपने-अपने ढंग से अपनी आज्ञाकारी प्रजा का निर्माण करना अपना मुख्य ध्येय मानते हैं। उपन्यास पढ़ने से लगता है संतोष ने इसमें अपने व्यापक और बहुआयामी अनुभवों का आत्मवृत्तांत खींचा हैं। शैलेन्द्र कुमार शैली ने इस अवसर पर लोकार्पित उपन्यास के परिप्रेक्ष्य में साहित्य में विचारधारा तथा राजनीतिक चेतना के महत्त्व का उल्लेख किया।

कार्यक्रम का संचालन विनय उपाध्याय और रामप्रकाश त्रिपाठी ने किया। प्रारंभ में श्री चौबे ने उपन्यास का एक अंश का पाठ किया।

लोकार्पण

उपन्यासकार संतोष चौबे के नये उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' का लोकार्पण विगत दिनों 'अंतरंग' भारत भवन, भोपाल में सैकड़ों संस्कृतिकर्मियों, कवि, कथाकार व सामाजिक-राजनैतिक कार्यकर्ताओं की मौजूदगी में समारोहपूर्वक किया गया। लोकार्पण समारोह का आयोजन सातवें 'रचना समय' कार्यक्रम के तहत मध्यप्रदेश जनवादी लेखक संघ, पहले-पहल, सूत्रधार एवं रंगआधार द्वारा संयुक्त रूप से किया गया।

इस अवसर पर वरिष्ठ कवि-कथाकार एवं आलोचक डॉ. रमेश दवे ने कहा कि 'क्या पता कॉमरेड मोहन' आज और अभी का उपन्यास है। यह आत्म अर्जित अनुभवों की एक विराट सत्यकथा है। यह एक ऐसे उन्मेषशील, उत्साही और जनसेवा के जज़्बे से जुड़े युवक कार्तिक की कथा है जो अपनी समग्र बौद्धिकता के साथ संगठन से जुड़ता है, उसमें पूरी निष्ठा, संकल्प और समर्पण से काम करता है, समाज-सेवा के नये-नये आयाम खोज कर अपनी भूमिका को सक्रिय, सकारात्मक और सार्थक करने की कोशिश करता है, किन्तु अंत में संगठन के अन्तर्द्वन्द्व, अन्दर की राजनीति से टकरा-टकराकर निराश हो जाता है। इस उपन्यास की एक सबसे बड़ी खूबी यह है कि इसमें संतोष ने संगठन से अधिक सत्य के प्रति निष्ठा प्रकट की है। व्यक्ति, नेतृत्व या संगठन के कार्यकर्ताओं की चापलूसी की बजाए उनके दोहरे चरित्र को उद्घाटित किया है। जिस संगठन और वैज्ञानिक विचारधारा से जुड़कर कार्तिक ने सामाजिक बदलाव का काम किया, उसे एक गतिशील रूप दिया, उसमें चिन्तन की नई-नई धाराएँ पैदा, वही संगठन कार्तिक के बौद्धिक प्रभाव को सहन नहीं कर पाया। संतोष इस उपन्यास में यद्यपि संगठन और व्यक्ति दोनों के ही छल, छद्म, थोथे दम्भ और षड्यंत्र को अनावृत्त करते हैं, बावजूद इसके अपनी विचारधारागत निष्ठा को नहीं त्यागते, अपनी प्रतिबद्धता से विमुख नहीं होते, बल्कि कोशिश करते हैं कि भले ही अंततः मोहन की आत्महत्या में संगठन की कार्यशैली और आपसी टकराहट का हाथ हो, लेकिन विचारधारा या विचार तब भी नष्ट नहीं होता क्योंकि ख़राब से ख़राब व्यक्ति व्यवस्था तो नष्ट कर सकते हैं, विचार को कभी नष्ट नहीं कर सकते। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि यह उपन्यास एक प्रकार से विचारधारा को उन तत्वों से बचाने का भी साहसिक प्रयास है जो इसका इस्तेमाल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ व प्रभाव के लिए करते हैं।

जयप्रकाश आंदोलन के प्रखर कार्यकर्ता एवं वैकल्पिक विकास के पक्षधर वरिष्ठ शिक्षा शास्त्री श्री श्याम बहादुर नम्र ने लोकार्पण समारोह को नई दिशा देते हुए कहा कि समाज के लिए कुछ कर गुज़रने व समाज को बदलने का जज़्बा लिये जो कार्यकर्ता सामाजिक-राजनैतिक आंदोलनों में शिरकत करना चाहते हैं उनके लिए यह उपन्यास पाठ्य-पुस्तक की तरह है। यह सही व सच की राह तलाशने में 'लाईट हाउस' का काम करेगा। यह उपन्यास अपने विस्तारित फलक के साथ सच की तलाश करता, वामपंथी राजनीति की वर्तमान समस्याओं से जूझता नज़र आता है। टेक्स्ट के स्तर पर उपन्यास नये ढाँचों का प्रयोग करता है और भाषा तथा प्रस्तुति के नये उपकरणों का इस्तेमाल करते हुए पाठकों से एक नये ज्ञानात्मक मानचित्र की माँग भी करता है।

समारोह का संचालन करते हुए वरिष्ठ जनवादी लेखक-आलोचक श्री रामप्रकाश त्रिपाठी ने कहा कि यह बहुत ही विवादास्पद किस्म का उपन्यास साबित होगा। लेकिन इसमें बहुत सारे सरलीकरण के ख़तरे भी सन्निहित हैं। दोनों वक्ताओं के गम्भीर वक्तव्यों में भी ऐसे कई सरलीकरण आये हैं। मुझे लगता है कि यह उपन्यास एक खास किस्म के पाठकों को ज़्यादा पसन्द आयेगा। लेकिन इसे एक कथा की तरह ही पढ़ा जाना चाहिए। वैसे उपन्यास के प्रारंभ में भी लिखा है ''उन सबके लिए, जो इस कथा में हैं मगर ठीक वैसे नहीं जैसे कि वे थे, क्योंकि अंत में यह एक कथा ही है''। इससे आसान निष्कर्षों पर नहीं पहुँचा जा सकता।

हस्तक्षेप के दौरान राग भोपाली के सम्पादक श्री शैलेन्द्र कुमार शैली ने कहा कि चीज़ों को वैज्ञानिक विचारधारात्मक दृष्टि से समझने व सुलझाने वाला लेखक ही चीज़ों को सही ढंग से कहने का साहस कर सकता है। चीज़ों को सही ढंग से कहने का साहस विचारधारा के पक्ष में ही जाता है।

उल्लेखनीय है कि लोकार्पण समारोह में बड़ी तादाद में कवि, कथाकार, संस्कृतिकर्मी व सामाजिक-राजनैतिक कार्यकर्ता मौजूद थे। श्रोताओं की संख्या की दृष्टि से, जो कि चार सौ से अधिक रही होगी, इस समारोह को उल्लेखनीय सफलता मिली। आभार 'पहले-पहल' के श्री महेन्द्र गगन ने माना।

संतोष चौबे के नये उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' का लोकार्पण

संजय सिंह राठौर

प्रख्यात कवि, कथाकार, उपन्यासकार एवं विज्ञानकर्मी श्री संतोष चौबे के नये उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' का लोकार्पण विगत दिनों 'अंतरंग' भारत भवन, भोपाल में सैकड़ों संस्कृतिकर्मियों, कवि, कथाकार व सामाजिक-राजनैतिक कार्यकर्ताओं की मौजूदगी में समारोहपूर्वक किया गया। लोकार्पण समारोह का आयोजन सातवें 'रचना समय' कार्यक्रम के तहत मध्यप्रदेश जनवादी लेखक संघ, पहले-पहल, सूत्रधार एवं रंगआधार द्वारा संयुक्त रूप से किया गया।

लोकार्पण के पश्चात् श्री संतोष चौबे ने उपन्यास के चुनिंदा अंशों का पाठ वरिष्ठ चित्रकार स्वर्गीय श्री किशोर उमरेकर को समर्पित करते हुए किया। अपने लेखकीय उद्बोधन में उन्होंने कहा कि उनका पहला उपन्यास 'राग केदार' सन् १९९० के आसपास आया था जिसे सामाजिक कार्यकर्ताओं के बीच बहुत चर्चा मिली थी। उसकी गूंज अभी तक बाक़ी है, और उस पर पिछले वर्ष ही नाटक खेला गया। उन्होंने आगे कहा कि सन् १९९५ के आसपास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' का प्रारम्भिक कथानक मेरे ज़ेहन में उपजा। कुछ नोट्स, कुछ कहानियाँ, कुछ किस्से धीरे-धीरे लिखे गये और दो तीन साल में मुझे ऐसा लगा कि ये एक तरह की ट्रायलॉजी का दूसरा भाग बनता जा रहा है। 'क्या पता कॉमरेड मोहन' एक तरह से 'राग केदार' का ही दूसरा हिस्सा है और निश्चित ही इसका एक तीसरा हिस्सा भी कभी न कभी ज़रूर लिखा जायेगा।

उन्होंने लेव तोलस्तोय के कथन को उल्लेखित करते हुए कहा कि ''कथानक उस खमीर की तरह होता है जिसके डालने पर सामग्री अपने आप व्यवस्थित हो जाती है।'' सन् १९९९-२००० के आसपास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' के कथानक की तलाश पूरी हो चुकी थी। करीब १०-१२ साल इस उपन्यास को लिखने में लगे हैं, और बीच की घटनाओं ने इसको कई नये मोड़ भी दिये हैं। उपन्यास के सात

अध्याय हैं, सातों अध्याय स्वतंत्र रूप से पढ़े जा सकते हैं, और अपने आप में एक स्टोरी भी हैं।

'क्या पता कॉमरेड मोहन' को लोकार्पित करते हुए म.प्र. जनवादी लेखक संघ के अध्यक्ष एवं उर्दू के सशक्त हस्ताक्षर प्रो. आफ़ाक़ अहमद ने कहा कि संतोष ने अपने इस उपन्यास में किरदार निगारी से जो रास्ता दिखाया है वो हमें उन बड़े नॉवेलों की याद दिलाता है, जिनकी वजह से न सिर्फ़ वो किरदार अमर हो गये बल्कि वे नॉवेल भी कालजयी कृति के रूप में ख्यातनाम हो गये। उन्होंने आगे कहा कि बहुत से इश्यू, वाक़ियात और मसलों को इस उपन्यास में मौज़ूँ बनाया गया है और उनके वसीले से संतोष ने अपनी बात बड़ी शिद्दत के साथ कही है। यह उपन्यास कार्तिक व उसके ख़्वाबों की बानगी है। कार्तिक ख़्वाबों को पूरा करना चाहता है। इन्हें पूरा करने के लिए कार्तिक जिस वैचारिक राह पर सफ़र शुरू करता है, उसमें लाज़िमी तौर पर उसे बेतहाशा मुश्किलों का सामना काफ़ी जद्दोजहद के साथ करना पड़ता है। इन सबके बावजूद पूरी वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ ख़्वाबों को बचाने व उन्हें पूरा करने की संघर्ष भरी राह पर उसका सफ़र बदस्तूर जारी रहता है। उन्होंने आगे कहा कि अगर ज़िन्दगी में हमसे हमारे ख़्वाब ही छीन लिये जायें तो फिर ज़िन्दगी के माने बचता ही क्या है। ये ख़्वाब ही तो हैं जो हमें बेहतर ज़िन्दगी जीने का रास्ता दिखाते हैं। ये ख़्वाब ही तो हैं जो हमें इस बात पर आमादा करते रहते हैं कि हम अच्छी ज़िन्दगी खुद ही न जियें, बल्कि अच्छी ज़िन्दगी हम तभी जी सकेंगे, जब हमारे समाज में खुशहाली होगी और उस खुशहाली के लिए हमें मुख़्तलिफ़ महाज़ों पर जंग करनी पड़ेगी और उन लोगों को बेनक़ाब करना पड़ेगा जो हमारी इस समाजी खुशहाली के रास्ते में अपने ज़ाती फ़ायदे के लिये, अपनी ज़ाती व़क़ात के लिए हमेशा आड़े आते रहते हैं।

इस अवसर पर वरिष्ठ कवि-कथाकार एवं आलोचक डॉ. रमेश दवे ने कहा कि 'क्या पता कॉमरेड मोहन' आज और अभी का उपन्यास है। यह आत्म अर्जित अनुभवों की एक विराट सत्यकथा है। यह एक ऐसे उन्मेषशील, उत्साही और जनसेवा के जज़्बे से जुड़े युवक कार्तिक की कथा है जो अपनी समग्र बौद्धिकता के साथ संगठन से जुड़ता है, उसमें पूरी निष्ठा, संकल्प और समर्पण से काम करता है, समाज-सेवा के नये-नये आयाम खोज कर अपनी भूमिका को सक्रिय, सकारात्मक और सार्थक करने की कोशिश करता है किन्तु अंत में संगठन के अन्तर्द्वन्द्व, अन्दर की राजनीति से टकरा-टकराकर निराश हो जाता है। इस उपन्यास की एक सबसे बड़ी खूबी यह है कि इसमें संतोष ने संगठन से अधिक सत्य के प्रति निष्ठा प्रकट की है। व्यक्ति, नेतृत्व या संगठन के कार्यकर्ताओं की चापलूसी के बजाए उनके दोहरे चरित्र को उद्‌घाटित किया है। जिस संगठन और वैज्ञानिक विचारधारा से जुड़कर कार्तिक ने सामाजिक बदलाव का काम किया, उसे एक गतिशील रूप दिया, उसमें चिन्तन की नई-नई धाराएँ पैदा की, वही संगठन कार्तिक के बौद्धिक प्रभाव को सहन

‘क्या पता कॉमरेड मोहन’ का लोकार्पण

प्रख्यात कवि, कथाकार, उपन्यासकार एवं विज्ञानकर्मी श्री संतोष चौबे के नये उपन्यास ‘क्या पता कॉमरेड मोहन’ का लोकार्पण विगत दिनों ‘अंतरंग’ भारत भवन, भोपाल में सैकड़ों संस्कृतिकर्मियों, कवि, कथाकार व सामाजिक-राजनैतिक कार्यकर्ताओं की मौजूदगी में समारोहपूर्वक किया गया। लोकार्पण समारोह का आयोजन सातवें ‘‘रचना समय’’ कार्यक्रम के तहत मध्यप्रदेश जनवादी लेखक संघ, पहले-पहल, सूत्रधार एवं रंगआधार द्वारा संयुक्त रूप से किया गया।

लोकार्पण समारोह का संचालन वरिष्ठ जनवादी लेखक आलोचक रामप्रकाश त्रिपाठी ने किया जबकि वरिष्ठ कवि कथाकार एवं आलोचक डॉ. रमेश दवे, जयप्रकाश आंदोलन के प्रखर कार्यकर्ता एवं वैकल्पिक विकास के पक्षधर वरिष्ठ शिक्षा शास्त्री श्याम बहादुर नम्र, तथा राग भोपाली के सम्पादक शैलेन्द्र कुमार शैली आदि ने उपन्यास ‘क्या पता कॉमरेड मोहन’ पर विशेष चर्चा की।

समारोह में बड़ी तादाद में कवि कथाकार संस्कृतिकर्मी व ढेर सारे श्रोता उपस्थित थे। आभार पहले-पहल के श्री महेन्द्र गगन ने माना।

नहीं कर पाया। संतोष इस उपन्यास में यद्यपि संगठन और व्यक्ति दोनों के ही छल, छद्म, थोथे दम्भ और षड्यंत्र को अनावृत्त करते हैं, बावजूद इसके अपनी विचारधारागत निष्ठा को नहीं त्यागते, अपनी प्रतिबद्धता से विमुख नहीं होते, बल्कि कोशिश करते हैं कि भले ही अंततः मोहन की आत्महत्या में संगठन की कार्यशैली और आपसी टकराहट का हाथ हो, लेकिन विचारधारा या विचार तब भी नष्ट नहीं होता क्योंकि ख़राब से ख़राब व्यक्ति व्यवस्था तो नष्ट कर सकते हैं, विचार को कभी नष्ट नहीं कर सकते। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि यह उपन्यास एक प्रकार से विचारधारा को उन तत्वों से बचाने का भी साहसिक प्रयास है जो इसका इस्तेमाल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ व प्रभाव के लिए करते हैं।

जयप्रकाश आंदोलन के प्रखर कार्यकर्ता एवं वैकल्पिक विकास के पक्षधर वरिष्ठ शिक्षा शास्त्री श्री श्याम बहादुर नम्र ने लोकार्पण समारोह को नई दिशा देते हुए कहा कि समाज के लिए कुछ कर गुज़रने व समाज को बदलने का जज़्बा लिए जो कार्यकर्ता सामाजिक-राजनैतिक आंदोलनों में शिरकत करना चाहते हैं उनके लिए

यह उपन्यास पाठ्य-पुस्तक की तरह है। यह सही व सच की राह तलाशने में 'लाईट हाउस' का काम करेगा। यह उपन्यास अपने विस्तारित फलक के साथ सच की तलाश करता, वामपंथी राजनीति की वर्तमान समस्याओं से जूझता नज़र आता है। टेक्स्ट के स्तर पर उपन्यास नये ढांचों का प्रयोग करता है और भाषा तथा प्रस्तुति के नये उपकरणों का इस्तेमाल करते हुए पाठकों से एक नये ज्ञानात्मक मानचित्र की मांग भी करता है।

समारोह का संचालन करते हुए वरिष्ठ जनवादी लेखक-आलोचक श्री रामप्रकाश त्रिपाठी ने कहा कि यह बहुत ही विवादास्पद किस्म का उपन्यास साबित होगा। लेकिन इसमें बहुत सारी सरलीकरण के ख़तरे भी सन्निहित हैं। दोनों वक्ताओं के गम्भीर वक्तव्यों में भी ऐसे कई सरलीकरण आये हैं। मुझे लगता है कि यह उपन्यास एक खास किस्म के पाठकों को ज़्यादा पसन्द आयेगा। लेकिन इसे एक कथा की तरह ही पढ़ा जाना चाहिए। वैसे उपन्यास के प्रारंभ में भी लिखा है- उन सबके लिए, जो इस कथा में हैं मगर ठीक वैसे नहीं जैसे कि वे थे, क्योंकि अंत में यह एक कथा ही है। इससे आसान निष्कर्षों पर नहीं पहुंचा जा सकता।

हस्तक्षेप के दौरान राग भोपाली के सम्पादक श्री शैलेन्द्र कुमार शैली ने कहा कि चीज़ों को वैज्ञानिक विचारधारात्मक दृष्टि से समझने व सुलझाने वाला लेखक ही चीज़ों को सही ढंग से कहने का साहस कर सकता है। चीज़ों को सही ढंग से कहने का साहस विचारधारा के पक्ष में ही जाता है।

उल्लेखनीय है कि लोकार्पण समारोह में बड़ी तादाद में कवि, कथाकार, संस्कृतिकर्मी व सामाजिक-राजनैतिक कार्यकर्ता मौजूद थे। श्रोताओं की संख्या की दृष्टि से, जो कि चार सौ से अधिक रही होगी, इस समारोह को उल्लेखनीय सफलता मिली। आभार 'पहले-पहल' के श्री महेन्द्र गगन ने माना।

द्वितीय संस्करण के विमोचन की रपट

क्या पता कॉमरेड मोहन बड़ी यात्रा के अंतर्विरोध की कथा

महेन्द्र गगन

विगत दिनों भोपाल में कवि कथाकार संतोष चौबे के उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' पर परिचर्चा का आयोजन भारत भवन में किया गया। आयोजक थे सरोकार एवं पहले पहल पाक्षिक। परिचर्चा के मुख्य अतिथि थे हंस के संपादक राजेन्द्र यादव। इस अवसर पर वर्तमान साहित्य के संपादक कुंवरपाल सिंह, नमिता सिंह, सुरेश पंडित, साधना अग्रवाल, अरुणेश शुक्ला और प्रहलाद अग्रवाल चर्चाकार के रूप में उपस्थित थे। मनोहर वर्मा, कमला प्रसाद ने समारोह की अध्यक्षता की। फिर एक बार भारत भवन का सभागार खचाखच भरा था। एक बड़ा श्रोता समाज इस साहित्यिक समारोह का गवाह था। समारोह के प्रथम भाग का संचालन बलराम गुमास्ता ने किया एवं द्वितीय भाग का संचालन रेखा कस्तवार ने संभाला। लेखक संतोष चौबे ने भी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। आयोजन के प्रारंभ में राजेन्द्र शर्मा ने आमंत्रित अतिथियों का विस्तार से परिचय देते हुए उनका स्वागत किया। संजय मेहता ने उपन्यास की पृष्ठभूमि पर संक्षेप में प्रकाश डाला। संतोष चौबे की पुस्तक पर चर्चा के बहाने वक्ताओं ने वामपंथी विचारधारा और संगठनों की स्थिति पर सारगर्भित विमर्श प्रस्तुत किया। इस अवसर पर उपन्यास की समीक्षाओं की पुस्तक एवं उपन्यास के दूसरे संस्करण का विमोचन भी किया गया।

नमिता सिंह ने अपने संबोधन में कहा कि इस उपन्यास पर बहुत अलग-अलग तरह की राय है। संगठन के काम को जिन्होंने जिंदगी का ध्येय बना लिया है वे लोग इस उपन्यास को ज्यादा बेहतर तरीके से समझ पाएंगे। जनांदोलनों में जो लोग हैं उनको इस उपन्यास में बहुत बारीकी से देखा गया है। यह उपन्यास पूरी नौजवान पीढ़ी का वक्तव्य है जिसके सामने समाज को बदलने, बेहतर समाज बनाने का सपना है। यह उपन्यास बहुत से नए सवाल खड़े करता है। यह राजनीति के सवाल खड़े करता है। यह विज्ञान, सामाजिक संगठनों, विभिन्न कला रूपों के सवाल खड़े करता है। यह विज्ञान, सामाजिक संगठनों, विभिन्न कला रूपों के सवाल खड़े करता

है। इसलिए यह मुझे महत्त्वपूर्ण लगता है। यह उपन्यास अन्याय के खिलाफ लड़ने की कोशिश है। कुछ लोगों को लगता है कि यह कामरेड के मोहभंग की कथा है मगर मुझे लगता है कि यह आगे के रास्ते की खोज है, एक तलाश है। यह एक बड़ी यात्रा के अंतर्विरोध की कथा है। यह पूरे संगठन के ढांचे की बात करता है। यह उसके छेद ढंकने की कोशिश नहीं उन्हें सामने लाकर उनके हल खोजने की कोशिश है।

अरुणेश शुक्ला ने कहा कि पाँच वर्षों के हिन्दी उपन्यास लेखन पर निगाह डाली जाए और उसमें उत्तर आधुनिक संबंधों को खोजा जाए तो सहज ही प्रश्न उठता है कि क्या वह हमारे समय के महाकाव्यात्मक चेतना में आए बदलाव को सामने लाता है। ऐसे उपन्यासों की श्रेणी में 'क्या पता कॉमरेड मोहन' और राजू शर्मा के 'हलफनामा' को रखा जा सकता है। यह उपन्यास विमर्शों का उपन्यास है। यह विज्ञान की पक्षधरता के विमर्श के सवाल खड़े करता है। यह नवउपनिवेशवाद के पनपने की ओर भी हमारा ध्यान दिलाता है। भारतीय मार्क्सवादियों के तमाम विमर्शों को खारिज करता है। यह उपन्यास इस बात की याद दिलाता है कि मार्क्सवाद को भारतीय संदर्भों में समझने के लिए हमें स्त्री विमर्श या दलित विमर्श के साथ उसे देखना होगा। यह उपन्यास एक साथ बहुत सारे विमर्श खड़े करता है जो नए तरह के नवजागरण के लिए जरूरी है। यह अपने समय को समझने की बड़ी कोशिश है। इस उपन्यास में महिला चरित्रों को विस्तृत रूप से नहीं रखा गया है यह इसकी कमजोरी है।

सुरेश पंडित ने कहा कि संतोष चौबे का साक्षरता आंदोलन, ज्ञान-विज्ञान से गहरा संबंध रहा है और उसी के भीतर से जो मोहभंग होता है वही इस उपन्यास में गहरे से आया है।

मनोहर वर्मा ने अपने अध्यक्षीय संबोधन में कहा कि हिन्दी में पहली बार इसी उपन्यास में संगठनों के भीतर की बातों को बाहर लाया गया है। मार्क्सवादी विचारधारा का न सिर्फ देश में बल्कि विदेशों में कई जगह असर है। उसे छोटे से शहर या प्रदेश में सीमित करके नहीं देखना चाहिए। व्यक्ति की लड़ाई व्यक्ति की होती है, विचार से कोई लड़ाई नहीं है। यह उपन्यास अपने संरचनात्मक रूप में नया है। राजनैतिक रूप से विचारसंपन्न व्यक्ति किस तरह के मनोविज्ञान से विकसित होता है और एक नई जमीन को तोड़ता है, इस कृति में इसकी झलक मिलती है। लिखने की शैली में नए ढंग के प्रयोग हैं। मार्क्सवादी विचारधारा का आधार निरन्तर क्यों खोता जा रहा है, यह छिपाने की बात नहीं बल्कि आत्मालोचन की बात है। इस दृष्टि से यह उपन्यास आत्मालोचन की कोशिश करता है। यह इसकी अच्छी बात है। यह पठनीय है क्योंकि इसमें रोचकता है। यह सामाजिक बदलाव के लिए वैकल्पिक रास्तों की तलाश भी है।

संतोष चौबे ने कहा कि इतने सारे समीक्षात्मक वक्तव्य के बाद मुझे नहीं लगता कि मुझे कुछ कहने को बचता है। उपन्यास पर समीक्षाओं में सभी कोणों से

रोशनी डाली गई है उन्होंने एक पाठक का पत्र पढ़कर सुनाया और उसकी पठनीयता की चर्चा की। उन्होंने कहा कि उत्तर भारत के संदर्भ में नव जागरण का बड़ा महत्व है। उन्होंने उपन्यास पर अपनी एक कविता सुनाई।

प्रहलाद अग्रवाल का कहना था कि विचार और कर्म में चीजें बहुत अलग-अलग हो जाती हैं। इस उपन्यास में अनेक ऐसे पात्र हैं जो हमारे आसपास दिखते हैं। कोई धीरे-धीरे कर्म से कम्युनिस्ट बनता है। जो दिखाई देते हैं वे नहीं हैं। इस उपन्यास में रिपोर्ताज देख सकते हैं। इसमें कामरेड मोहन के प्रेम को देखा जा सकता है।

साधना अग्रवाल की मान्यता थी कि इस उपन्यास का दूसरा संस्करण आना ही इस बात का सबूत है कि यह उपन्यास सफल हुआ है। कोई भी संगठन या पार्टी आत्मालोचन का अवसर नहीं देती। उपन्यास वामपंथी पार्टी के चरित्र पर सवाल खड़े करता है। उपन्यास की भाषा साफ-सुथरी और पठनीय है।

शैलेन्द्र शैली ने कहा कि आज भी समाज को बदलने के लिए मार्क्सवादी विचारधारा ही सक्षम है। एक संघर्ष पार्टी संगठन के पीछे भी होता है। यह दरअसल चीजों को ठीक करने की जद्दोजहद होती है। चौबेजी के इस उपन्यास में उनकी यही रचनात्मक कोशिश है। एक कम्युनिस्ट ही आत्मालोचना कर सकता है।

राजेन्द्र यादव ने कुछ अलग ही बात कही। उन्होंने कहा कि यह उपन्यास मुझे शीर्षक से ही उलझाता है। यह पूरी कहानी कहने के लिए, उस व्यक्ति को जो पार्टी में रहा हो और वामपंथी हो, अंदर की बात बाहर लाने के लिए बहुत साहस की जरूरत है। यदि वह बागी नहीं हो गया है। यह उपन्यास आत्म आलोचना का उपन्यास है। विकासशील समाज में नए विचार आते हैं तो द्वंद्व होते हैं। हमारा साहित्य इसी द्वंद्व का साहित्य है। पुराने विश्वास और मान्यता से संघर्ष सदा से है। बहस चीजों को लेकर, मान्यताओं को लेकर होती है यह एक अनिवार्य स्थिति है। व्यक्तिगत संकल्पनाएं जब विजन बनती हैं और जब उसके हाथ में सत्ता आती है तो यह समाज को उससे चलाना चाहती हैं। व्यक्ति जब अपने आप में केंद्र हो जाता है तब दिक्कत वहीं से शुरू होती है। विचारधाराएं अपने संघर्षों में जितनी डायनमिक होती हैं, संघर्ष समाप्त होते ही जड़ हो जाती हैं। मुझे इस उपन्यास के चरित्र कार्तिक में वह दिखलाई पड़ता है। पूरा उपन्यास एक मोहभंग का उपन्यास है। पार्टी किस तरह एक व्यक्ति के विजन को कुचलती है, यह उपन्यास उसका एक दस्तावेज है। यही उदय प्रकाश के उपन्यास 'और अन्त में प्रार्थना' में भी होता है। यह पाला बदलने वाला उपन्यास नहीं है। यह उपन्यास अपने भीतर खोज का उपन्यास है। कुछ बातें इस उपन्यास में कोई संगति नहीं बैठा पातीं। भोपाल गैस कांड अपने आपमें निन्दनीय है मगर यह उपन्यास में कहानी के किसी पात्र का आंतरिक हिस्सा नहीं बन पाता। हालांकि संतोष चौबे के पास एक बहुत रोमांटिक भाषा है जो बहुत सहज ही प्रकृति और महिला पात्रों को डिस्कवर करते हैं। वे हमारे समय के बड़े सवाल उठाते हैं। यह उपन्यास नए सिरे से हमें कुछ सवालों से रूबरू करवाता है।

कमला प्रसाद का कहना था कि कोई भी राजनैतिक दल आत्मालोचन नहीं करता। अकेले मार्क्सवादी विचार ही है जिसमें आत्मालोचन निरंतर चलता रहता है। मैं का विलयन हमारी भारतीय परम्परा की देन है। मार्क्सवाद ऐसा क्षितिज है जिसे बार-बार छूने का प्रयास चलता रहता है। जाहिर है कि वामपंथी आंदोलन में काफी रूढ़ियां आ गई हैं। उन्हें तोड़ने की कोशिशें जारी हैं। यह उपन्यास इनसाइडर की तरह इसी कोशिश को दर्शाता है। संगठन भी एक सत्ता है। सत्ता का संघर्ष अहर्निश संघर्ष है। वह व्यक्ति की सत्ता हो, संगठन की सत्ता हो या राज की सत्ता। उपन्यास में संकेतों में बहुत-सी बातें हैं। व्यक्ति और समाज के रिश्तों पर विचार किया गया है। यह उपन्यास स्वयं में एक प्रयोग है जिसमें पत्रों के जरिए आत्मसंघर्ष व्यक्त किया गया है।

अंत में आयोजक मुकेश वर्मा ने आमंत्रित अतिथियों का आभार माना।

ख़त

एक स्वागत योग्य उपन्यास

प्रिय संतोष भाई,

'क्या पता कॉमरेड मोहन' मिला। बिस्तर पर लेटे-लेटे पूरा पढ़ भी गया।

कई तरह के नए प्रयोग इस उपन्यास को महत्वपूर्ण बनाते हैं। परिच्छेदों की प्रस्तुति ही नई है। उपन्यास में इतिहास, समाजशास्त्र, दर्शन, विज्ञान, राजनीति, मनोविज्ञान जैसे ज्ञान के क्षेत्रों को जिस तरह आपने महत्त्व के साथ गूँथा है वह अन्यत्र इस दौर में देखने को नहीं मिलता। भोपाल का इतिहास इस रोचक ढंग से इस उपन्यास में आया है कि इतिहास से बिदकने वाले विद्यार्थी भी कायल हो जाएं। हाँ, साक्षरता के संदर्भ में नक्सल क्षेत्रों की स्थिति पर चलताऊ टिप्पणी अखरती है। साथ ही नक्सल चरित्रों को जिस ऐंगल से उपन्यास में आपने रखा है वह भी अधूरेपन का अहसास कराता है।

साक्षरता अभियान और यूनियन कार्बाइड कारखाने के संदर्भ में पार्टी का स्टैण्ड स्पष्ट था। आपने पार्टी के भीतर चलने वाले चिंतन द्वन्द्व को जिस बेबाकी के साथ उपन्यास में रखा है वह प्रशंसनीय है। पार्टी के भीतर आ जाने वाले संभावनाशील कॉमरेड के बढ़ते प्रभाव को किस तरह तीन भिन्न-भिन्न अदृश्य हथियारों से समाप्त किया जाता है यह पढ़कर उन्हें राहत महसूस होगी जो वाम-विचारधारा से प्रभावित होकर आनुषंगिक संगठनों में तो जी जान से काम करते रहे लेकिन संयोग या समझवश पार्टी कार्ड होल्डर नहीं बने।

उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा वह है जिसमें कार्तिक थक कर पुनः गौतम बुद्ध की छाया तलाशते हुए सांची जाता है। वहां केदार अपनी बातचीत में बताते हैं कि युगांतरकारी छः विचारों के प्रणेता भी मिलकर मनुष्य को समझने की दृष्टि नहीं दे पाते। जीवित मनुष्य पदार्थ नहीं होता। उसे समझ पाना बहुत कठिन है। सतही तौर पर भिन्न-भिन्न वैचारिक साधनों के सहारे मनुष्य को जानने की कोशिश करते हुए हम हाथी के भिन्न-भिन्न अंगों को पकड़कर हाथी को जान लेने के मुगालते में खुश अंधों की तरह हो जाते हैं। मार्क्स तथा फ्रायड के अतिरिक्त इवाल्यूशन तथा प्रतिस्पर्धा के सिद्धांत ने युग को झकझोरा। साथ ही सापेक्षता का सिद्धांत तथा पाजिटिविज्म का सिद्धांत भी आलोक पुंज की तरह हमारे बीच आया। लेकिन उपरोक्त छहों सिद्धांतकार मिलकर भी मनुष्य को समझने के लिए समग्र दृष्टि नहीं

दे पाते। सभी समाज तथा परिस्थितियों के विश्लेषण का दम भरते हैं मगर पूर्ण विश्लेषित नहीं कर पाते।

आपने ठीक ही लिखा है कि जब हम उपरोक्त औज़ारों के बावजूद दुनिया को नहीं समझ पाते तब एक बौद्धिक रीतेपन के शिकार हो जाते हैं।

उपन्यास में आपने ये कहने का प्रयास किया है कि इन सबके बावजूद एक अलग टूल बॉक्स ज़रूरी है। जिसमें संस्कार, पारिवारिक स्थिति, शिक्षा-दीक्षा, रुचि आदि की बारीकी की अहमियत हो। तब कहीं मनुष्य कुछ-कुछ समझ में आ सकेगा। ठस सिद्धांतों के सहारे तो हम उसे समझने की कोशिश में स्वयं हारे से महसूस करेंगे।

अपनी तरह के इस प्रयोगधर्मी उपन्यास का स्वागत होगा यह उम्मीद है।

डॉ. परदेशीराम वर्मा, भिलाई

इस दौर का ज़रूरी उपन्यास

प्रिय संतोष,

व्यक्तिवादी अवसरवादिता मानवीय कमज़ोरियों और गैर राजनैतिक समझ का रेशा-रेशा खोलता चलता है तुम्हारा यह उपन्यास। इस उपन्यास का केन्द्रीय पात्र कार्तिक है जो अन्य पात्रों से अधिक गुणी, मानवीय, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक समझ से लैस एक ऐसा नौजवान है जो सोचता है ''विज्ञान का कितना बड़ा काम उन लोगों के लिए, उनके साथ चल कर, किया जा सकता था। एक ओर पारंपरिक ज्ञान को सहेजने की ज़रूरत थी और दूसरी ओर नयी तकनीकों को उन तक पहुंचाने की आवश्यकता थी। वह अपना पूरा जीवन इस काम में लगा सकता था।''

जन विज्ञान आंदोलन से प्रारंभ कर कार्तिक साक्षरता मिशन तक पहुंचता है जिसके राष्ट्रीय सचिव की राय है, ''हमें सोचना है कि कैसे विज्ञान आंदोलन का विस्तार साक्षरता मिशन के जरिए हो सकता है। कैसे देश के साठ प्रतिशत लोग जो अभी भी निरक्षर हैं और ज्ञान विज्ञान की दुनिया से दूर हैं वहाँ तक पहुंच सकते हैं। कैसे विज्ञान तक पहुँचने के लिए भी भाषा की आवश्यकता होगी और साक्षरता वहाँ भी काम आएगी। कैसे साक्षरता का काम करते हुए संगठन का निर्माण भी किया जा सकता है।''

जनविज्ञान आंदोलन से लेकर साक्षरता मिशन तक के कार्यक्रमों में सरफराज़ और लक्ष्मणसिंह जैसे पार्टी कार्यकर्ता ऐसा कोई भी अवसर नहीं चूकते जब कार्तिक को किसी न किसी तरह परेशानी में डाला जा सके और पार्टी की नज़र में अविश्वसनीय सिद्ध किया जा सके।

शैक्षणिक एवं बौद्धिक रूप से सरफराज़ और लक्ष्मणसिंह, कार्तिक के समक्ष हमेशा अपने आपको छोटा महसूस करते हैं। यह हीनता बोध ही उन दोनों को ओछी हरकतों के लिए बाध्य करता है। कार्तिक की निजी दिलचस्पी और प्रयासों से तैयार

किए गए प्रादेशिक नेटवर्क से पार्टी प्रभावित तो है लेकिन किसी भी कीमत पर वह कार्तिक को न तो उसका क्रेडिट देना चाहती है और न ही उसके योग्य स्थान। इन कोशिशों में पार्टी सचिव मोहन का वरदहस्त सरफराज़ और लक्ष्मणसिंह को हासिल है। सरफराज़ और लक्ष्मणसिंह कार्तिक के अत्यंत निकट जाकर उससे भावनात्मक मित्रता स्थापित करते हैं और जब जब मौका मिलता है उसके खिलाफ साज़िश का कोई अवसर नहीं चूकते।

उपन्यास गैस त्रासदी से प्रारंभ होता है। गैस त्रासदी को लेकर यूनियन कार्बाइड के खिलाफ एकजुट होते जनसंगठनों के मध्य विभाजित मानसिकता, सरकारी दखल और स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका की पृष्ठभूमि में वयस्क होता कार्तिक का चरित्र, जनविज्ञान आंदोलन के केंद्रीय पात्र के रूप में विकसित होता है। साक्षरता मिशन तक की यात्रा में कार्तिक एक परिपक्व आंदोलनकारी के रूप में सामने आता है।

यह उपन्यास अपने कथ्य और शैली में मजबूत है। रति के दीर्घकालिक रतिप्रसंग उपन्यास को कमज़ोर बनाते हैं। जब उपन्यास में पठनीयता का तत्त्व मौजूद हो तो इन कमज़ोरियों से बचा जा सकता था। इसके बावजूद यह इस दौर का ज़रूरी उपन्यास है। तुम्हें बधाई!

देवकांत शुक्ल, पिलानी

कल्पनाशील पर यथार्थवादी

प्रिय संतोष भाई,

'क्या पता कॉमरेड मोहन', यात्रा व अन्य व्यस्तताओं के बावजूद भी, पूरा पढ़ डाला। बहुत दिनों के बाद, एक ऐसा उपन्यास पढ़ने मिला, जो कल्पनाशीलता से सँवारा तो गया है, परन्तु यथार्थ की गहरी जड़ों पर टिका है।

इंसान, कभी पदार्थ नहीं हो सकता न कभी पदार्थ बनाया जा सकता है। जो भी विचारधारा या संगठन, इंसान को पदार्थ समझकर व्यवहार करेगी, वह या तो स्वतः जड़ हो जायेगी या फिर, वह इंसान मृतप्राय हो जायेगा, जिस पर उसका प्रयोग होगा। एक प्रकार से यह दोनों का ही अंत होगा।

डॉ. राममनोहर लोहिया ने अपनी पुस्तक ''इकॉनॉमिक्स आफ्टर मार्क्स'' में समता व मानवीय स्वतंत्रता के मजबूत खंभों पर भारतीय समाजवाद की कल्पना को टिकाया था। गाँधी व लोहिया के विचार से मानव एक स्वतंत्र अस्तित्व, राग, सुख-दुख की अनुभूतियों का पिंड है, जिसके विचार पटल को बदलना ही परिवर्तन व क्रान्ति है। आर्थिक व मानसिक दोनों परिवर्तन ज़रूरी हैं। उपन्यास के नाम 'क्या पता कॉमरेड मोहन' में प्रश्नवाचक चिह्न नहीं है। क्या इसे यूँ समझूँ कि 'सब पता है कॉमरेड मोहन'!

अगर कुछ एक ठिकानों पर, आपने रति प्रसंगों का सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन,

श्री राजेंद्र यादव के तरीके से नहीं भी किया होता तब भी उपन्यास इतना ही आकर्षक व पठनीय होता और शायद कुछ ज़्यादा ही!

सत्य व दर्शन, सच की खोज व व्यावहारिक कठोरताओं की इससे बेहतर प्रस्तुति कम ही मिलती है। एक इंसान को ज़िंदा रखने व उसके मानवीय अस्तित्व को बचाने के इस प्रयास पर हार्दिक बधाई। कार्तिक की भावी योजना व स्वतंत्र मानव संगठन की कल्पना जानने की इच्छा शेष है।

रघु ठाकुर, भोपाल

नया पाठ

प्रिय भाई,

पिछले दिनों एक लायब्रेरी से आपका उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' लाया और ताज्जुब की बात, इसे पढ़ भी पूरा गया। लगा कि यह बात आपको बताऊं और आपकी लेखकीय प्रतिभा से दो-चार बातें करूं।

उपन्यास मुझे उन बिंदुओं पर अच्छा लगा जहाँ कि अपने कथ्य में यह उपन्यास के जड़-मूल्यों की परंपरा से अलग हटा है। मसलन-विज्ञान और जीवन का संपर्क-संबंध विमर्श। भोपाल का नागर इतिहास तथा गैस त्रासदी का तांडव, इनके शब्द चित्र अच्छे लगे। कार्तिक की तर्क लालायित पद्धति भी कथा को जहां-तहां लुभाती है तथा नाटकों या नाट्यस्थितियों से जहाँ-जहाँ कोलाज़ स्थापित किए गए हैं वे भी पाठकीय आस्वाद को नई ज़ुबान देते हैं। सचमुच हिन्दी में आज ऐसे उपन्यासों की दरकार है जो समकालीन पाठक के लिए नए पाठ जुटा सकें। आपका यह उपन्यास इस ज़रूरत को काफी हद तक निश्चित ही पूरा करता प्रतीत होता है। मैं आपको बधाई लिखित में दे रहा हूँ।

राजकुमार गौतम, नई दिल्ली

बेहद पावरफुल

प्रिय दोस्त,

मेरे श्रद्धेय 'हेडसर' के सुयोग्य सटीक पुत्र तुम्हारा उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' बेहद पावरफुल है। एकदम कसी हुई भाषा, जैसे मदनमोहन के कम्पोजिशन्स मजाल क्या एक मात्रा का बोझ भी हवा में पड़ जाये। एकदम चटक विज़ुवल्स, जैसे उपन्यास के बजाय सिने-स्क्रिप्ट पढ़ रहे हों। संवाद, संक्षिप्त, धारदार और इंटेलीजेंट। उनमें पोएटिक हथरिलसनेस और चुस्त तार्किकता दोनों - जो तुम्हारा ही अपना ब्रेन और दिल दर्शाती है। भोपाल की गैस त्रासदी का जो वर्णन है, वह हृदयविदारक है। पाठक में फिर से वही घुटन पैदा करता है, जैसे एक एक सांस को तरसता वह भी

बचने को भागा जा रहा है। मैं नहीं समझता कि भोपाल गैस कांड का इतना हाहाकारी, इंटेंस, ग्राफिक वर्णन अन्यत्र पढ़ने को मिलेगा। यह संवेदनशील पिता लेखक के जीन्स से मिली हुई और पिछले 'विकासों' से अर्जित की जाती हुई तुम्हारी अपनी संवेदनशीलता है। पूरे उपन्यास में कार्तिक के रूप में एक ऐसा निर्मल सदाशयी और लोकोत्तर मूल्यों की तलाश करता हुआ युवक मिलता है जो नचिकेता और नेपोलियन एक साथ है। मगर तुम कभी कम्युनिस्ट पार्टी में थे या कठमुल्ले की तरह मार्क्स को मानते थे तो ऐसा मोह भंग होना था, और इसलिए होना था कि जीवन इतना व्यापक है, गतिशील है, वैविध्यपूर्ण है और अस्तित्व या (हमारी) निजात्मा के रूप में इतना अमूर्त है कि वह Logical Formalism में हमारे अपने लिए/हमारी अपनी Language में/अरेस्ट, किया जा सकता है, पर किसी भी शब्द, विरोधी शब्द, या दृश्यांकनों में बाँधा नहीं जा सकता। हम सब 'मैं' से शुरु होते हैं और यह 'मैं' सदा भाषा के बाहर हैं, Void है, Nothingness है, अमूर्त है। अतः भाषा के अलावा हमारे हाथ कुछ नहीं लगता और भाषा खुद को अंत तक Contradict करती हुई चली जाती है क्योंकि भाषा बनाम उससे constituted रोजमर्रा का मैं.. कभी 'शून्यता' को पकड़ नहीं पाता और हम इससे बिछुड़े हुए बने रहते हैं। क्या पता कॉमरेड कार्तिक ने पहचाना या नहीं पहचाना कि सारे दार्शनिक प्रश्न जो तथाकथित परमात्मा, आत्मा, या निश्चिंतता (certainty) से मुताल्लिक हैं, असल में भाषा विरुद्ध शून्य या शून्य विरुद्ध भाषा के एकमात्र प्रश्न में निहित हैं। खोज देखो, तुम्हारी सारी लड़ाई भाषा से है, क्योंकि असल तनाव खुद को न पा पाना है। भाषा ही पहली और आखिरी महक है। कल कार्तिक इसी को तोड़ेगा और आचार्य शंकर बनकर चुप हो जायेगा। चुप हो जाना, दिव्य निकम्मा हो जाना, उच्चतम कर्मठता है। वह भी जान लेंगे।

अजातशत्रु, उल्हास नगर

तीसरे उपन्यास की प्रतीक्षा

प्रिय भाई संतोष चौबेजी,

आपके दोनों उपन्यास 'राग केदार' और 'क्या पता कॉमरेड मोहन' मैंने पढ़ लिये हैं। रोचक हैं और विचारोत्तेजक भी। पढ़ते हुए लगता रहा कि कई पात्रों और घटनाओं से मेरा परिचय है। लेकिन इस बात को परे हटाकर मैंने दोनों उपन्यासों को उपन्यासों के रूप में ही पढ़ा और मुझे लगा कि कथा की दृष्टि से 'राग केदार' बेहतर है। 'क्या पता कामरेड मोहन' में कथा कम है। अलग-अलग एपीसोड हैं, जो मानो रंग-बिरंगे कपड़ों की तरह कार्तिक नामक तार पर लटके हुए हैं, जबकि मेरे विचार से उन्हें कार्य-कारण-श्रृंखलाओं वाले एक मजबूत कथा-सूत्र में पिरोये गये फूलों या मनकों की तरह होना चाहिए था, जिनसे माला बनती है। शायद इसी कारण इसमें

प्रेम, सेक्स, इतिहास, राजनीति, विज्ञान आदि परस्पर घुले मिले रूप में नहीं, बल्कि अलग-अलग नज़र आते हैं।

कम्युनिस्ट पार्टियों के साथ काम करने वाले लेखकों, कलाकारों, वैज्ञानिकों आदि के अनुभवजन्य असंतोषों की अभिव्यक्ति पार्टियों की रीति-नीति की आलोचना के साथ- इसमें अच्छी तरह हुई है, लेकिन मुझे लगा कि इसके साथ-साथ उस 'एन.जी.ओ. कल्चर' की आलोचना भी होनी चाहिए थी, जो इस उपन्यास में दिखायी तो देती है, लेकिन आलोचना का विषय नहीं बनता।

खैर, फिर भी दोनों उपन्यास मुझे अच्छे लगे। आपने पत्र में लिखा है कि यह एक 'त्रयी' है। अतः तीसरे की उत्सुकता से प्रतीक्षा करूंगा। मेरी हार्दिक शुभकामनाएं कि तीसरा उपन्यास इन दोनों से बेहतर हो।

रमेश उपाध्याय, नई दिल्ली

राजनीतिक परिवेश का सधा उपन्यास

श्री संतोष चौबेजी,

नमस्कार,

आपका उपन्यास 'क्या पता कॉमरेड मोहन' मैंने पढ़ा था। तब भी सोचा था आपको पत्र लिखने के लिए। फिर किन्हीं कारणों से सम्भव नहीं हो पाया।

राजनीतिक परिवेश को लेकर हिन्दी में इधर कम ही उपन्यास आए हैं। खासकर ऐसे जिनमें समकालीन राजनीति को इस तरह धैर्य से देखने, समझने और औपन्यासिक रुपान्तरण का कौशल हो। उपन्यास अपनी वर्णनात्मकता में इतना जरूरी स्पेस छोड़ता है जहाँ सामाजिक और राजनैतिक अंतर्सम्बन्धों की पड़ताल हो सके। ऐसी पड़ताल जो उपन्यास का सहज हिस्सा लगे, कोई चमत्कार से विमोहित नतीजा प्रकट करने वाली रिपोर्ट नहीं। इससे पाठकीय रुचि टूटती नहीं है। उपन्यास अपनी निरंतरता में ऐसे दुरूहगृह पर पहुँचता है, जहाँ राजनीति व सत्ता के वह भीषण द्वार हैं, जिनमें महत्वाकांक्षाएँ और लालसाएँ ही नहीं उनकी अंतिम वीभत्स परिणति भी अपने यथार्थ रूप में मौजूद है। यही वह महत्त्वपूर्ण तनाव रेखा है, जहाँ जरा-सी असावधानी भी नायक की सीमाओं को उपन्यास की सीमाओं में तब्दील कर देती। इसे साध लेने का कौशल ही महत्वपूर्ण है। इस तरह के उपन्यास को वामपंथी दलों को आक्षेप की तरह नहीं, बल्कि एक चुनौती की तरह स्वीकार करना चाहिए, जो व्यापक विवाद-संवाद के लिए आधारभूमि है। उपन्यास में विचार की विफलता को प्रमाणित करने की कोशिश नहीं है, ऐसा होता तो उपन्यास खुद एक भ्रम में भटक जाता लेकिन पार्टी की नीतियों के भटकाव और गैरलोकतांत्रिक संचालन पर बहुत तार्किक सवाल खड़े किए हैं। देर से सही पर बधाई स्वीकारें...

भालचन्द्र जोशी, खरगौन

रोचक और प्रवाहपूर्ण

आदरणीय संतोष जी,

नमस्कार

आपके भेजे हुए दोनों उपन्यास मिले। आभारी हूँ। 'क्या पता कामरेड मोहन' को मैं पढ़ गया। खासा रोचक और प्रवाहपूर्ण है। भोपाल गैस त्रासदी वाला हिस्सा खास तौर पर ज्ञानवर्धक लगा। आपने अपने पत्र में किसी गोष्ठी में हुई उत्तेजक गहमागहमी का ज़िक्र किया है। मेरा खयाल है कि इसकी वजह कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यशैली पर आपकी टिप्पणियाँ रही होंगी। जल्द ही 'राग केदार' को भी पढूँगा।

कृष्ण मोहन, इलाहाबाद

जीवन के अनुभवों पर आश्रित

आदरणीय चौबेजी,

सादर अभिवादन!

'इंडिया टुडे' के 16 मई 2007 के अंक में पृष्ठ 54 पर साधना अग्रवाल की आपकी पुस्तक (उपन्यास) 'क्या पता कॉमरेड मोहन' की समीक्षा पढ़ी। बधाई! उपन्यास का जो विवरण दिया गया है, वह आपके जीवन के अनुभवों पर आश्रित है। आपके परिश्रमी विकट जीवन का मैं साक्षी हूँ। आपका उत्कर्ष प्रेरणास्पद है, विशेषतः उनके लिए जो निराश हो जाते हैं। आपकी लेखनी और भी प्रांजल हो। ऐसी मेरी शुभकामना है।

रवीन्द्रनाथ शुक्ल, भोपाल

संभवतः अकेली प्रस्तुति

प्रिय भाई,

'क्या पता कॉमरेड मोहन' की परिचर्चा पुस्तिका, हिन्दी में यह अपनी तरह की संभवतः पहली और अकेली प्रस्तुति है। हंस के फरवरी अंक में सम्पादकीय में श्री राजेन्द्र यादव जी ने कुछ लिखा है। भारत में वामपंथ को समझने व आगे बढ़ाने का सृजनात्मक रास्ता ऐसे ही निकलेगा। स्वयंप्रकाश की अनुपस्थिति खलने वाली है। जबकि इस संदर्भ में इनका जिक्र भी गायब है? सानंद होंगे।

मूलचन्द गौतम, मुरादाबाद